RNI/MPHIN/2013/61414

ज्ञान-विज्ञान विमुक्तये

UGC Care Listed

ISSN 2278-0327
Peer Reviewed
Refereed Journal
Impact Factor - 6.253

ज्योतिर्वेद - प्रस्थानम्

संस्कृत वाङ्मय की शोधपत्रिका - संस्कृत छात्रों की मार्गदर्शिका

नवम वर्ष, षष्ठ अंक जनवरी-फरवरी 2021

Bharatiya Jyotisham
पद्धति चाकपत् जोयनम्
भारतीय ज्योतिषम्

स्वच्छ भारत
एक कदम स्वच्छता की ओर

₹ 30

दो गज की दूरी - मास्क है जरूरी

विषय-सूची

क्र.	लेख विषय	लेखक	पृ.सं.
1.	ग्रह जनित रोग एवं निवारण	डॉ. बह्मानन्द मिश्रा	03
2.	योग और समग्र स्वास्थ्य	डॉ. साधना दौनेरिया	08
3.	माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के मानसिक स्वास्थ्य पर ऑनलाइन....	डॉ. पल्लवी पाण्डे, डॉ. राकेश साहू	12
4.	भगवान् विष्णु के अवतारों का एक विश्लेषण	डॉ. अक्षय कुमार मिश्र	16
5.	मीमांसा परम्परा में 'विध्यर्थ'	डॉ. नीरजा कुमारी	25
6.	'राष्ट्रिय शिक्षा नीति 2020' में भारतीय भाषाओं के उन्नयन हेतु प्रावधान	डॉ. ज्ञानेन्द्र कुमार	28
7.	प्रतीकोपासना विमर्श	डॉ. मेघराज मीणा	32
8.	राष्ट्रीयता की भावना के विकास में हिन्दी साहित्य का योगदान	डॉ. संजय कुमार	37
9.	विभिन्न देशों में हिन्दी साहित्यकार और उनका साहित्य	डॉ. सुरेश कुमार बैरागी	43
10.	भाषा द्वारा मानव-विकास के उच्चतम आयाम-मोक्ष की प्राप्ति	डॉ. ममता स्नेही	47
11.	वर्तमान समाज की चुनौतियाँ एवं महर्षि पतंजलिकृत योगसूत्र	डॉ. मलिक राजेन्द्र प्रताप	51
12.	पर्यावरण समस्या और हमारा नैतिक दायित्व	डॉ. हरेती लाल मीना	54
13.	कविकुलगुरु कालिदास की सारस्वतश्री:का मकरन्द.....	डॉ. कृपाशंकर शर्मा	57
14.	आधुनिक जीवन में क्रियायोग का महत्व	आरती चौधरी	61
15.	श्रीगुरुग्रन्थसाहिब में संस्कृतमूलक शब्दों का प्रयोग	डॉ. दलबीर सिंह चाहल	64
16.	वैदिक प्रार्थनायें : आर्यावर्त के मानवीय-जीवन-प्रबन्धन के परिप्रेक्ष्य में	डॉ. सलोनी	67
17.	भारतीय संस्कृति में आश्रम व्यवस्था	यशोदा सिंह	70
18.	समसमायिक परिप्रेक्ष्य में कौटिलीय अर्थशास्त्र की समीचीनता	डॉ. सुमन कुमारी	74
19.	भारतीय चिन्तन परम्परा में ज्ञान का स्वरूप	प्रवीण कुमार	77
20.	पृथिवीसूक्त में प्रतिपादित पृथिवी - संरक्षण एवं प्रार्थनाएँ	डॉ. सुशीला कुमारी	81
21.	बालमुकुंद गुप्त की हिन्दी पत्रकारिता	डॉ. अमित कुमार पाण्डेय, डॉ. संजय कुमार	86
22.	न्याय-वैशेषिकदर्शन में समाधि विचार विवेचन	किशोर कुमार	89
23.	भारतीय शास्त्रपरम्परा और पशुपालन	प्रो.नीरज शर्मा	92
24.	कालिदास का प्रजा संरक्षण एवं प्रकृति प्रेम	डॉ. मोहिनी अरोरा	96
25.	भीष्मस्तवराज वैदिक एकेश्वरवाद का प्रबल समर्थक	डॉ. गटुलाल पाटीदार, मनोहर लाल सुथार	100
26.	कोविड-19 के पश्चात् भविष्यगामी योजनाएं एवं कौशल विकास	डॉ. अर्चना चौहान	105
27.	'छल' पदार्थ विवेचन	विद्याप्रकाश सिंह	108
28.	प्राचीन व मध्यकाल की शिक्षा पर ज्योतिष का प्रभाव	डॉ. मंजू सिंह	111
29.	योग का पर्यावरण से सम्बन्ध एक विवेचनात्मक अध्ययन	डॉ रजनी नौटियाल	113
30.	रचनात्मक आकलन का स्वरूप	डॉ. अनूप कुमार पाण्डेय	116
31.	मूल्याङ्कन के सन्दर्भ में कक्षा शिक्षण की समीक्षा	डॉ. करुणाकर मिश्र	118
32.	वैशेषिकसूत्रोपस्कार के सन्दर्भ में 'आत्मवाद' की समीक्षा	ओम प्रकाश झा	122
33.	सट्टक परम्परा में कर्पूरमंजरी का महत्व	वरुण मिश्र	127
34.	वास्तुकला में द्वार निर्णय का शास्त्रीय स्वरूप	सीताकान्त कर	129
35.	महर्षि दयानन्द का शिक्षा दर्शन	अदिति	133
36.	'उत्तररामचरिते भवभूतिविशिष्यते' उक्ति की समीक्षा	नीतू	136
37.	माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के मानसिक स्वास्थ्य एवं स्व-नियंत्रण....	प्रदीप सिंह थापली, डॉ. विभा लक्ष्मी	139
38.	शांखायण-ब्राह्मण में दर्शपौर्णमास-यज्ञ	कृष्णकान्त सरकार	145
39.	वर्तमान सन्दर्भ में ज्योतिष की उपयोगिता	नंदिनी चौबे	149
40.	प्राकृतिक आपदा एवं ज्योतिषशास्त्र	तपति तपन्विता महापात्र	151
41.	आचार्य अभिराजराजेंद्र मिश्र प्रणीत प्रशान्तराघव नाटक में.....	घनश्याम मीणा	153
42.	श्रीहनुमच्चरित्रवाटिका महाकाव्य में प्रकृति चित्रण और पर्यावरण शिक्षा	दयाशङ्कर शर्मा	155

ISSN 2278 - 0327

RNI/MPHIN/2013/61414
UGC Care Listed
Impact Factor - 6.253

Bi - Monthly
Peer Reviewed
Refereed Journal

Bharatiya Jyotisham
पर्येति भावयन् लोकान्

ज्योतिर्वेद-प्रस्थानम्

संस्कृत वाङ्मय की शोधपत्रिका-संस्कृत छात्रों की मार्गदर्शिका

प्रधान सम्पादक

डॉ. पी.वी.बी. सुब्रह्मण्यम्

कार्यकारी सम्पादक

अविनाश उपाध्याय

सम्पादक

रोहित पचौरी

डॉ. रविन्द्र प्रसाद उनियाल

ज्ञान सहयोग

पिडपर्ति पूर्णय्या विज्ञान ट्रष्ट चैन्नै

Jyotirveda-Prasthanam is printed & published by
Smt P V N B Srilakshmi
on behalf of
Bharatiya jyotisham
L-108, Sant Asharam Nagar Phase - 3, Laharpur, Bhopal - 462043
Editor - ROHIT PACHORI*

ISSN 2278 - 0327

पुनरीक्षण समिति

प्रो. विद्यानन्द झा
पूर्वप्राचार्य-केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय
भोपाल परिसर, भोपाल

प्रो. क्षेत्रवासी पण्डा
अध्यक्ष-तुलनात्मक भाषा एवं संस्कृति विभाग
बरकतउल्ला विश्वविद्यालय, भोपाल

प्रो. भारतभूषण मिश्र
निदेशक- केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय
क.जे.सौमेया विद्यापीठ, मुम्बई

प्रो. हंसधर झा
अध्यक्ष - ज्योतिषविभाग
केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, भोपाल परिसर

डॉ. सनन्दन कुमार त्रिपाठी
अध्यक्ष - साहित्यविभाग
केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, भोपाल परिसर

डॉ. अशोक थपलियाल
अध्यक्ष - वास्तुविभाग
श्रीलालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत वि.वि.,नई दिल्ली

प्रकाशक

भारतीय ज्योतिषम्

एल - 108, **संत आशाराम नगर,**
फेज - 3, **लहारपुर,**
भोपाल - 462043, **मध्यप्रदेश**
Web : www.bharatiyajyotisham.com
E.mail : bharatiyajyotisham@gmail.com
Mob : 9752529724, 9039804102

सम्पादकीय

जीवन के किसी न किसी मोड़ पर प्रत्येक व्यक्ति स्वयं से एक प्रश्न करता है। क्या जीवन केवल भोजन करने सोने तथा घूमने तक सीमित है? भारत के प्राचीन दर्शनों का उद्गम मनीषयों के द्वारा इन प्रश्नों के उत्तरान्वेषण ही लगता है। विज्ञान के विकास क्रम में यहीं प्रश्न विश्व के दुरूह्य तथा पहुँच से बाहर के स्थानों के अन्वेषण के सन्दर्भ में सामने आते है। आखिर मानव का चरम लक्ष्य क्या है? वहां तक पहुंचना कैसे सम्भव है?

वैदिक वाङ्मय की संरचना उद्देश्य को समझने तथा उसे प्राप्त करने की दृष्टि से ही हुआ है, किन्तु कालक्रम में सभी इस बिन्दु पर अटक गये है कि वैदिक वाङ्मय का कौन सा अंग व विषय श्रेष्ठ है। मोक्ष की चर्चा ज्योतिषी नहीं कर सकता है और शब्दोत्पत्ति रसज्ञ का कार्य नहीं। कर्म तथा उसका विपाक चिन्तन दर्शन का विषय है तथा विज्ञान का नाम ले तो सनातन समाप्त हो जायेगा। *यत्रेदं विश्वं भवत्येकनीडम्* की दृष्टि से दूर चलकर अब वैदिक वाङ्मय का अध्येता अनेक नीड वाला हो गया। संस्कृत वाङ्मय का कोई विषय दूसरे से असम्बद्ध नहीं हो सकता है।

किन्तु स्थिति बदल गई। चिन्तन पद्धति व शिक्षण प्रणाली केवल शिक्षाशास्त्र का विषय हो गया। पंचांग निर्माता शिक्षाशास्त्र के अध्ययन के दौरान निर्माण ज्ञान अध्ययन से सम्बन्धित नया कोई मार्ग जान पाता है यह नहीं लगता है। यदि उस को जानने का उत्साह है तो भी संस्कृत शिक्षाशास्त्री उसे किसी आचार्य के उद्बोधों के सहारे मार्ग निर्माण में सहयोग करने के स्थान में आधुनिक शिक्षाविद् तथा मनोविज्ञानियों के बीच उतार देता है। जिनको पंचांग निर्माण व उसके प्रयोग से सम्बन्धित कोई आवश्यकता महसूस ही नहीं होती है। भारत को यदि वैदिक विद्याओं के क्षेत्र में विश्वगुरु बनना है तो उसे वर्तमान दिशाहीन चिन्तन से विमुक्ति पाकर उद्देश्य केंद्रित संघटित सार्वभौमिक सारगर्भित संस्कृत वाङ्मय प्रणाली की ओर अपना कदम बढ़ाना होगा।

लेखक तथा चिन्तक को अपनी मैलिक रचनाओं में अनेकत्व से एकत्व की ओर अग्रसर होने वाली भावनाओं के अनुरूप पत्र निर्माण करने की चेष्टा करना है। सांगोपांग वैदिक ज्ञान ही उद्देश्य की प्राप्ति में सहयोग कर सकता है। उन अंग और उपांगों को स्वतन्त्र विषय बनाने की चेष्टा बहुत दूरगामी अनर्थों को जन्म दे सकता है। ज्योतिर्वेद उसी समष्टि भावना का अनुपालन करता है।

पत्रिका से सम्बन्धित सभी पद अवैतनिक है। पत्रिका में प्रकाशित लेखों से प्रकाशक को सहमत होना अनिवार्य नहीं है। किसी भी प्रकार के विवाद का समाधान भोपाल न्यायालय से ही स्वीकार्य है। शोधलेख आमन्त्रित है। पूर्वप्रकाशित लेख अनुमत नहीं है। लेख से सम्बन्धित विवादों का दायित्व लेखक का ही होगा। लेख को स्वीकार व अस्वीकार करने का पूर्ण अधिकार प्रकाशक को है।

ISSN 2278 - 0327

ग्रह जनित रोग एवं निवारण

डॉ. ब्रह्मानन्द मिश्रा
सहायकाचार्य अध्यक्ष, ज्यौतिष विभाग
केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, एकलव्य परिसर
अगरतला, त्रिपुरा

मानव सृष्टि विधाता की अद्भुत व सर्वोत्कृष्ट रचना है। जिसमें हमारी यह भारत भूमि ज्ञान-विज्ञान, दर्शन, अध्यात्म, वेद-वेदांग व आत्मचिन्तन के लिए सुप्रसिद्ध है। हमारे ऋषि-मुनियों से जो दिव्य ज्ञान हमें प्राप्त हुआ है, उसे ज्योतिष शास्त्र कहते हैं। जिसके आधार पर हम अपने भूत-भविष्य व वर्तमान में होने वाली घटनाओं का अवलोकन कर सकते हैं। ज्योतिष शास्त्र के द्वारा मनुष्य के पूर्व जन्मार्जित शुभाऽशुभ कर्मों का जन्म कालिक ग्रह-नक्षत्रों की स्थिति के आधार पर सुख दु:खादि का विवेचन किया जाता है। मनुष्य के जन्म समय पर खगोल में ग्रहों की जो स्थिति होती है मनुष्य की जन्मकुण्डली उसी का एक प्रत्यक्ष रूप है तथा उसी जन्म कुण्डली के द्वादश भावों में स्थित ग्रह, नक्षत्र व राशियों के आधार पर मानव जीवन की विभिन्न गतिविधियों का विश्लेषण किया जाता है। भारतीय दर्शन के अनुसार आत्मा अजर-अमर व अविनाशी है अर्थात् इसका कभी भी नाश नहीं होता, यह केवल कर्मों के अनादि प्रवाह के कारण अनेकानेक योनियों में परिवर्तनशील रहता है। यथा श्रीमद्भागवत गीता में भगवान श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं-

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा, न्यन्यानि संयाति नवानि देही।।[1]

सामान्यतया हम अपने आस-पास देखते हैं कि कुछ लोग अपने जीवन काल में स्वस्थ रहकर जीवन यापन करते हैं किन्तु वहीं कुछ लोग जन्म लेते ही या अपने जीवन काल में अनेक रोगों से ग्रसित होकर *'शरीरं व्याधि मन्दिरम्'* उक्ति को चरितार्थ करते हैं, यानि उनका शरीर रोगों का घर बन जाता है। इसका क्या कारण हो सकता है? इस विषय में शास्त्र का कथन है-

जन्मान्तरकृतं पापं व्याधिरूपेण जायते।
तच्छान्तिरौषधैर्दानं जपहोमसुरार्चनै।।[2]

अर्थात् पूर्व जन्म में किए हुए पाप कर्म ही इस जन्म में हमारे शरीर में व्याधि (रोग) के रूप में उत्पन्न होकर हमें अत्यन्त कष्ट देते हैं। तथा जब तक हम अपने संचित कर्मों को भोग न लें तब तक व्याधियां हमारा पीछा नहीं छोड़ती हैं। चाहे हम कितनी ही बार जन्म क्यो न ले लें-

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाऽशुभम्।
नाभुक्तं क्षीयते कर्म जन्मकोटि शतैरपि:।।[3]

आयुर्वेद के अनुसार वात, पित्त और कफ तथा सात धातुएं (रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र और मल (मूत्र, पुरीष तथा स्वेद) ये जब हमारे शरीर में साम्यावस्था में रहते हैं तो शरीर आरोग्यवान् रहता है। किन्तु जब ये विकृतावस्था में आ जाते हैं तब शरीर में व्याधि अथवा रोग उत्पन्न होते हैं। सरल भाषा में कहें तो शरीर एवं मन में उत्पन्न होने वाले विकार जिनसे हमें किसी भी प्रकार का शारीरिक व मानसिक दु:ख प्राप्त होता है, उन्हें रोग कहते हैं।

विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते।
सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दु:खमेव च।।[4]

इन रोगों के दो प्रकार बताये गये हैं-

निजागन्तु विभागेन तत्र रोगा द्विधा स्मृता।[5]

1. **सहज रोग**
2. **आगन्तुक रोग**

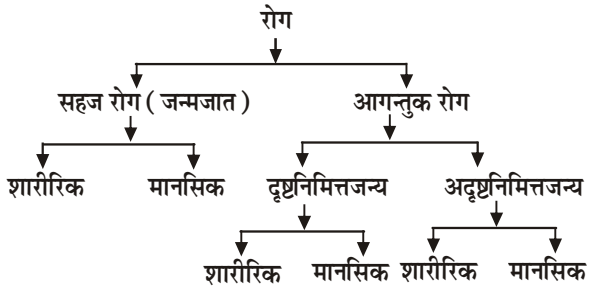

सहज रोग की श्रेणी में जन्मजात रोग आते हैं जैसे-अंग हीनता, बधिरपन, गूंगापन, नपुंसकता, अंधापन, आनुवांसिकता व वात-पित्त-कफ आदि विकारों से उत्पन्न होने वाले रोग तथा

आगन्तुक रोगों की श्रेणी में चोट, महामारी, व्यभिचार, अभिशाप (सिद्ध महापुरुषों का श्राप) मारणादि का तान्त्रिक प्रयोग, दुर्घटना आदि रोग आते हैं। ज्योतिष शास्त्र में जन्मकुण्डली, ग्रह, नक्षत्रों व राशियों की स्थिति के आधार पर इन रोगों को पहचाना व देखा जा सकता है। लघुजातक ग्रन्थ में आचार्य वराहमिहिर का कथन है–

यदुपचित मन्य जन्मनि शुभाशुभं तस्य कर्मणः पंक्तिम्।
व्यंजयति शास्त्र मेतत् तमसि द्रव्याणि दीप इव।।[6]

ज्योतिषशास्त्र में कालपुरुष की कल्पना की गई है जिसके द्वादश अंग हैं। कालपुरुष के इन द्वादश अङ्गों पर द्वादश राशियों का आधिपत्य होता है तथा जन्मकाल में जो राशि निर्बल या पाप ग्रह से पीड़ित होती है मनुष्य के शरीर का वह अंग कमजोर और रोग ग्रस्त रहता है। जिसके आधार पर हम किसी निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि मनुष्य को कौन सा रोग होगा या है यथा–

कालङ्गानि वराङ्ममाननुमुरो हृत्कोडवासोभृतो,
वस्तिर्वव्यंजनमूरुजानुयुगले जंघे ततोन्घ्रि द्वयम्।।
मेषाश्विप्रथमावनर्क्षचरणाश्चक्रस्थिता राशयो,
राशिक्षेत्रगृहर्क्षभानि भवनं चैकार्थ सम्प्रत्ययाः।।[7]

इन रोगों का जन्मकुण्डली में अन्य भी कई प्रकार से विश्लेषण किया जाता है जैसे– 1. रोग भाव अर्थात् छठे भाव में स्थित ग्रहों से, 2. अष्टम और द्वादश भाव में स्थित ग्रह से, 3. षष्ठेश व अष्टमेश से संयुक्त ग्रहों से, 4. लग्नेश की दुर्बलता से, 5. गतिमान ग्रह की महादशा से तथा 6. भावों में स्थित पापग्रह व उनकी दृष्टि आदि से। सूर्यादि नवग्रह हमारे शरीर में बाह्य अंगो के अतिरिक्त आन्तरिक भावों तथा शरीरस्थ धातुओं को भी प्रभावित करते हैं यथा–

आत्मा रविः शीतकरस्तु चेतः सत्वं धराजः शशिजोऽथ वाणी।
ज्ञानं सुखं चेन्द्रगुरुर्मदश्च शुक्रः शनिः कालनरस्य दुःखम्।।[8]

धातुओं के सन्दर्भ में कहा गया है–

स्नाय्यवस्थ्यसृक त्वगथ शुक्लवसे च मज्जा।
मन्दार्कचन्द्रबुधशुक्रसुरेज्य भौमः।।[9]

अर्थात् सूर्य अस्थि का, चन्द्रमा रक्त का, मंगल मज्जा का, बुध त्वचा का, बृहस्पति वसा का, शुक्र वीर्य का और शनि स्नायु का कारक होता है। सूर्यादि ग्रह यदि पापाक्रान्त हो, निर्बल हो, शत्रु क्षेत्र में पीड़ित हो तो जातक को अनेक बीमारियां होने की सम्भावना बनती है। कौन सा ग्रह शरीर में किस रोग का कारण बनता है अथवा कौन से ग्रह किस रोग को देने वाले हैं इस विषय में ज्योतिषशास्त्र के अनेक ग्रन्थों में वर्णन मिलता है जैसे–

सूर्यादीनां कुक्षिहन्मूलर्द्धवक्षांस्यूरू वक्त्रं जानुनी चांघ्रियुग्मम्।
अंगानि स्युर्व्याधियोंगे ग्रहाणां वक्तव्या दौर्बल्यदौस्थ्यादिभाजाम्।।[10]

ग्रहों के द्वारा प्रभावित अंग

ग्रह	सूर्य	चन्द्रमा	मंगल	बुध	गुरु	शुक्र	शनि
अंग	कुक्षि	हृदय	शिर	वक्षस्थल	उरु	मुख	जानु
धातु	अस्थि	रक्त	मज्जा	त्वचा	मज्जा	वीर्य	स्नायु
दोष	पित्त	वात एवं कफ	पित्त	त्रिदोष	कफ	कफ एवं वायु	वायु

सूर्य से सम्बन्धित रोग–

पित्तोष्णज्वरतापदेहपतनामयस्मरहृत्कोडज।
व्याधीन् वक्ति रविहृदार्त्यरिभयं त्वग्दोषमस्थिस्त्रवम्।।
कुष्ठाग्नस्त्रविषार्तिदारतनयव्यापच्चतुष्पाद् भयम्।
चौरक्ष्मापतिदेवफणिभृत्भूतेशभूताऱ्यम्।।[11]

अर्थात् पित्त की विकृति, तीव्र ज्वर, उच्च रक्तचाप, उदर विकार शरीर में जलन, मिरगी, मूर्छा, हृदय रोग, नेत्र रोग, सिरदर्द, मस्तिष्क रोग, शत्रु भय, चर्म रोग, अस्थिश्रुति अर्थात् (Bone TB) अग्नि, कुष्ठ, शस्त्राघात, सर्पदंश, राजभय आदि।

चंद्र से सम्बन्धित रोग–

निद्रालस्यकफातिसारपिटकाः शीतज्वरं चन्द्रमाः।
शृंग्यब्जाहतिमग्निमान्द्यकृशतायोषिद्व्यथाकामिलाः।।
चेतश्शान्तिमसृग्विकारमुदकाद्भीतिं च बालग्रहात्।
दुर्गाकिन्नरधर्मदैवफणभृद्यक्षाच्च पीडां वदेत्।।[12]

अनिद्रा, आलस्य, कफविकृति, अतिसार, फोड़े–फुंसी, शीत ज्वर, मलेरिया, टाइफाइड, मुख से संबन्धित रोग, सींग और जलीय जीवों से भय, मंदाग्नि, अरुचि, स्त्रीजन्य व्याधि, मूत्रविकार, कामला रोग, मानसिक अशान्ति, पागलपन, मनोरोग, (Heart Disease) रक्तविकार, पीलिया, जुकाम, जलोदर तथा जल से भय आदि।

मंगल से सम्बन्धित रोग–

तृष्णासृक्कोपपित्तज्वरमनलविषास्त्रार्तिकुष्ठाक्षिरोगान्।
गुल्मापस्मारमज्जाविहतिपरुषतापामिकादेहभंगान्।।
भूपारिस्तेनपीडासहजसुतसुहृद्वैरयद्धंविधते।
रक्षोगन्धर्वघोरग्रहभयमवनीसूनुरूर्ध्वांगरोगम्।।[13]

अत्यधिक प्यास, रक्तविकार, पित्तज्वर, चेचक, पक्षाघात, अग्नि, विष और शास्त्राघात का भय, कुष्ठ रोग, नेत्रविकार, निर्बलता, गर्भश्राव अभिचार कर्म, रक्तचाप, शोथ, शल्यक्रिया (Operation) गुल्म रोग, अपस्मार (Epilepsy) मज्जा संबंधी विकार, शारीरिक रुखापन, अंग विकृती, दुर्घटना, नेत्र, मुख, गले, कान और फेफड़े की बीमारी आदि।

बुध से सम्बन्धित रोग–

भ्रान्तिं दुर्वचनं दृगापयगलघ्राणोत्थरोगान् ज्वरं।
पित्तश्लेष्मसमीरजं विषमपि त्वग्दोषपाण्डवामयान्।
दुस्स्वप्नं च विचर्चिकां निपतनं पारुष्यबन्धश्रमान्।
गन्धर्वक्षितिहर्म्यवासिमयुभिर्ज्ञो वक्ति पीडां खगैः।।[14]

वाणी दोष (हकलाना, तुतलाना) नेत्र, कंठ और नासिका में विकार, ज्वर, वात–पित्त–कफ के विकार जनित व्याधि, फेफड़ों से संबंधित रोग, उदर विकार, कण्ठरोग (Tonsil) विष सेवन से रोग, चर्मरोग, नासिका रोग, पाण्डुरोग, दु:स्वप्न, विचर्चिका, (Psoriasis) अग्नि में गिरने का भय, बन्धन और कठोर व्यवहार से श्रान्ति, हिस्टीरिया (Mental Disease) न्यूमोनिया आदि।

बृहस्पति से सम्बन्धित रोग–

गुल्मान्त्रज्वरशोकमोहमकफजश्रोश्रार्तिमेहामयान्।
देवस्थाननिधिप्रपीडनमहीदेवेशशापोद्भवम्।।
रोगं किन्नरयक्षदेवफणभृद्विद्याधराद्युद्भवं।
जीवः सूचयति स्वयं बुधगुरु कृष्णापचारोद्भवम्।।[15]

गुल्मरोग, आन्त्र विकृति, शोकजन्य व्याधियां, मूर्छा, कर्णविकार, मोहग्रस्तता, देवस्थान सम्बन्धी विवाद से कष्ट, ब्राह्मण, गुरुजनों के श्राप से दु:ख, मोटापा, यकृत विकार, रक्त धमनी, मधुमेह, हर्निया, स्मृतिभंग, प्लीहा, स्थूलता, वायुविकार, मानसिक तनाव, उदर रोग, त्रिदोष आदि।

शुक्र से सम्बन्धित रोग–

पाण्डुश्लेष्ममरुत्प्रकोपनयनव्याप्तत्तितन्द्रीश्रमान्।
गुह्यास्यामयमूत्रकृच्छ्रमदनव्याप्तत्तिशुक्लस्त्रुतीः।।
वासस्त्रीकृषिदेहकान्तिविहतिं शोफामयं योगिनी।
यक्षीमातृगणाद्भयं प्रियसुहृद्भंगं सितः सूचयेत्।।[16]

पाण्डुरोग, वात–कफ जन्य विकार, नेत्रविकार, मूत्रविकार (मूत्र का अधिक आना या उसमें अवरोध) प्रमेह, जननेंद्रिय सम्बन्धी विकार, मूत्रकृच्छ, मैथुन में असमर्थता, वीर्यस्राव, शीघ्रपतन, एड्स, अधिक मैथुन से शारीरिक कान्ति हीनता, क्षयरोग, गुप्तरोग, मादक द्रव्यों से सम्बंधित रोग, मधुमेह, प्रदर, पाण्डुरोग, गर्भाशय रोग, योगिनी, यक्षिणी आदि से उत्पीड़न, मैत्रीभंग व्याधि आदि।

शनि से सम्बन्धित रोग–

वातश्लेष्मविकारपादविहतीरापत्तितन्द्राश्रमान्।
भ्रान्तिं कुक्षिरुगन्तरुष्णभृतकध्वंसं च पश्चाहतिम्।।
भार्यापुत्रवित्तिमंगविहतिंह्रत्तापमर्कात्मजो।
वृक्षाश्मक्षतिमाह कश्मलगणैः पीडां पिशाचादिभिः।।[17]

वात–कफविकार जन्य व्याधियां, पादकैवल्य, पक्षाघात, वायुविकार, आर्थराईटिस, कैंसर, स्पांडलाइटिस, साइटिका, जोड़ों का दर्द, घुटनों में पीड़ा, विपत्ति, गठिया, दमा, स्नायुविकार थकान, तन्द्रा, भ्रान्ति, कुक्षीरोग, अन्त: शूल, मार्मिक आघात, सेवकों का विनाश, पसली में कष्ट, स्त्री–पुत्र आदि को कष्ट, मार्मिक वेदना, वृक्ष व काष्ठ से आघात, पिशाचादि कष्ट।

राहु से सम्बन्धित रोग–

स्वर्भानुस्तनुतापकुष्ठविषमव्याधीन् विषं कृत्रिमं।
पादार्ति च पिशाचपन्नगभयं भार्यातनूजापदम्।।
प्रतोत्थं च गदं विषं च गुलिकः सर्पार्तिमाशौचकम्।।[18]

ह्रत्ताप, कुष्ठ, विवेक शून्यता, विषजन्य व्याधियां, पैरों के रोग, कमर दर्द, स्त्री पुत्रादि को कष्ट, महामारी, चेचक, कृमि, सर्पदंश, कैंसर जैसे असाध्य रोग, वाहन दुर्घटना अकस्मात् होने वाले रोग आदि।

केतु से सम्बन्धित रोग– मस्तिष्क रोग, गर्भस्राव, महामारी, बहरापन, रक्तविकार, त्वचारोग, चेचक, क्रीमी, कुष्ठरोग, चर्मरोग, अकर्मण्यता, गूंगापन, चोट, घाव, जटिलरोग, एलर्जी आदि रोग केतु के प्रभाव से होते हैं।

रोग शान्ति हेतु उपाय– पीड़ाकारक ग्रहों की महादशा, अन्तर्दशा, प्रत्यन्तर्दशा, योगिनि दशा तथा गोचर की स्थितिवशात् वर्तमान व भविष्य में होने वाले रोंगों का ज्योतिषशास्त्र के द्वारा पूर्वानुमान करके तथा उन ग्रहों से सम्बन्धित दान, स्नान, मन्त्र जाप, ध्यान, यज्ञ, अनुष्ठान, इष्टार्चन, रत्न धारण, औषधि सेवन, स्त्रोत्रादि का पाठ व ग्रहों से सम्बन्धित रंगों का प्रयोग तथा अपनी दैनिक दिनचर्या एवं खान–पान में सुधार करके हम रोगों को समाप्त कर सकते हैं–

सूर्यादीनां मुनिभिरुदिता दक्षिणास्तु ग्रहाणां।
स्नानैर्दानैर्हवनबलिभिस्तत्र तुष्यन्ति यस्मात्।।[19]

रोगनिवृत्ति हेतु रत्न (मणि) धारण–

ग्रहों के अशुभ प्रभाव को दूर करने के लिये हमारे शास्त्रों में रत्न धारण करने की विधि को विस्तृत रूप से बताया गया है। ग्रहों तथा रत्नों का आपस में धनिष्ठ सम्बन्ध है। खगोल में स्थित ग्रह, नक्षत्र व तारे अपनी रश्मियां भूमण्डल पर विखेरते हैं, जिनका प्रभाव भूमण्डल पर रहने वाले सभी प्राणियों, वनस्पतियों तथा खनिजों के जीवन पर पड़ता है। प्राय: हम सभी जानते ही है कि रत्न प्रकृति के द्वारा प्रदत्त एक बहुमूल्य निधि है जो अनेक गुणों से युक्त होते हैं। ऋग्वेद के अग्नि सूक्त के प्रथम मन्त्र में अग्नि को ''रत्नधातमम्'' शब्द से संबोधित किया गया है। अर्थात् रत्नों के निर्माण में अग्नि की ताप क्रिया का प्रभाव विद्यमान रहता है जिसे

आधुनिक वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं। कहा जा सकजा है कि जब विभिन्न तत्व रासायनिक प्रक्रिया के द्वारा आपस में मिलते हैं तब रत्नों की उत्पत्ति होती है तथा रत्न अपने रंग, रूप, आकृति, व गुणों के द्वारा मनुष्यों को अपनी ओर आकर्षित करने में सक्षम होते हैं। इसीलिये कहा गया है यथा– *रमन्ते अस्मिन् अतीव अतः रत्नम्।*[20] किस ग्रह के लिए कौन सा रत्न धारण करना चाहिए इसका उल्लेख हमें ज्योतिष शास्त्र के अनेक ग्रथों में मिलता है–

माणिक्यमुक्ताफलविद्रुमाणि गारुत्मकं पुष्पकवज्रनीलम्।
गोमेदवैदूर्यकमर्कतः स्युः रत्नान्यथो ज्ञस्य मुदे सुवर्णम्।।[21]

ग्रह	रत्न	धातु	अंगुली	समय	वार	नक्षत्र
सूर्य	माणिक्य	स्वर्ण	अनामिका	प्रातः	रविवार	कृ., उ.फा. उ.षा.
चन्द्रमा	मोती	चांदी	कनिष्ठिका	प्रातः	सोमवार	रोहि., हस्त, श्रवण
मंगल	मूँगा	स्वर्ण	अनामिका	प्रातः	मंगलवार	मृग., चित्रा, धनिष्ठा
बुध	पन्ना	स्वर्ण	कनिष्ठिका	प्रातः	बुधवार	आर्द्रा, ज्येष्ठा, रेवती
गुरु	पुखराज	स्वर्ण	तर्जनी	प्रातः	गुरुवार	पुन., विशा., पू.भा.
शुक्र	हीरा	प्लेटिनम	कनिष्ठिका	प्रातः	शुक्रवार	भरणी, पू.भा., पू.षा.
शनि	नीलम	पंचधातु	मध्यमा	सायं	शनिवार	पुष्य, अनु., उ.भा.
राहु	गोमेद	अष्टधातु	मध्यमा	सूर्यास्त	शनिवार	आर्द्रा, स्वाति, विशा.
केतु	लहसुनिया	चांदी	अनामिका	सूर्यास्त	गुरुवार	अश्विनी, मघा, मूल

अब मन में प्रश्न उठता है कि कौन सा रत्न धारण करें जिससे हमारा शरीर रोग मुक्त होकर स्वस्थ रहे? इसके लिये हमें अपनी कुण्डली के अनुसार लग्नेश ग्रह का रत्न धारण करना चाहिए। क्योंकि लग्न द्वादश भावों में स्वास्थ्य अथवा शरीर का कारक है जो रोग प्रतिरोधक क्षमता का पर्यायवाची भी है यानि यदि हमारे शरीर में रोग प्रतिरोधक क्षमता अच्छी रहेगी तो शरीर स्वतः ही स्वस्थ रहेगा। अतः हमें रोंगो के संक्रमण से बचने के लिए अपने लग्नेश ग्रह का रत्न धारण करना चाहिए।

	जन्मलग्न	लग्नेश	धारणीय रत्न
1.	मेष	मंगल	मूंगा
2.	वृष	शुक्र	हीरा
3.	मिथुन	बुध	पन्ना
4.	कर्क	चन्द्रमा	मोती
5.	सिंह	सूर्य	माणिक
6.	कन्या	बुध	पन्ना
7.	तुला	शुक्र	हीरा
8.	वृश्चिक	मंगल	मूंगा
9.	धनु	गुरु	पुखराज
10.	मकर	शनि	नीलम
11.	कुम्भ	शनि	नीलम
12.	मीन	गुरु	पुखराज

इसी प्रकार ग्रहों के वैदिक व तान्त्रिक मन्त्रों का जाप तथा ग्रहों की समिधा से हवन आदि करके भी हम अपने शारीरिक कष्टों व रोगों को दूर कर सकते हैं–

सप्त रुद्रा दिशो नन्दा नवचन्द्रा नृपास्तथा।
त्रिपक्षा अष्टचन्द्राश्च सप्तचन्द्रास्तथैव च।।
इमाः संख्या सहस्त्रघ्ना जपसंख्याः प्रकीर्तिताः।
क्रमादर्कादिखेटानां प्रीत्यर्थं द्विजपुंगव।।[22]
अर्काद् ब्रह्ममहीरुहाद् खदिरतोऽपामार्गतः पिप्पला–
दाद्रौदुम्बरशाखिनोऽप्यथशमी दूर्वाकुशेभ्यः क्रमात्।
सूर्यादिग्रहमण्डलस्य समिधो होमाय कार्या बुधैः।।
सुस्निग्धाः सरलत्वचा वनचिताः प्रादेशमात्रा शुभाः।।[23]

ग्रह	मन्त्र	समय	जपसंज्या	समिधा
सूर्य	ह्रां ह्रीं ह्रौं सः सूर्याय नमः	प्रातः	7000	अर्क
चन्द्र	श्रां श्रीं श्रौं सः चन्द्रमसे नमः	सन्ध्या	11000	पलाश
मंगल	क्रां क्रीं क्रौं सः भौमाय नमः	अपरान्ह	10000	खदिर
बुध	ब्रां ब्रीं ब्रौं सः बुधाय नमः	अपरान्ह	9000	अपामार्ग
गुरु	ग्रां ग्रीं ग्रौं सः गुरवे नमः	सन्ध्या	19000	पीपल
शुक्र	द्रां द्रीं द्रौं सः शुक्राय नमः	प्रातः	16000	गूलर
शनि	प्रां प्रीं प्रौं सः शनैश्चराय नमः	मध्यान्ह	23000	शमी
राहु	भ्रां भ्रीं भ्रौं सः राहवे नमः	रात्रि	18000	दुर्वा
केतु	स्रां स्रीं स्रौं सः केतवे नमः	रात्रि	17000	कुशा

रोग निवृत्ति हेतु स्नानार्थ औषधियां –

ग्रह जनित रोग की शान्ति हेतु ज्योतिष शास्त्र में अनेक औषधियों से स्नान के लिए आदेशित किया गया है कि यदि इन औषधियों से निर्मित जल के द्वारा रोगी स्नान करता है तो उसे

शरीरिक कष्ट में अवश्य आराम मिलता है जैसे–लाजवन्ती, कूट, वरियार, कांगनी, मोथा, सरसों, हल्दी, देवदारु, शरफेंका तथा लौंध को तीर्थ के जल में मिश्रित कर स्नान करने ग्रहजनित पीड़ा में आराम मिलता है। अन्य विद्वानों के मत में ग्रहों के अनुसार निम्न औषधियों से स्नान करने पर रोग शान्त हो जाते हैं–

लाजाकुष्ठबलाप्रियंगुधनसिद्धार्थैर्निशादारुभिः।
पुखालोध्रयुतैर्निगदितं स्नानं ग्रहोत्थाघहृत्।।[24]

स्नान हेतु औषधियां

1. **सूर्य**– मेनशिल, लाजवन्ती, इलायची, देवदारु, केशर, मुलेठी, कनेर के फूल।
2. **चन्द्रमा**–कूठ, पंचगन्ध, गजमद, शंख, सीप, श्वेतचन्दन, एवं स्फटिक।
3. **मंगल**–विल्वछाल, रक्तचन्दन, धमनी, रक्तपुष्प, सिंगरफ, मालकांगनी, मौलसिरी।
4. **बुध**–बला, माल कंगनी, गोबर, मधु, अक्षत, फल, स्वर्ण, मोती, एवं गोरोचन।
5. **गुरु**–हल्दी, देवदारू, मालतीपुष्प, पीली सरसों, मुलहटी, मधु, एवं मालती।
6. **शुक्र**–शरपुखा, इलायची, मैनसिल, सुवृक्षमूल, एव केशर।
7. **शनि**–कालेतिल, सुरमा, लोबान, धमनी, सौफ़ मुत्थरा, सरसों तेल एवं खिल्ला।
8. **राहु**– लोंध, बान, तिलपत्र, मुत्थरा, हाथी दांत, एवं कस्तूरी।
9. **केतु**– लोबान, तिलपत्र, मुत्थरा, हाथी दांत एवं कस्तूरी।

इसी प्रकार सूर्यादि ग्रहों के निमित्त शास्त्रों में बताई गयी वस्तुओं का दान करके भी ग्रह जनित रोगों से निजात पाई जा सकती है यथा–

धेनुः कम्बवरुणो वृषश्च कनकं पीताम्बरं घोटकः।
श्वेतो गौरसिता महासिरज इत्येता रवेर्दक्षिणाः।।[25]

दान की वस्तुएं

1. **सूर्य**– गेंहूँ, गुड, ताम्र, स्वर्ण, रक्त चन्दन, माणिक्य, लाल वस्त्र, सवत्सा गौ।
2. **चन्द्रमा**– चावल, शक्कर, घी, मोती, चांदी, श्वेत वस्त्र, कपूर, शंख, वृषभ, दही।
3. **मंगल**– लाल बैल, गुड, ताम्र, मूंगा, कनेर पुष्प, मसूर, रक्त चन्दन, मसूर लाल वस्त्र।
4. **बुध**– हरा वस्त्र, हाथी दांत, स्वर्ण, मूंग, घी, कांस्य पात्र, पन्ना, दूर्वा।
5. **गुरु**– हल्दी, पीलावस्त्र, शक्कर, चना दाल, स्वर्ण, पुखराज, केला, केशर, लड्डू।
6. **शुक्र**– स्वर्ण, विचित्र वस्त्र, चांदी, गौ, श्वेत घोड़ा, हीरा, घृत, चावल, कपूर, श्वेत पुष्प।
7. **शनि**– नीलम, सुवर्ण, लोहा, उडद, सरसों तेल, कम्बल, नीला वस्त्र, भैंस, कस्तूरी।
8. **राहु**–गोमेद, तिल, सरसों, सप्तधान्य, कोयला, कम्बल, नीला वस्त्र, सीसा, शस्त्र।
9. **केतु**–लहसुनियां, लोहा, तिल, धूमपुष्प, नारियल, बकरी, शस्त्र, कम्बल, धूमवस्त्र।

अर्थात् निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि जो साध्य रोग हैं उन्हें मणि, मन्त्र, औषधि तथा दान आदि कृत्यों के द्वारा समय रहते ठीक किया जा सकता है। किन्तु जो असाध्य रोग हैं उनके लिये हमें अपने पूर्व जन्मार्जित कर्म बन्धनों को काटना पड़ेगा तभी जाके हमें उन असाध्य रोगों से मुक्ति मिल पाएगी।

सन्दर्भसूची –

1. श्रीमद्भगवद् गीता–
2. प्रश्नमार्गः अध्याय–13, श्लोक, 28
3. ब्रह्मवैवर्तपुराण–अध्याय–3
4. चरक सूत्रस्थान, 9–4
5. अष्टांगहृदयम् सूत्रस्थान, 1–20
6. लघुजातकम्– अध्याय–1 श्लोक, 3
7. बृहज्जातकम्– अध्याय–1 श्लोक, 4
8. लघुजातकम्– अध्याय–2 श्लोक, 1
9. बृहज्जातकम्– अध्याय–2 श्लोक 11
10. प्रश्नमार्ग– अध्यायः–12 श्लोक 07
11. प्रश्न मार्ग– अध्याय–12 श्लोक, 67
12. फलदीपिका–14/13
13. प्रश्न मार्ग– अध्याय–12 श्लोक, 69
14. प्रश्न मार्ग– अध्याय–12 श्लोक, 70
15. प्रश्न मार्ग– अध्याय–12 श्लोक, 71
16. प्रश्न मार्ग– अध्याय–12 श्लोक, 72
17. प्रश्न मार्ग– अध्याय–12 श्लोक, 73
18. प्रश्न मार्ग– अध्याय–12 श्लोक, 74
19. ज्योतिषतत्वप्रकाश पृष्ठ 291, श्लोक–570
20. आयुर्वेद प्रकाश–5/2
21. मुहुर्त्तचिन्तामणि–गोचरप्रकरणम्–14
22. बृहत्पाराशरहोराशास्त्रम्–ग्रहशान्त्यध्यायः–19–20
23. बृहत्पाराशरहोराशास्त्रम्–ग्रहशान्त्यध्यायः–21
24. मुहुर्त्तचिन्तामणि–गोचरप्रकरणम् श्लोक–16
25. मुहुर्त्तचिन्तामणि–गोचरप्रकरणम् श्लोक–16

ISSN 2278 - 0327

योग और समग्र स्वास्थ्य

डॉ. साधना दौनेरिया
विभागाध्यक्ष, योग विभाग
बरकतउल्ला विश्वविद्यालय, भोपाल

भूमिका

योग भारतीय संस्कृति की महत्वपूर्ण धरोहर है। पुरूषार्थ सम्पादन में समर्थ बने रहने के लिए स्वस्थ रहना अत्यावश्यक है आयुर्वेद के अनुसार स्वस्थ पुरूष का लक्षण है–मन एवं इंद्रियों के प्रसन्न रहने के साथ–साथ शरीरस्थ दोष–अग्नि, धातु, मल एवं क्रियाओं का सम–अवस्था में रहना। यथा –

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
*प्रसन्नात्मेन्द्रियमनः स्वस्थ इत्यभिधीयते।।*सुश्रुत – 15/41

'जिस पुरूष के दोष धातु मल तथा अग्निव्यापार सम हो अर्थात् सामान्य या विकार रहित हों तथा जिसकी इन्द्रियाँ, मन एवं आत्मा प्रसन्न हो, वही स्वस्थ है।'

हठयोग के अनुसार शारीरिक एवं मानसिक विकारों को दूर करने के लिए आसन, प्राणायाम, मुद्रा, ध्यान एवं शोधन क्रियाओं का अभ्यास आवश्यक है। पातंजल योग दर्शन में विकारों के मूल कारण क्लेशों की निवृत्ति के लिए आसन–प्राणायामादि के अतिरिक्त चित्तप्रसादन भी एक उपाय बताया है –

*मैत्रीकरूणामुदितोपेक्षाणाम सुखदुःखपुण्यापुण्य भावनात–श्चित्तप्रसादनम् ।।*पा. यो. सू. 1/33

क्लेश रहित चित्त ही सदाचारयुक्त उत्तम ज्ञानानुकूल आचरण (कार्य) करने में सक्षम है। योग एक सम्पूर्ण विद्या है और योगासन वैज्ञानिक पद्धति है। यह एक ऐसा अभ्यास है जो शारीरिक स्तर के साथ–साथ मानसिक और आध्यात्मिक स्तर पर भी सकारात्मक सोच एवं स्वास्थ्य प्रदान करता है। इसीलिए नियमित योगाभ्यास को जीवन भर स्वस्थ रहेने की औषधि कहा गया है विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा दी गई स्वास्थ्य की परिभाषा स्वास्थ्य केवल रोगों एवं अपंगता की अनुपस्थिति मात्र नहीं है बल्कि यह एक पूर्ण शारीरिक, मानसिक तथा समाजिक कुशलक्षेम की स्थिति है।

स्वास्थ्य किन बातों पर निर्भर करता है ?

स्वास्थ्य हमारे शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक कार्य एवं सकारात्मक विचारों पर निर्भर करता है, जिसके लिए निम्न बातें आवश्यक है –

1. **नियमित योगाभ्यास**
2. **सम्पूर्ण विश्राम**
3. **सकारात्मक सोच**

जिस प्रकार अच्छे स्वास्थ्य के लिए भोजन और जल की आवश्यकता होती है उसी प्रकार स्वस्थ शरीर और मन के लिए योगासन भी आवश्यक है। योग एक सम्पूर्ण विद्या है और योगासन वैज्ञानिक पद्धति। यह एक ऐसा अभ्यास है जो शारीरिक स्तर के साथ–साथ मानसिक और आध्यात्मिक स्तर पर भी अनुकुल प्रभाव डालता है। इसलिए नियमित योगाभ्यास को जीवन भर स्वस्थ रहने की औषधि कहा गया है।

योग के अनुसार शरीर के दोषों को दूर करने एवं सुन्दर स्वास्थ्य के लिये षट्कर्म, आसन, प्राणायाम, बन्ध, मुद्रा एवं ध्यान का नित्य अभ्यास करना चाहिये। षट्कर्मों का अभ्यास त्रिदोष – वात, पित्त एवं कफ के मध्य सममात्रा स्थापित करना है। धौति द्वारा कंठ से अमाशय तक के मार्ग की शुद्धि होती है जिसके फलस्वरूप कफरोग समूल नष्ट होते है वस्ति द्वारा गुदामार्ग एवं छोटी आंत के निचले भाग की शुद्धि होती है फलस्वरूप आंतों के रोग एवं कब्ज का नाश होता है एवं जठराग्नि प्रदीप्त होती है। नेती द्वारा नासिका मार्ग का शुद्धिकरण जिससे कपाल की शुद्धि, उत्तम दृष्टि एवं शिरो रोग नष्ट होते हैं। त्राटक द्वारा आलस्य का नाश एवं एकाग्रता का विकास होता है। नौलि द्वारा उदर रोग तथा कपालभाति द्वारा कफदोष दूर होते हैं।

आसनों के नियमित अभ्यास से शरीर का आलस्य, जड़ता एवं चंचलता की निवृत्ति होती है और शरीर में स्थैर्य, धैर्य आरोग्य एवं लघुता, उत्पन्न होती है। शरीर के समस्त अंग स्वस्थ होते ही हैं साथ ही सकारात्मक व्यक्तित्व निर्माण की प्रक्रिया भी सम्पन्न होती है। शरीर मन और आत्मा के मध्य उचित सामन्जस्य स्थापित करने में आसनों की महत्वपूर्ण भूमिका है।

आसनों का प्रथम उद्देश्य शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य

प्राप्त करना है। कारण इसके अभाव में हम किसी भी कार्य का श्रेष्ठ संपादन नहीं कर सकते हैं। अत: चेतना के उच्च स्तर पर पहुँचने के लिये आसन एक महत्वपूर्ण सीढ़ी है। क्या आप सोचते है कि रूग्ण शरीर एवं मन से उच्चतर चेतना के मार्ग पर पहुँचा जा सकता है ? उत्तर है कभी नहीं। आप जिस क्षेत्र में भी कार्य करते हो उस क्षेत्र में पूर्ण कौशल एवं प्रगति के लिये पहली आवश्यकता है कि आप शारीरिक एवं मानसिक स्तर पर पूर्णता स्वस्थ हों।

आसनों के अभ्यास से मांसपेशियों में आवश्यक खिंचाव व शरीर के समस्त जोड़ ढ़ीले, पाचन तंत्र, परिसंचरण तंत्र (circulatory System) एवं अन्त: स्त्रावी ग्रन्थियों की कार्य क्षमता में विकास तथा समस्त अंग – हृदय, फेफड़े, अमाशय आदि पूर्ण स्वस्थ होते हैं। तथा इनके मध्य उचित सामन्जस्स स्थापित होता है।

पूज्य स्वामी कुवलयानंद जी के अनुसार 'योग अभ्यास मनुष्य को एक प्रकार की जीवन प्रणाली में इस प्रकार ढाल देता है जो कि उसके मनोशारीरिक व्यक्तित्व के अनुकूल होती है इससे उसके अन्दर एक ऐसी शक्ति का निर्माण होता है जो कि बाह्य वातावरण में होने वाले किसी भी प्रकार के परिवर्तन को अपनी प्रतिक्रिया में लाये बिना सहन कर सकता है। सम्भवत: ऐसा ऊतकों में नवीन अनुकूल शीतलता आ जाने के कारण ही सम्भव होता है। वे कोई भी आघात लगने के कारण न तो किसी क्रियात्मक दोष के शिकार होते हैं न ही उनमें कोई विकृति जन्य परिवर्तन ही होता है।'

आसनों का अभ्यास शरीर व मन की स्थिति को अनुकूल कर शरीर को रोगों से लड़ने की क्षमता प्रदान कर रोगों के आगमन को रोकते हैं। मानसिक तनाव को खत्म कर अनेक प्रकार की समस्याओं को नियंत्रित करने में भी आसन सहायता प्रदान करते है। इस तरह आसनों से रोगों का बचाव तो होता ही है साथ ही साथ अनेक प्रकार की समस्याओं को भी नियंत्रित करने में सहायता मिलती है। आसनों के अभ्यास से व्यक्ति में रोग प्रतिरोधक क्षमता का विकास आवश्यकतानुसार होता है।

आसनों का अभ्यास धीरे –धीरे करना चाहिये जिससे शरीर के विभिन्न अंगों एवं मांसपेशियों में खिंचाव एवं शिथिलता धीरे–धीरे हो तथा उनमें सहनशीलता, संतुलन एवं स्थिरता का भी धीरे–धीरे विकास हो। आसनों का अभ्यास स्वच्छ स्थान एवं शांत वातावरण में करना चाहिये, आसन करते समय श्वांस न रोकें बल्कि आसनों का अभ्यास सामान्य श्वसन में ही करना चाहिये। प्राणायाम की उपयोगिता योगियों के साथ–साथ जन सामान्य के लिये भी उतनी ही उपयोगी एवं लाभदायक है। योगी प्राणायाम का अभ्यास कर साधना का मार्ग प्रशस्त करते हैं, वहीं सामान्य व्यक्तियों को इसके अभ्यास से आरोग्य एवं दीर्घायु की प्राप्ति होती है। इसकी प्रक्रिया को जान लेने पर मनुष्य अपनी सम्पूर्ण आयु का उपयोग पूर्ण आंनद के साथ करता है। किन्तु इसके लिये आवश्यक है कि हम प्राणायाम के मूलभूत तत्व एवं उसकी प्रक्रिया की वैज्ञानिकता को समझकर तदनुरूप ही उसका अभ्यास करें। शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से प्राणायाम का विशेष महत्व है। प्राणायाम के अभ्यास से समस्त रोगों का नाश होता है।

प्राणायाम के अभ्यास से नाड़ियों की शुद्धि होती है जठराग्नि प्रदीप्त होती है एवं स्वास्थ्य सुन्दर रहता है। इसके अभ्यास से सारे रोग नष्ट होते हैं एवं मन स्थिर होता है। प्राणायाम का अभ्यास शान्त, स्वच्छ, एवं हवादार स्थान पर ढीले वस्त्र पहनकर करना चाहिये। हवा का प्रवाह बहुत तेज न हो तथा अभ्यास नित्य एक निश्चित स्थान पर हीं करे। प्राणायाम का अभ्यास आसनों के बाद किन्तु ध्यान के पूर्व करना चाहिये।

योग शास्त्रों में अभ्यासी के भोजन के सम्बन्ध में भी कहा गया है। शास्त्र कहते हैं कि हितकारी भोजन भूख लगने पर और दिन में दो बार ही करना चाहिये। समयपूर्वक विधिवत् नियमित भोजन स्वस्थ जीवन यापन के लिये बहुत जरूरी है।

रोगों को दूर करने एवं मन को एकाग्र एवं निर्मल बनाने में ध्यान का महत्वपूर्ण स्थान है। ध्यान से शरीर, हृदय, मन एवं बुद्धि में शांति, पवित्रता एवं निर्मलता आती है। ध्यान हमारी चेतना की एक विशेष अवस्था है एवं आत्मज्ञान प्राप्ति का एकमात्र साधन है। शारीरिक एवं मानसिक विकारों के नियंत्रण में एवं उपचार में कुछ आवश्यक आसन प्राणायाम एवं ध्यान की प्रक्रियाऐं संक्षेप में निम्नानुसार हैं।

आसन एवं प्राणायाम

शवासन– पीठ के बल सीधे लेट जाएँ। दोनों पेरों में करीब एक से डेढ़ फीट का फासला और हाथ शरीर से दूर रखें। शरीर के किसी भी भाग में किसी भी प्रकार का कोई तनाव न रहें। मन को विचारमुक्त रखें। शिथिलीकरण की प्रक्रिया पैरों के अंगूठे से प्रांरभ कर प्रत्येक अंग को शिथिल करते हुए सिर की तरफ आना चाहिए। श्वास–प्रश्वास पर ध्यान देते हुए शारीरिक शिथिलीकरण के पश्चात् मानसिक शिथिलीकरण करना चाहिए जो शवासन का मुख्य अंग है। शवासन का अभ्यास आसन शुरू करने से पहले एवं बाद में अवश्य करें। आवश्यकता होने पर अभ्यास के बीच में भी शवासन कर सकते है। इसके अभ्यास से मांसपेशियों, जोड़ों

एवं स्नायुओं में शिथिलीकरण की शक्ति बढ़ती है। यह उच्च रक्तचाप एवं हृदय में बहुत उपयोगी हैं।

अर्धहलासन- हाथों को शरीर से सटाकर सीधे लेट जाएँ। सर्वप्रथम एक पैर के घुटने को सीधा रखते हुए क्रमश: 30, 60, और 90 डिग्री तक ऊपर उठाएँ और प्रत्येक अंश पर दो सेकेण्ड रूके इसी प्रकार दूसरे पैर से अभ्यास करें। अभ्यास होने के पश्चात् दोनों पैरों को एक साथ उठाने का अभ्यास करें।

विपरीतकरणी- अर्धहलासन की भाँति सीधे लेटकर 30 फिर 60 डिग्री के अंश पर पैरों को स्थिर कर रोकें, अब दोनों हथेलियों से जमीन की और दबाव देते हुए कमर एवं पीठ का भाग उठाकर हथेलियों को कमर पर रखें। नाभि से पैर के अंगूठे तक का भाग सीधा, एक लाइन में और नजर पैर के अंगूठे पर या फिर आँखे बंद रखें। क्षमतानुसार अंतिम स्थिति को बनाए रखें फिर धीरे-धीरे वापस आवें। मस्तिष्क में प्रभावकारी रक्त संचरण, अजीर्ण, हर्निया एवं स्त्री सम्बधी रोगों के नियंत्रण में लाभकारी है।

सर्वांगासन- यह विपरीतकरणी का विकसित रूप है सीधे लेटकर पैरों को धीरे-धीरे उठाकर 90 डिग्री के अंश तक लाएँ। हाथों और कोहनियों की सहायता से शरीर के निचले भाग को इतना उठाएँ कि कंधों से लेकर पैर तक का भाग एक लाइन में आ जाए। पीठ को हाथों का सहारा दें। अंतिम स्थिति में ठुड्डी कंठ के पास स्थापित हो जाएगी दोनों बाहुओं को समानान्तर रखें। थाइराइड ग्रन्थि को स्वस्थ रखने में लाभदायक है। हर्निया, कब्जीयत, अग्निमांद्य आदि रोगों को दूर करता है।

मत्स्यासन- पद्मासन लगाकर कोहनियों का सहारा लेते हुए पीठ के बल लेट जाएँ। सिर के बगल से दोनों हथेलियों को जमाकर सिर व पीठ को पीछे से उठाते हुए पृष्ठवंश को अधिक से अधिक कमान के सदृश बनाएं दोनों हाथों को उठाकर बाई तर्जनी अंगुली से दाहिने अँगूठे को एवं दाँयी तर्जनी अंगुली से बाँए अंगूठे को पकड़ें। अंतिम स्थिति में क्षमतानुसार रुके। धीमें से उल्टे क्रम में वापस आवें। सर्वांगासन के पूरक आसन के रूप में एवं सर्वांगासन के अधिकाधिक लाभ के लिए इस आसन का सर्वांगासन के पश्चात् अभ्यास बहुत लाभदायक एवं आवश्यक होता है।

नौकासन- पीठ के बल लेटकर दोनों पैर मिला लें हथेलियाँ जंघाओं के पास जमीन से सटा लें। धीरे-धीरे दोनों पैर उठाइए सिर व पीठ भी साथ में उठायें तथा हाथ व पैरों में 45 डिग्री का कोण बनाते हुए अंतिम स्थिति में क्षमतानुसार रुकें। उल्टे क्रम में धीरे-धीरे वापस आवें। मधुमेह एवं मंदाग्नि में यह आसन विशेष लाभकारी है।

पवनमुक्तासन- पीठ के बल लेटकर दोनों पैर मिले हुए हथेलियाँ जमीन की ओर। दाहिना पैर घुटने से मोड़ते हुए दोनों हाथों की अंगुलियॉ आपस में फंसा कर घुटने पर रखे, घुटने को पेट की ओर लाएगे। तत्पश्चात् सिर को उठाते हुए ठुड्डी या नाक घुटने से स्पर्श होने दें। इसी प्रकार बाँए पैर से करेंगे यह अर्ध पवनमुक्तासन है। जब दोनों पैर से एक साथ करेंगे तब उसे पवनमुक्तासन कहते हैं। यह अपच एवं वायु विकार को दूर करता है।

भुजंगासन- पेट के बल लेट जाएँ। दोनों पैर आपस में इस प्रकार मिलाकर रखें कि एड़ियों का रुख ऊपर एवं पंजे नीचे की ओर रहें। दोनों हाथों को कोहनी से मोड़कर कंधों के पास रख कर हथेलियाँ एवं माथा जमीन पर रखें। अब हाथों पर जोर न देकर पेट एवं पीठ पर जोर देते हुए कंधे एवं सिर को नाभि तक ऊपर उठावें। दृष्टि ऊपर आसमान की ओर। इस अवस्था में अपनी क्षमतानुसार रुकते हुए धीरे-धीरे सीना, कंधे एवं माथा जमीन पर वापस लावें भोजन के पश्चात् होने वाले अफरे वायुदोष, दमा, मन्दाग्नि आदि में लाभदायक है। रीढ़ की हड्डी लचीली बनी रहती है।

धनुरासन- पेट के बल लेटकर ठुड्डी को जमीन पर टिका दें। हाथों को शरीर के साथ सटाकर रखें। पैरों को घुटने से मोड़कर टखनों को हाथों से पकड़ लें। शरीर का सारा भार पेट पर लेते हुए घुटनों को अधिक से अधिक ऊपर उठाएँ। आरंभ में घुटनों को अलग-अलग रख सकते हैं किन्तु धीमे-धीमे उन्हें समीप लाते हुए अंत में एक साथ सटाकर रखें। कोहनियाँ मुड़ें नहीं। अधिक से अधिक ऊपर देखने का प्रयास करें। कब्ज, पित्त विकार एवं स्नायु दुर्बलता को दूर करता है। मेरूदण्ड एवं पीठ की मांसपेशियों को लचीला बनाता है।

वक्रासन- दण्डासन में बैठकर पैरों को फैलाकर रखें। एड़ी - पंजे मिले हुए रहेगें दाहिना पैर घुटने से मोड़कर बांये घुटने के पास रखते हुए दाहिने हाथ को पीठ की और ले जाकर लगभग 8 इंच से 9 इंच की दूरी पर रीढ़ की हड्डी की सीध में रखें। बाँये हाथ की कोहनी से दाहिने घुटने को दबाते हुए हथेली जमीन पर रखें। इसी प्रकार दूसरी तरफ से भी करें। मेरूदण्ड की कठोरता को कम करता है। बद्धकोष्ठता, स्नायु एवं यकृत की दुर्बलता को दूर करने में सहायक है। पेट के अन्य रोगों में भी लाभकारी है।

वज्रासन- दोनों पैरों को घुटनों से मोड़ते हुए इस प्रकार रखें कि दोनों पैरों के अंगूठे आपस में स्पर्श करें। एड़ियाँ बगल से, दोनों एड़ियों के बीच यानि तलवों पर बैठ जाएँ। दोनों घुटनों को

मिलाकर रखें। हाथ कोहनियों से सीधे रखते हुए घुटनों के ऊपर रखें। श्वास-प्रश्वास सामान्य। पाचन शक्ति को मजबूत करता है। यही एक आसन है जिसे भोजन के पश्चात् अवश्य करना चाहिए हैं।

पर्वतासन- पद्मासन में बैठकर हाथ नमस्कार मुद्रा में हृदय स्थान पर रखें कोहनियों को फैलाकर रखते हुए हाथों को सिर के ऊपर इस प्रकार उठायें जैसे बैठे-बैठे छत को छूना चाहते हों। श्वास की गति सामान्य। दमा एवं हृदय रोगियों के लिए लाभदायक है।

पश्चिमोत्तानासन- बैठकर दानों पैर मिलाकर सामने फैला दें। पंजों का रूख घुटनों की तरफ एवं घुटनों के नीचे का भाग जमीन के स्पर्श में रहे। दोनों हाथों से दोनों पैरों के अंगूठों को पकड़ते हुए कमर से पीठ को इस प्रकार झुकाएँ कि माथा घुटनों पर टिक जाए एवं कोहनियाँ जमीन पर। स्वामी कुवलयानंदजी के अनुसार इस आसन के अभ्यास से उदर शक्तिशाली होता है। साइटिका होने की संभावना को दूर करता है। अजीर्णता एवं कब्जीयत को भी दूर करता है।

चक्रासन- दोनों पैर मिलाकर खड़े हो जाएँ हाथ बगल से। धीरे-धीरे दाँए हाथ को कंधे के स्तर पर लाकर हथेली का रूख आसमान की ओर करते हुए हाथ को ऊपर उठाते हुए कान के समीप लाएँ और बाँयी ओर जितना आसानी से झुक सकते हैं झुकें। तत्पश्चात् धीरे-धीरे वापस आवें। शरीर को झुकाते समय ध्यान रखना चाहिए कि झुकाव केवल बगल में हो न कि आगे पीछे। चक्रासन का अभ्यास मेरूदण्ड को लचीला बनाकर मेरूदण्ड के स्नायुओं को बलशाली बनाता है। बगल की मांसपेशियाँ भी शक्तिशाली बनती है।

ताड़ासन- सीधे खड़े होकर दोनों हाथ बगल में एवं पैर आपस में मिले हुए। धीरे से दोनों हाथों को उठाते हुए सामने लाएँ एवं एड़ियों को उठाते हुए हाथों को कानों के बगल से ऊपर ले जाएँ। पंजों पर शरीर का संतुलन बनाएँ। शरीर को तान दें। धीरे-धीरे वापस आवेंगे। बच्चों के लिए यह एक उपयोगी आसन है। इससे लम्बाई बढ़ती है, मेरूदण्ड लचीला होता है, पृष्ठवंश के कड़ेपन को दूर करने में सहायक है, एवं एकाग्रता में वृद्धि होती है।

वृक्षासन- दोनों पैरों को मिलाकर खड़े हो जाएँ दाहिने पैर को घुटने से मोड़ते हुए पैर के तलवे को बांयी जंघामूल के पास रखें घुटना कंधे की सीध में रहेगा। दोनों हाथ नमस्कार मुद्रा में। दीर्घकालीन अभ्यासोपरांत आँखें बंद करने का अभ्यास करें। यह एक संतुलनात्मक आसन है, एवं मानसिक शक्ति एवं एकाग्रता को बढ़ाने में सहायक है।

प्राणायाम

अनुलोम-विलोम

पद्मासन में सीधे बैठकर आँखें हल्के से बंद कर ले, श्वसन सामान्य। दाहिने हाथ से दाहिना नथुना बंदकर बाँये नथुने से धीरे-धीरे श्वास लें इसके बाद बाऐं नथुने को बन्द कर दाहिने नथुने को खोल दें एवं दाहिने नथुने से धीरे-धीरे श्वास बाहर छोड़े इसके बाद दाहिने नथुने से श्वास भर कर धीरे-धीर बाऐं नथुने से बाहर छोड़े। यह एक चक्र हुआ। ध्यान रहे पूरी प्रक्रिया के अंतर्गत श्वास लेने से छोड़ने का समय दुगना होगा। तीन चक्रों से शुरूआत करें। अभ्यास द्रढ़ होने पर दस चक्र तक कर सकते हैं। क्षमतानुसार श्वास-प्रश्वास का समय बढ़ाते जायें। ध्यान रखें कि श्वास लेते समय पेट न फूले अपितु सीना फूलना चाहिए, पेट की हलचल पर नियंत्रण रखें। इसके अभ्यास से नाड़ियाँ शुद्ध होती हैं। मानसिक स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है। इसका अभ्यास सभी कर सकते है।

ब्रह्ममुद्रा- सुखासन एवं पद्मासन में आँखें बंद करके सीधे बैठ जायें। श्वास-प्रश्वास सामान्य। धीरे-धीरे अपनी गर्दन को दाहिनी ओर मोड़ते हुए ठुड्डी को दाहिने कंधे के पास लायें कुछ सेकेण्ड के लिए रुकें। धीरे-धीरे वापस आते हुए इसी प्रकार बायें कन्धे की ओर गर्दन को घुमाते हुए बाऐं कन्धे की ओर ले जायें एवं कुछ सैकण्ड रुकें इसके बाद गर्दन को मोड़कर सामने लाते हुए ठुड्डी को इस प्रकार झुकावें कि ठुड्डी गले में स्पर्श करे वापस आते हुए गर्दन पीछे ऊपर उठाते हुए पीछे की और ले जायें। पूरी प्रक्रिया बहुत धीमे-धीमे एक लयबद्ध गति से करनी है। स्थिर रहते हुए ध्यान श्वास-प्रश्वास पर रखें। इसके नियमित अभ्यास से मानसिक शान्ति की प्राप्ति होती है। ध्यान के लिए उपयुक्त मुद्रा है एवं इसका नियमित अभ्यास ध्यान में पारंगत करता है। सरवाइकल-स्पोंडिलाइटिस, सरदर्द एवं माइग्रेन को ठीक करने में सहायक है। सिरदर्द एवं गर्दन दर्द की स्थिति में गर्दन को आगे की ओर नहीं झुकाएगें।

निष्कर्ष

योग के नियमित अभ्यास से आधुनिक जीवन शैली के रोग जैसे कब्ज, मधुमेह, संधिवात, हृदयरोग, तनाव, अनिद्रा, उच्चरक्तचाप, कुण्ठा, निराशा, स्नायुदौर्बल्य, वायु विकार एवं अपच से सहज ही मुक्ति पा सकते हैं। योगाभ्यास से व्यक्ति शरीर में स्फूर्ति एवं बल का अनुभव करता है। अत: आज के तनावपूर्ण वातावरण में मनुष्य को सुख और शान्ति प्राप्त करने के लिये नियमित योगाभ्यास करना चाहिये। इससे जीवन की अनेक विषमतायें दूर होती है। **(शेष पृष्ठ -15 पर....)**

ISSN 2278 - 0327

माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के मानसिक स्वास्थ्य पर ऑनलाइन शिक्षण के प्रभाव का अध्ययन

डॉ. पल्लवी पाण्डे
प्रोफेसर एवं हेड
मिलेनियम इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी एंड साइंस, भोपाल

डॉ. राकेश साहू
प्राचार्य
जौहरी प्रोफेशनल कॉलेज, भोपाल

सारांश

वर्तमान अध्ययन में भोपाल शहर के विद्यार्थियों के मानसिक स्वास्थ्य पर ऑनलाइन शिक्षण के प्रभाव जानने की कोशिश की गई है, क्योंकि मानसिक स्वास्थ्य व्यक्ति की वह स्थिति है, जिसमें वह अपनी क्षमताओं का एहसास करता है, और अपने जीवन के सामान्य तनावों का सामना कर, उनसे समायोजन कर, उपयोगी और लाभकारी कार्य कर सकता है और समाज में योगदान करने में सक्षम होता है। वहीं ऑनलाइन शिक्षण वर्तमान परिवेश की आवश्यकता हैं। क्योंकि कोरोना काल में जहाँ एक ओर पूरा विश्व ताले में बंद रहा वहीं आध्यापकों ने विद्यार्थियों की पढ़ाई में कोई व्यवधान नहीं आने दिया। वर्तमान अध्ययन के लिए, भोपाल शहर के माध्यमिक शिक्षा मंडल, भोपाल (मध्यप्रदेश) से संबंद्धता प्राप्त विद्यालयों के 50 छात्र एवं 50 छात्राओं को शामिल किया गया, मानसिक स्वास्थ्य के मापन हेतु डॉ.कमलेश शर्मा द्वारा निर्मित 'मानसिक स्वास्थ्य मापनी' का प्रयोग किया गया और प्रदत्तों के विश्लेषण के लिए टी-परीक्षण का उपयोग किया गया। परिणाम बताते हैं कि माध्यमिक स्तर के विद्यालयों के छात्रों के मानसिक स्वास्थ्य पर ऑनलाइन एवं ऑफलाइन शिक्षण में सार्थक अंतर पाया गया, किंतु छात्राओं व विद्यार्थियों के मानसिक स्वास्थ्य पर ऑनलाइन एवं ऑफलाइन शिक्षण का सार्थक अंतर नहीं पाया गया। अत: निष्कर्षानुसार माध्यमिक स्तर के विद्यालयों के छात्रों के मानसिक स्वास्थ्य पर ऑनलाइन शिक्षण का सार्थक प्रभाव पाया गया। वहीं छात्राओं व विद्यार्थियों, के मानसिक स्वास्थ्य पर ऑनलाइन शिक्षण का सार्थक प्रभाव नहीं पाया गया।

मुख्य बिंदु- मानसिक स्वास्थ्य मापनी, ऑनलाइन शिक्षण, ऑफलाइन शिक्षण

परिचय

पिछले तीन दशकों में जीवन के हर क्षेत्र में सूचना और संचार प्रौद्योगिकी सेवाओं का काफी विस्तार हुआ है शिक्षा क्षेत्र भी इसका अपवाद नहीं है प्राचीन गुरुकुल तथा आश्रम की जगह आज हॉस्टल्स और डे बोर्डिंग स्कूल ने ले ली है पिछली सदी के कामों में इस पारंपरिक श्यामपट्ट तथा खड़िया (मिट्टी चॉक) के दौर से गुजरते हुए 21वीं सदी के दूसरे दशक में पठन-पाठन का समूचा परिदृश्य बहुत अधिक बदल चुका है आज की विद्यालय शिक्षा नवयुग इन साधनों तथा युक्तियों से सुसज्जित होती जा रही हैं। साधारण ब्लैकबोर्ड की जगह स्मार्ट बोर्ड ने ले ली है तथा विभिन्न प्रकार के मार्कर पेन ने खड़िया मिट्टी का स्थान ले लिया है इंगित करने के लिए इस्तेमाल होने वाली स्टिक का स्थान भी लेजर प्वाइंटर ने ले लिया है स्लाइड प्रोजेक्टर तथा एलसीडी प्रोजेक्टर कक्षा हर कक्षा की अनिवार्य आवश्यकता बनते जा रहे हैं।

शिक्षा में दृश्य प्रणाली का प्रचलन दिनों दिन बढ़ता ही जा रहा है, सुगम तथा बेहतर प्रस्तुतीकरण के लिए टच स्क्रीन वाले बोर्ड अब विद्यालयों में इस्तेमाल किए जा रहे हैं। शिक्षा प्रणाली के तौर तरीके में बहुत तेजी से बदलाव हो रहा है। आज वर्तमान की कोविड-19 महामारी के बढ़ते प्रभाव को देखते हुए देश-विदेश में लागू किए गए लॉकडाउन के कारण विद्यालय, महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालय की शिक्षा पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ा है, किंतु छात्रों की शिक्षा में व्यवधान ना आए, इस हेतु विद्यालय, महाविद्यालय, एवं विश्वविद्यालयों ने ऑनलाइन शिक्षा को हर छात्र से जोड़कर घर से ही उन्हें शिक्षा प्रदान करने के विभिन्न तरीके भी अपना लिए, पूर्व में शिक्षक जो कभी फोन केवल बातचीत हेतु उपयोग करते थे आज वह भी घर में बोर्ड लगा कर ट्राइपॉड स्टैंड, लगाकर छात्रों को ऑनलाइन शिक्षा प्रदान कर रहे हैं। कहने में कोई अतिशयोक्ति ना होगी कि शिक्षा अब

तेजी से ई-शिक्षा की ओर बढ़ रही है।

ई-शिक्षा से तात्पर्य अपने स्थान पर ही इंटरनेट व अन्य संचार उपकरणों की सहायता से प्राप्त की जाने वाली शिक्षा से है। शिक्षा के विभिन्न रूप हैं जिसमें वेब आधारित शिक्षा मोबाइल आधारित लर्निंग या कंप्यूटर आधारित लर्निंग और वर्चुअल क्लासेस इत्यादि शामिल हैं। आज से कई वर्ष पहले ई-शिक्षा की अवधारणा जब आई थी तो दुनिया इसके प्रति इतनी सहज नहीं थी, परंतु समय के साथ ही ई-शिक्षा ने संपूर्ण शैक्षिक व्यवस्था में अपना स्थान बना लिया है। हर नया शोध उस विशेष अवधारणा के मौजूदा ज्ञान से विकसित होता है। परिणाम, सिद्धांतों और किसी भी विशिष्ट विषय से संबंधित पहले से ही किए गए अध्ययनों के परिणामों को नए निष्कर्षों तक पहुंचने के लिए गहराई से अध्ययन किया जाना चाहिए। शोधकर्ताओं ने मानसिक स्वास्थ्य के विषय से संबंधित पिछले अध्ययनों का गंभीर विश्लेषण किया है। संबंधित साहित्य के एक गहन और संपूर्ण सर्वेक्षण ने वर्तमान अध्ययन का चयन करने से पहले किया है जो एक निर्देशित मार्ग प्रदर्शित करता है।

अध्ययन की आवश्यकता एवं महत्व-

मनुष्य की प्रवृत्ति सदैव से ही जिज्ञासु रही है जिसके कारण वह नित नए ज्ञान को प्राप्त करने हेतु उत्सुक रहता है और इससे ही शोध कार्यों को प्रोत्साहन मिलता है। बालक का व्यक्तित्व, मनोदैहिक एवं वातावरण के साथ गतिशील अंत:क्रिया है किसी बालक के मानसिक स्वास्थ्य के लिए जैविक कारक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करते हैं, यह जैविक कारक जैसे बालक की बुद्धिलब्धि, समायोजन जैसे जैव-रसायनिक अभिक्रियाएँ हारमोंस आदि को नियंत्रित करते हैं बालक के समाजीकरण परिवार से प्रारंभ होता है ऐसी स्थिति में परिवर्तन होते हैं बालक के आदर्शों एवं मूल्यों आदि पर परिवार के संस्कारों का सीधा प्रभाव पड़ता है।

विद्यालय में बालक के ऑनलाइन शिक्षण में अनेक समस्याएं आती हैं यथा अनुशासनहीनता, ध्यान न देना एवं मन से तैयार न होने की समस्या का जन्म लेना आदि में विद्यालय को परिवार एवं अभिभावकों के साथ मिलकर कार्य करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। नीतियों को तय करते समय पारिवारिक वातावरण का ध्यान रखना अति आवश्यक है, जिसमें कि विद्यार्थियों का विद्यालय में मानसिक स्वास्थ्य का उचित रूप से ध्यान दे सके। क्योंकि यदि किशोरों में ऑनलाइन शिक्षण को प्रभावी ढंग से प्रस्तुतिकरण नहीं हो पाता तो उनके मानसिक स्वास्थ्य पर फर्क पड़ता है व उनकी शैक्षिक कार्य में कोई रुचि नहीं रहती, जिस कारण उसकी शैक्षिक उपलब्धियां प्रभावित होती हैं। आज के दौर की इस नई तकनीक का प्रचुर प्रयोग जैसे ऑनलाइन शिक्षण प्रक्रिया से बालकों के मानसिक स्वास्थ्य पर क्या फर्क पड़ता है और उसकी शैक्षिक उपलब्धियों में क्या अंतर आता है ने शोधार्थियों के मन जिज्ञासा उत्पन्न की, उपरोक्त विभिन्न कारणों के वास्तविक स्वरूप का पता लगाने हेतु जिज्ञासावश कारणों के विभिन्न चरणों का प्रभाव देखने की आवश्यकता महसूस की है।

यंग जू जो एवं अन्य (2016), ने 'ऑनलाइन विश्वविद्यालय के छात्रों की संतुष्टि और दृढ़ता: एक संरचनात्मक मॉडल में भविष्यवक्ताओं के रूप में उपस्थिति, उपयोगिता और उपयोग में आसानी के कथित स्तर की जांच करना' पर अध्ययन किया। प्रस्तुत शोधकार्य कोरियाई ऑनलाइन विश्वविद्यालय में दाखिला लेने वाले विद्यार्थियों पर किया गया। शोधकार्य 709 विद्यार्थियों पर किया गया इस अध्ययन का उद्देश्य दक्षिण कोरिया स्थित एक ऑनलाइन विश्वविद्यालय में ऑनलाइन शिक्षण उपकरण, सीखने की संतुष्टि और दृढ़ता के उपयोग की कथित स्तर की उपस्थिति, कथित उपयोगिता और आसानी के बीच संरचनात्मक संबंधों की जांच करना था। शोध में शोधार्थी द्वारा संरचनात्मक समीकरण मॉडलिंग (एसईएम) का उपयोग किया गया। शोध में विशिष्ट भविष्यवक्ता उपस्थिति, सामाजिक उपस्थिति, संज्ञानात्मक उपस्थिति, और कथित उपयोगिता और उपयोग में आसानी सिखा रहे थे। परिणामों का अध्ययन करने पर पाया गया कि शिक्षण की उपस्थिति, संज्ञानात्मक उपस्थिति और कथित उपयोगिता और उपयोग में आसानी शिक्षार्थी संतुष्टि के महत्वपूर्ण भविष्य वक्ता थे, जो कि भविष्यवक्ताओं और दृढ़ता के महत्वपूर्ण मध्यस्थ पाए गए। निष्कर्षों ने ऑनलाइन विश्वविद्यालय के वातावरण में शिक्षण और शिक्षण रणनीतियों को डिजाइन और कार्यान्वित करने के लिए पर्याप्त प्रभाव प्रदान किया।

साहू राकेश एवं रायकवार कविता (2013), ने 'शैक्षणिक उत्कृष्टता में मानसिक स्वास्थ्य का प्रभाव' शीर्षक के अंतर्गत एक अध्ययन किया। अध्ययन के लिए 16-17 वर्ष की आयु के 200 हाई स्कूल के छात्रों को यादृच्छिक विधि से अध्ययन हेतु चुना गया। डॉ. कमलेश शर्मा द्वारा निर्मित मानसिक स्वास्थ्य सूची का प्रयोग किया गया। सांख्यिकी गणना हेतु टी-परीक्षण का प्रयोग किया गया। निष्कर्ष में पाया गया कि मानसिक स्वास्थ्य व शैक्षणिक उत्कृष्टता के बीच महत्वपूर्ण संबंध पाया गया। लेकिन मानसिक स्वास्थ्य व शैक्षणिक उत्कृष्टता के संदर्भ में पुरूष और महिला छात्रों के बीच कोई महत्वपूर्ण अंतर नहीं पाया गया।

शोध प्रविधि

(अ) न्यादर्श -वर्तमान अध्ययन के लिए नमूने के रूप में 50 छात्र एवं 50 छात्राएं हैं जिन्हें यादृच्छिक विधि से भोपाल शहर के माध्यमिक शिक्षा मंडल, भोपाल (मध्यप्रदेश) से संबंद्धता प्राप्त विद्यालयों से चुना गया है।

(ब) उपकरण- डॉ.कमलेश शर्मा की 'मानसिक स्वास्थ्य मापनी'।

(स) प्रदत्त विश्लेषण- प्रदत्तों का 'टी' टेस्ट की मदद से विश्लेषण किया गया।

(द) अध्ययन के उद्देश्य

1. माध्यमिक विद्यालयों के छात्रों की मानसिक स्वास्थ्य पर ऑनलाइन एवं आफलाईन शिक्षण के प्रभाव का अध्ययन करना।
2. माध्यमिक विद्यालयों के छात्राओं की मानसिक स्वास्थ्य पर ऑनलाइन एवं आफलाईन शिक्षण के प्रभाव का अध्ययन करना।
3. माध्यमिक विद्यालयों के विद्यार्थियों की मानसिक स्वास्थ्य पर ऑनलाइन एवं आफलाईन शिक्षण के प्रभाव का अध्ययन करना।

(ड) अध्ययन की परिकल्पनाएं

1. माध्यमिक स्तर के विद्यालयों के छात्रों के मानसिक स्वास्थ्य पर ऑनलाइन एवं आफलाईन शिक्षण में सार्थक अंतर नहीं पाया जाता है।
2. माध्यमिक स्तर के विद्यालयों के छात्राओं के मानसिक स्वास्थ्य पर ऑनलाइन एवं आफलाईन शिक्षण में सार्थक अंतर नहीं पाया जाता है।
3. माध्यमिक स्तर के विद्यालयों के विद्यार्थियों के मानसिक स्वास्थ्य पर ऑनलाइन एवं आफलाईन शिक्षण में सार्थक अंतर नहीं पाया जाता है।

व्याख्या

सारणी क्रमांक 01

माध्यमिक स्तर के विद्यालयों के छात्रों के मानसिक स्वास्थ्य पर ऑनलाइन एवं आफलाईन शिक्षण संबंधी तुलनात्मक परिणाम

चर की प्रकृति	संज्या	मध्यमान	मानक विचलन	क्रांतिक अनुपात मान	सार्थकता स्तर
ऑनलाइन शिक्षण	50	67.88	9.421	6.343	सार्थक अंतर
आफलाईन शिक्षण	50	81.7	12.187		

स्वतंत्रता के अंश-98

0.05 स्तर के लिये निर्धारित न्यूनतम मान-1.98

उपरोक्त सारणी में प्रदर्शित परिणामों से स्पष्ट है कि माध्यमिक स्तर के विद्यालयों के छात्रों के मानसिक स्वास्थ्य पर ऑनलाइन एवं आफलाईन शिक्षण के मध्य सांख्यिकी दृष्टिकोण से सार्थक अंतर है क्योंकि प्राप्त क्रांतिक अनुपात के मान 6.343 स्वतंत्रता के अंश 98 पर सार्थकता के 0.05 के लिए निर्धारित न्यूनतम मान 1.98 की अपेक्षा अधिक है।

अत: उपरोक्त परिणामों के आधार पर कहा जा सकता है कि माध्यमिक स्तर के विद्यालयों के छात्रों के मानसिक स्वास्थ्य पर ऑनलाइन एवं आफलाईन शिक्षण में सार्थक अंतर पाया गया, अर्थात् माध्यमिक स्तर के विद्यालयों के छात्रों के मानसिक स्वास्थ्य पर ऑनलाइन एवं आफलाईन शिक्षण में सार्थक अंतर हैं। अत: उपरोक्त परिणामों के परिप्रेक्ष्य में पूर्व में ली गई परिकल्पना 'माध्यमिक स्तर के विद्यालयों के छात्रों के मानसिक स्वास्थ्य पर ऑनलाइन एवं आफलाईन शिक्षण में सार्थक अंतर नहीं पाया जाता है।' अस्वीकृत की जाती है।

सारणी क्रमांक 02

माध्यमिक स्तर के विद्यालयों के छात्राओं मानसिक स्वास्थ्य पर ऑनलाइन एवं आफलाईन शिक्षण संबंधी तुलनात्मक परिणाम

चर की प्रकृति	संज्या	मध्यमान	मानक विचलन	क्रांतिक अनुपात मान	सार्थकता स्तर
ऑनलाइन शिक्षण	50	91.00	24.917	1.101	सार्थक अंतर
आफलाईन शिक्षण	50	86.56	13.865		

स्वतंत्रता के अंश-98

0.05 स्तर के लिये निर्धारित न्यूनतम मान -1.98

उपरोक्त सारणी में प्रदर्शित परिणामों से स्पष्ट है कि माध्यमिक स्तर के विद्यालयों के छात्राओं मानसिक स्वास्थ्य पर ऑनलाइन एवं आफलाईन शिक्षण के मध्य सांख्यिकी दृष्टिकोण से सार्थक अंतर नहीं है क्योंकि प्राप्त क्रांतिक अनुपात के मान 1.101 स्वतंत्रता के अंश 98 पर सार्थकता के 0.05 के लिए निर्धारित न्यूनतम मान 1.98 की अपेक्षा कम है

अत: उपरोक्त परिणामों के आधार पर कहा जा सकता है कि माध्यमिक स्तर के विद्यालयों के छात्राओं मानसिक स्वास्थ्य पर ऑनलाइन एवं आफलाईन शिक्षण में सार्थक अंतर नहीं पाया गया, अर्थात् माध्यमिक स्तर के विद्यालयों के छात्राओं के मानसिक स्वास्थ्य पर ऑनलाइन एवं आफलाईन शिक्षण पर सार्थक अंतर नहीं हैं।

अत: उपरोक्त परिणामों के परिप्रेक्ष्य में पूर्व में ली गई परिकल्पना 'माध्यमिक स्तर के विद्यालयों के छात्राओं के मानसिक

स्वास्थ्य पर ऑनलाइन एवं आफलाईन शिक्षण में सार्थक अंतर नहीं पाया जाता है।' स्वीकृत की जाती है।

सारणी क्रमांक 03

माध्यमिक स्तर के विद्यालयों के विद्यार्थियों मानसिक स्वास्थ्य पर ऑनलाइन एवं आफलाईन शिक्षण संबंधी तुलनात्मक परिणाम

चर की प्रकृति	संख्या	मध्यमान	मानक विचलन	क्रांतिक अनुपात मान	सार्थकता स्तर
ऑनलाइन शिक्षण	100	79.44	22.05	1.824	सार्थक अंतर नहीं
आफलाईन शिक्षण	100	84.13	13.21		

स्वतंत्रता के अंश- 98

0.05 स्तर के लिये निर्धारित न्यूनतम मान -1.97

उपरोक्त सारणी में प्रदर्शित परिणामों से स्पष्ट है कि माध्यमिक स्तर के विद्यालयों के विद्यार्थियों मानसिक स्वास्थ्य पर ऑनलाइन एवं आफलाईन शिक्षण के मध्य सांख्यिकी दृष्टिकोण से सार्थक अंतर नहीं है क्योंकि प्राप्त क्रांतिक अनुपात के मान 1.824 स्वतंत्रता के अंश 198 पर सार्थकता के 0.05 के लिए निर्धारित न्यूनतम मान 1.97 की अपेक्षा कम है।

अत: उपरोक्त परिणामों के आधार पर कहा जा सकता है कि माध्यमिक स्तर के विद्यालयों के विद्यार्थियों में मानसिक स्वास्थ्य पर ऑनलाइन एवं आफलाईन शिक्षण में सार्थक अंतर नहीं पाया गया, अर्थात् माध्यमिक स्तर के विद्यालयों के विद्यार्थियों मानसिक स्वास्थ्य पर ऑनलाइन एवं आफलाईन शिक्षण में सार्थक अंतर नहीं हैं।

अत: उपरोक्त परिणामों के परिप्रेक्ष्य में पूर्व में ली गई परिकल्पना 'माध्यमिक स्तर के विद्यालयों के विद्यार्थियों के मानसिक स्वास्थ्य पर ऑनलाइन एवं आफलाईन शिक्षण में सार्थक अंतर नहीं पाया जाता है।' स्वीकृत की जाती है।

निष्कर्ष - परिणाम बताते हैं कि माध्यमिक स्तर के विद्यालयों के छात्रों के मानसिक स्वास्थ्य पर ऑनलाइन एवं आफलाईन शिक्षण सार्थक अंतर पाया गया, किंतु छात्राओं व विद्यार्थियों, के मानसिक स्वास्थ्य पर ऑनलाइन एवं आफलाईन शिक्षण का सार्थक अंतर नहीं पाया गया। अत: हम कह सकते है कि माध्यमिक स्तर के विद्यालयों के छात्रों के मानसिक स्वास्थ्य पर ऑनलाइन शिक्षण का सार्थक प्रभाव पड़ता है वहीं छात्राओं व विद्यार्थियों के मानसिक स्वास्थ्य पर ऑनलाइन शिक्षण का सार्थक प्रभाव नहीं पड़ता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. अग्रवाल डॉ शांता (2008): **शिक्षा मनोविज्ञान** : आर लाल बुक डिपो, मेरठ
2. अस्थाना विपिन एवं अन्य (2013) : **शैक्षिक अनुसंधान एवं सांख्यिकी** : अग्रवाल पब्लिकेशन आगरा
3. कपिल एच के (1975) : **सांख्यिकी के मूल तत्व :** विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा ।
4. कौल, लोकेश (2008) : **मेथाडोलॉजी ऑफ एजुकेशन रिसर्च:** फट से थर्ड एडिशन विकास पब्लिकेशन, नई दिल्ली
5. शर्मा पी डी (2016) : **भारत में शिक्षा स्तर समस्याएं एवं मुद्दे :** श्री विनोद पुस्तक मंदिर आगरा
6. सक्सेना एनआर स्वरूप एवं अन्य (2008) : **भारतीय समाज में शिक्षक** :आर लाल बुक डिपो, मेरठ

(पृष्ठ-11 का शेष.....)

रोग नष्ट होते हैं एवं मानसिक उद्विग्नता का नाश होता है। योगाभ्यासी जीवन की यथार्थता का अनुभव करता है एवं जीवन के वास्तविक सुख का आनंद लेता है। इस प्रकार योग सकारात्मक सोच प्रदान कर अनिष्ट चिंतन से मुक्ति प्रदान करने में भी सहायक है। अत: वर्तमान समय में शारीरिक एवं मानसिक विकारों को दूर करने में नियमित योगाभ्यास ही एक सरल एवं सहज पद्धति है जिसे प्रसन्नता पूर्वक सभी को जीवनचर्या का अभिन्न अंग बनाना चाहिए। क्योंकि जन सामान्य के लिए यही एक ऐसी पद्धति है जो जीवन भर सभी विकारों से दूर रखकर आनंदमय जीवन बिताने में सहायक होगी।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. स्वामी कुवलयानंद, 1936 योगासन कैवल्यधाम योगाश्रम लोनावला, पुणे
2. स्वामी कुवलयानंद, 1934 प्राणायाम कैवल्यधाम योगाश्रम लोनावला, पुणे
3. स्वामी ओमानंद तीर्थ 1960 पातंजल योग प्रदीप गीता प्रैस गोरखपुर
4. ओ.पी.तिवारी - आसन क्यो और कैसे, कैवल्यधाम योगाश्रम लोनावला, पुणे
5. आयुर्वेदाचार्य श्री जयदेवविद्यालांकार - चरकसंहिता, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
6. स्वात्माराम कृत - हठ प्रदीपिका, कैवल्यधाम योगाश्रम लोनावला, पुणे
7. स्वामी सत्यानंद सरस्वती - आसन, प्राणायाम, मुद्रा, बंध, योग पब्लिकेषंस ट्रस्ट, मुंगेर बिहार

ISSN 2278 - 0327

भगवान् विष्णु के अवतारों का एक विश्लेषण

डॉ. अक्षय कुमार मिश्र
विभागाध्यक्ष, संस्कृतविभाग
डी0ए0वी0 महाविद्यालय, नन्योला, अम्बाला, हरियाणा, पिन-134003

भगवान् अनन्त हैं। उनका स्वरूप भी सत् चित् आनन्द मय नित्य शाश्वत् और अनन्त हैं। वे सर्वशक्तिमान् और करूणामय हैं। भगवान् अपना कोई प्रयोजन न रहने पर भी साधुओं का परित्राण, धर्म का संरक्षण एवं जीवों पर अनुग्रह करने के लिये शरीर धारण करते हैं। उनके अवतरण और अवतार चरित्र भी अनन्त हैं। भगवान् से हजारों अवतारों की उत्पत्ति होती है।[1] भगवान् इस संसार में अपने इच्छानुसार पुरुषावतार, गुणावतार, कल्पावतार, युगावतार, पूर्णावतार, अंशाशावतार अंशावतार, कलावतार, आवेशावतार, आदि अनेक अवान्तर भेद से प्रकट होते हैं। मरीचि आदि ऋषि अंशाशावतार हैं; ब्रह्मा, नारदादि अंशावतार हैं; परशुराम, पृथु आदि आवेशावतार तथा कपिल, वामन और वराह प्रभृति कलावतार हैं। इनमें कुछ नित्यावतार हैं, प्रत्येक युग में और कल्प में वे होते ही हैं, जैसे ब्रह्माजी की सृष्टि जब होगी, तब प्रारम्भ में प्रकट होंगे और सृष्टिपर्यन्त रहेंगे। कुछ युगावतार हैं, जो निश्चत युगों में होते ही हैं। श्रीमद्भागवतपुराण में वे सर्वव्यापक और सर्वान्तर्यामी प्रभु के मुख्यतया चौबीस अवतारों का सविशेष वर्णन किया गया है। वे हैं - मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, श्रीराम, बलराम, श्रीकृष्ण, बुद्ध, कल्कि, श्रीसनकादि, देवर्षि नारद, नर-नारायण, कपिलमुनि, दत्तात्रेय, यज्ञ, ऋषभदेव, आदिराज पृथु, धन्वन्तरि, श्रीमोहिनी, हयग्रीव, श्रीहरि (भक्त ध्रुव पर कृपा और गजेन्द्रोद्धार), व्यास, हंस। भगवान् के अवतार इतने ही नहीं हैं। उनके अनन्त अवतार हैं, उनका परिगणन अशक्य है।

गीतगोविन्दकार श्रीजयदेवजी भगवान् के दशावतार के विषय में लिखते हैं -

वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुबिभ्रते दैत्यान् दारयते बलिं छलयते क्षत्र क्षयं कुर्वते।
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते म्लेच्छान मूर्च्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः।।[2]

1) मत्स्य अवतार-

कृतयुग के आदि में सत्यव्रत-नाम से विख्यात एक राजर्षि थे। वे एकवार सत्यव्रत नदी में स्नान करके तर्पण कर रहे थे, उनके हाथ में एक छोटी मछली आ गयी और एक ही दिन में अपनी आकृति को कमशः बढ़ाकर सौ योजन विस्तार वाले सरोवर को आच्छादित कर लिया। राजर्षिके द्वारा पूछने से उन्होंने बताया कि-आज से सातवें दिन भूर्लोकादि तीनों लोक प्रलयकाल की जलराशि में निमग्न हो जायेगें। तब तुम समस्त ओषधियों, बीजों, प्राणियों के सूक्ष्मशरीरों को लेकर सप्तर्षियों के साथ मेरे द्वारा भेजे गयी बड़ी नावपर चढ़ जाना। वासुकि नाग के द्वारा उस नाव को मेरे सींग में बाँध देना। मैं उसे जब तक ब्रह्मानिशा रहेगी, तब तक प्रलय-सागर में खीचता हुआ विचरण करूँगा। राजा से यों कहकर मत्स्यभगवान् वहीं अन्तर्हित हो गये। प्रलयकाल आने पर राजर्षि सत्यव्रत ने मत्स्य भगवान् के कथनानुसार कार्य करते हुए अन्त में भगवान् के सहारे सृष्टि की रक्षा की। तत्पश्चात् मत्स्य भगवान ने हयग्रीव असुर को मारकर उससे वेद छीन लिये और ब्रह्माजी को दे दिये।[3]

2) कूर्म अवतार -

एक बार भगवान् शंकर के अंशावतार महर्षि दुर्वासा ने सानन्द पृथ्वीतल पर घूमते हुए एक विद्याधरी के हाथ से अत्यन्त सुवासित माला को प्राप्तकर उसे पुनः देवराज इन्द्र को दे दिया इन्द्र ने ऐरावत को दिया और ऐरावत ने उसे सूंघकर धरती पर फेंक दिया। यह देखकर दुर्वासा को बहुत क्रोध आया और सहस्राक्ष को शाप[4] दिया कि तेरा त्रिभुवन श्रीहीन हो जायेगा। तब फलस्वरूप दानवों ने देवताओं के ऊपर अत्याचार करना प्रारम्भ कर दिया। सभी देवता भगवान् विष्णु के पास जाकर स्तुति[5] करने लगे, तो भगवान् ने समुद्र मंथन करने को कहा। तब देवताओं ने भगवान् के कथनानुसार दैत्यराज बलि के सामने समुद्र-मन्थन का प्रस्ताव रखा। अमृत की लालसा से बलि ने समुद्र-मन्थन का प्रस्ताव स्वीकार किया। धराधाम की सारी औषधियाँ, तृण और लताएं क्षीरसागर में डाल दी गयीं। देवता और दैत्यों ने अपना मतभेद त्यागकर मन्दरगिरि को उखाड़ा और उसे क्षीराब्धि में डालकर

नागराज वासुकिकी नेती बनायी। देवताओं ने जब सर्प के मुख भाग को पकड़ा तब दानवों ने कहा सर्पका पुंछ अशुभ अंग है हम इसे नहीं पकड़ेगें। तब देवता लोग बिना आपत्ति पुंछ की ओर आ गये। जब समुद्र-मन्थन प्रारम्भ हुआ, मंदराचल के नीचे कोई आधार न होने के कारण वह समुद्र में नीचे डूबने लगा। तब भगवान् स्वयं कच्छप का रूप धारणकर मन्दराचल के नीचे आ गये। देवता और दैत्य प्रसन्नचित्त होकर समुद्र का मंथन करने लगे। इस प्रकार कच्छपावतार श्रीभगवान् की पीठपर मन्दराचल स्थिर हुआ और उन्हीं की शक्ति से समुद्र-मन्थन हुआ।

3) वराह अवतार

एक बार तपस्वी मरीचिनन्दन कश्यपमुनि जब खीर की आहुतियों द्वारा अग्निजिह्व भगवान् की उपासना कर सूर्यास्त देख अग्निशाला में ध्यानमग्न बैठे थे कि उनकी पत्नी दक्षपुत्री दितिदेवी उनके समीप पहुँचकर सर्वश्रेष्ठ संतान प्राप्त करने की कामना व्यक्त करने लगीं। उनकी इच्छापूर्ति के बाद महर्षि कश्यप ने दितिदेवीसे कहा- तुमने मेरी आज्ञा का उल्लंघन करके असमय कामासक्त होने के कारण तुम्हारे गर्भ से दो अत्यन्त अधम और क्रूरकर्मा पुत्र उत्पन्न होंगे। उनका वध करने के लिये स्वयं नारायण दो पृथक् पृथक् अवतार ग्रहण करेंगे। दिति के गर्भ से उत्पन्न होते ही पृथ्वी, आकाश और स्वर्ग में अनेकों उपद्रव होने लगे। वे दोनों जन्म लेते ही पर्वताकार एवं परम पराक्रमी हो गये। हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष के सामने सभी देवता भयभीत होकर छिप जाते थे। एक बार हिरण्याक्ष ने भूमी की जो धारणा-शक्ति थी उसे ले जाकर जल के भीतर-ही-भीतर रसातल में चला गया।[6] आधारशक्ति से रहित होकर यह पृथ्वी भी रसातल में ही चली गयी। ब्रह्माजी को जल में डूबी पृथ्वी के बारे में चिन्ता करते हुए जब प्रभु को याद करते हैं तो अकस्मात् पद्मयोनि के नासाछिद्र से अंगुठे के बराबर एक श्वेत वराह-शिशु निकलकर तत्काल ही विशाल हाथी के रूप हो गये।[7] इधर हिरण्याक्ष अत्यन्त गर्व से मदोन्मत्त होकर वरूणदेव को युद्ध करने के लिए ललकारता है। वरूण देव ने कहा- मेरी दृष्टि में श्रीहरी के अतिरिक्त और कोई भी तुम्हारे साथ युद्ध करने के लायक नहीं है। पुराणपुरूषोत्तम ही तुम्हें सन्तुष्ट कर सकते हैं। उसने देखा कि वराह भगवान् स्वयं पृथ्वी को अपनी दाढोंकी नोक से ऊपर की ओर ले जा रहे हैं। भगवान् ने उसकी बातों का ध्यान न करते हुए पृथ्वी को ले जाकर जल के ऊपर स्थित कर दिया और उसमें अपनी आधारशक्ति का संचार किया।[8] फिर वीरवर हिरण्याक्ष एवं भगवान् वराह में भयानक संग्राम हुआ। अन्त में श्रीभगवान ने हिरण्याक्ष की कानपटी पर एक तमाचा मारा। वह घूमकर कटे वृक्ष की तरह धराशायी हो गया। उसके प्राण शरीर से निकल गया।

4) नृसिंह अवतार -

कृतयुग में एक बार सनकादि ऋषिकुमार जिनकी अवस्था सदा पंचवर्षीय बालक की-सी ही रहती है, वैकुण्ठ लोक में भगवान् विष्णु के दर्शनार्थ जा पहुँचे। द्वार पर भगवान् के पार्षद जय विजय ने जब उन्हें अन्दर जाने से रोक दिया। तब तो ऋषियों को कोध आ गया और उन्होंने शाप देते हुए कहा-'तुम लोगो की बुद्धि तमोगुण से अभिभूत है, अत: तुम दोनों असुर हो जाओ। तीन जन्मों के बाद पुन: तुम्हें इस स्थान की प्राप्ति होगी।' ऋषि-शापवश वे ही दोनों दिति के गर्भ से हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष के रूप में उत्पन्न हुए। हिरण्याक्ष को भगवान् विष्णु ने वराहावतार धारण करके मार डाला। भाई के वधसे संतप्त हो हिरण्यकशिपु दैत्यों और दानवों को अत्याचार करने के लिये आज्ञा देकर स्वयं महेन्द्राचल पर कठोर तप करने के लिये चला गया। उसकी तपस्या से ब्रह्माजी प्रसन्न हो कर उसे वर माँगने के लिये जब कहा तो उसने अमरत्व प्राप्त करने की इच्छा प्रकट की। ब्रह्माजी उसकी तपस्या से प्रसन्न तो थे ही, अत: उसे मुंहमांगा वरदान देकर वहीं अन्तर्धान हो गये। इधर उसकी पत्नी कयाधु के गर्भसे बहुत बड़ा भगवद्भक्त श्री प्रह्लादजी उत्पन्न हुए। हिरण्यकशिपु के चार पुत्रों से प्रह्लाद सबसे छोटे थे। उन पर हिरण्यकशिपु का विशेष स्नेह था। एक दिन हिरण्यकशिपु ने बड़े प्रेम से प्रह्लाद को गोद में बैठाकर पुचकारते हुए कहा- 'बेटा अपनी पढ़ी हुई अच्छी से अच्छी बात सुनाओ।' तब प्रह्लाद ने भगवद्भक्ति की प्रशंसा की। यह सुनते ही हिरण्यकशिपु क्रोध से आगबबूला हो गया। एक दिन तो गुरू-पुत्र के शिकायत करने पर हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद को अपने निकट बुलाया और उन्हें तरह-तरह से डराने-धमकाने लगा। फिर उसने कहा 'रे दुष्ट ! जिसके बल पर तू ऐसी बहकी-बहकी बातें बोल रहा है, तेरा वह ईश्वर कहाँ हैं ? वह यदि सर्वत्र है तो इस खम्भे में क्यों नहीं दिखयी देते ? तब प्रह्लादने कहा-'मुझे तो वे प्रभु खम्भे में भी दिख रहे हैं।' यह सुनकर है हिरण्यकशिपु जब हाथ में खड्ग लेकर खम्भे पर एक घूसा मारा तब उसी समय उस खम्भे से बडा भयंकर शब्द हुआ।

इसी समय अपने भृत्य प्रह्लाद की बात सत्य करने तथा समस्त भूतों में अपनी व्यापकता दिखाने के लिये सभा के भीतर उसी खम्भे मे से अत्यन्त अद्भुत रूप धारण करके भगवान् प्रकट हुए। वह रूप न तो समूचा सिंह का ही था और न मनुष्यका ही।[9] भगवान् ने उसे सभा के दरवाजे पर ले जाकर अपनी जाँघे पर

गिरा लिया और खेल-ही-खेल में अपने नखों से उसके कलेजे को फाड़ डाला। उधर स्वर्ग में जब देवांगनाओं को पता चला तब वे आनन्द से खिल उठीं और भगवान् पर पुष्पवृष्टि करने लगी। प्रह्लाद द्वारा की गयी स्तुति से नृसिंहभगवान् संतुष्ट हो गये और उनका क्रोध जाता रहा। तब वे प्रेम से भरकर प्रसन्नता पूर्वक बोले- जो मुझे प्रसन्न नहीं कर लेता उसे मेरा दर्शन करना सम्भव नहीं है।[10]

5) वामन अवतार-

दैत्येश्वर बलि सभी देवताओं को परास्त कर उनके ऊपर अत्याचार करने लगा। उसका आधिपत्य देखकर इन्द्रादि देवगण महर्षि कश्यप के पास पहुँचे। महर्षि कश्यप उन सबको लेकर ब्रह्माजी की सभा में पहुँचे। ब्रह्माजी के कथनानुसार महर्षि कश्यप ने कठोर तप किया जिसके फलस्वरूप भगवान् प्रसन्न हुए और उनकी इच्छा पूर्ण करते हुए उन्होंने कहा- वे स्वयं अदिति के गर्भ से इन्द्र के छोटे भाई के रूप में उत्पन्न होंगे। समय बीतते देर नहीं लगती। दसवें मास में भगवान् चतुर्भुज रूप में अदिति के गर्भ से प्रकट हुए।[11] श्रद्धाभक्तिपूर्ण स्तुति किये जाने पर भगवान् ने चतुर्भुज रूप का परित्याग करके अपने को पमनाकृति में परिवर्तित कर लिया। यह देखकर माता अदिति को महान् हर्ष हुआ तब कश्यपजी ने जातकर्म आदि संस्कार किये। भगवान् वहाँ से कुरुक्षेत्र चले गये जहॉ पर दैत्यराज बलि का पवित्र अश्वमेध यज्ञ हो रहा था। उधर दैत्यगुरू शुकाचार्य ने अमित तेजस्वी राजा बलि को विधिपूर्वक अश्वमेध यज्ञ के लिये दीक्षित कर रख था। दीर्घकाल तक ध्यान करके शुक्राचार्यजी ने कहा कि श्रीविष्णु स्वयं तुम्हारे यज्ञ में आ रहे हैं, यदि वे तुमसे काई याचना करें तो कहना कि में यह देने में समर्थ नहीं हूँ। यह सुनकर बलि ने उत्तर दिया -'नहीं है' कैसे कह सकता हूँ ? बलि के नहीं मानने से शुकाचार्य कुपित हो उठे और बलि को शाप दे दिया।[12] तब भगवान् देवगुरु बृहस्पति को आगे करके सुरगणों के साथ यज्ञशाला में पहुँचे। भगवान् को देखकर बलि ने कहा-'मेरी इन सम्पत्तियों में से जो भी आपको प्रिय लगे वह मांग लो'। भगवान ने कहा 'मुझे केवल तीन पग भूमि प्रदान कीजिये।'[13] महात्मा वामन के यों कहने पर बलि ने कमंडलु से जल लेकर उन्हें तीन पग भूमि दान करने का संकल्प किया। उसी समय भगवान् के हाथ में संकल्प का जल पड़ते ही वे वामन से अवामन हो गये और अपना सर्वदेवमय रूप प्रकट कर दिया। उन्होंने एक पग से चराचरसहित पृथ्वी अपने अधिकार में कर ली। पुनः दूसरे पग से सूर्य, चन्द्रमा, स्वर्ग, महः, जन और तपोलोक को आच्छादित कर लिया। तीसरे पग को आगे बढ़ाने पर वह पूर्ण नहीं हो सका तब भगवान् कहा- 'दैत्येन्द्र ! या तो तुम मेरा तीसरा पग पूरा करो अन्यथा मेरे बन्धन में आ जाओ'।[14]

6) परशुराम अवतार -

महर्षि जमदग्नी की पत्नी रेणुका के गर्भ से पाँच पुत्र उत्पन्न हुए-रुमण्वान्, सुषेण, वसु, विश्वावसु एवं परशुराम। भगवान् शंकर को अपने कठोर तप से प्रसन्न करके अनेक अस्त्र-शस्त्रों सहित दिव्य परशु को प्राप्त किया। अपने पिता के आदेशानुसार माता रेणुका एवं चारों भाईयों का मस्तक काटकर पिता जमदग्नी को प्रसन्न किया पुनः पिता से निवेदन करके उनको जीवित किये। एक बार ह्यवंशीय महाराज कृतवीर्य के पुत्र सहस्त्रार्जुन ने जमदग्नी के आश्रम से कामधेनु गाय को बलपूर्वक छीन लेने से परशुराम स्वयं जाकर सहस्त्रार्जुन का वध करके, उसके दस हजार पुत्रों को युद्धभूमि से भगाकर, कामधेनु गाय को वापस ले गये। जब चारों भईयों के साथ परशुराम स्वयं तप करने चले गये तब वहां जानकर सहस्त्रार्जुन के सहस्त्र पुत्रों ने उनके पिता जमदग्नी पर आक्रमण किया यह जान कर परशुराम क्रोधित होकर समग्र विश्व को इक्कीस बार क्षत्रियों से हीन कर दिया। उन क्षत्रियों के रक्त से पाँच सरोवर भर दिये। उन रक्तों से अपने पितरोंका तर्पण किया।[15] जमदग्नी परशुरामजी स्वयं भगवान् के शक्त्यावेश अवतार थे।

7) श्रीराम अवतार -

त्रेतायुग में देवतालोक लंकाधिप पुलस्त्य के पौत्र राक्षसराज रावण से संत्रस्त हो गये थे। पृथ्वी की आर्त पुकार से अयोध्यानरेश चक्रवर्ती महाराज दशरथ की बड़ी रानी कोशल्या की गोद में चैत्र की रामनवमी के मध्याह्न में वे साकेताधीश शिशु बनकर आ गये। उनके अंश भी आये- माता सुमित्रा की गोद दो कुमारों से भूषित हुई और कैकेयीजी ने भरत को प्राप्त किया। चारों कुमार बड़े हुए। कुलगुरु से शास्त्र एवं शस्त्र की शिक्षा मिली। श्रीरामजी अपने भाई लक्ष्मण के साथ महर्षि विश्वामित्र के आश्रम में जाते हैं। विदेहराज जनक के आमन्त्रण से सीतास्वयंवर में जाकर पिनाक तोड़ते हैं। दशरथ के चारों कुमार जनकपुर में विवाहित होते हैं। माता कैकेयी की इच्छानुसार श्रीराम राज्याभिषेक छोड़कर भाई एवं पत्नी के साथ चौदह वर्ष के लिये वन में चले जाते हैं। दशानन देवी सीता का अपहरण करके पंचवटी में ले जाता है। भगवान् श्रीराम रावण की हत्या करके देवी सीता को छुड़वाकर पुनः अयोध्या वापस आकर प्रजा का शासन करते हैं।

8) (क) बलराम अवतार -

श्रीकृष्णावतार तो पिछले द्वापर में सत्ताईस कलियुगों के पश्चात् हुआ था। द्वापर में पृथ्वी का भार हरण करने तो भगवान्

बलराम ही प्राय: पधारते हैं। उन्हीं को श्रुतियाँ द्वापर का युगावतार कहती हैं। माता देवकी के सप्तम गर्भ में वे पधारे। श्रीकृष्ण-बलराम परस्पर नित्य अभिन्न हैं। उनकी चरित-चर्चा एक-दूसरे से पृथक् जैसे कुछ है ही नहीं। गोकुल में दोनों की संग-संग बालक्रीडा और वहाँ से वृन्दावन प्रस्थान। बहुत थोड़े चरित हैं, जब श्यामसुन्दर के साथ उनके अग्रज नहीं थे। ऐसे ही बलरामजी अपने अनुजसे पृथक् बहुत कम रहे हैं।

8) (ख) श्रीकृष्ण अवतार -

आकाशवाणी से कंस को पता चला कि उसके अपने चाचा की लड़की देवकी के आठवें पुत्र उसे मार डालेगें। यह जानकर वह अपनी बहन का वध करने को ही उद्यत हो गया। वसुदेवजी ने सद्योजात शिशु उसे देने का वचन दिया। छ: शिशु मरे। सातवें गर्भ में भगवान् शेष पधारे। योगमाया ने उन्हें आकर्षित करके गोकुल में रोहिणीजी के गर्भ में पहुँचा दिया। अष्टम गर्भ में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र का प्राकट्य हुआ। कंस के पक्षधर पूतना, शकटासुर, वत्सासुर, अघासुर, वकासुर, प्रलम्ब, धेनुक, मयपुत्र, व्योमासुर आदि सब राक्षसगण भगवान् के करकमलों से सद्गति को प्राप्त हुए। वृन्दावन में श्रीकृष्ण वत्सचारक बने। कालीय दलन तथा गोवर्धन धारण आदि लीला करके गोपवासियों के प्राणप्रिय बन गये। महाराज उग्रसेन को बन्दिगृह से पुन: राज्यसिंहासन पर शुभासीन हुए। श्रीकृष्ण ब्रज में कुल ग्यारह वर्ष, तीन मास रहे थे। अवन्ती जाकर भगवान् ने अग्रज के साथ शिक्षा प्राप्त की। रुक्मिणीजी का उन्होंने हरण करके उनके साथ विवाह किया। बाणासुर से विवश होकर युद्ध करना पड़ा। सौ गालियाँ देने के बाद शिशुपाल भरी सभा में चक्र की भेंट हो गया। श्रीकृष्णजी ने पाण्डवों के लिये क्या क्या नहीं किया। उनका परित्राण तो श्रीकृष्ण ही थे। भगवान् श्रीकृष्ण पूर्णपुरुष लीलावतार कहे गये हैं।

9) बुद्ध अवतार

बौद्धधर्म के प्रवर्तक महाराज शुद्धोदन के यशस्वी पुत्र गौतम बुद्ध के रूपमें ही श्रीभगवान् अवतरित हुए थे। जगत् में असुर भाव का आधिक्य होने के कारण श्रीभगवान् बुद्ध के रूप में अवतरित हुए। उनके हाथ में मार्जनी थी और वे मार्ग को बुहारते हुए उस पर चरण रखते थे। भगवान् बुद्ध दैत्यों के समीप पहुंचे और उन्हें उपदेश दिया। संन्यासी बुद्धदेव के उपदेश से दैत्यगण प्रभावित हुए।

10) कल्कि अवतार -

अभी कलि का प्रथम चरण चल रहा है। समाज में नैतिक पतन हो गया है। कालक्रम से कलि के बढ़ने से धर्म, सत्य, पवित्रता, क्षमा, दया, आयु, बल और स्मरणशक्ति - सबका लोप हो जायगा। कलि के प्रभाव से प्राणियों के शरीर छोटे-छोटे, क्षीण और रोगग्रस्त होने लगेंगे। पुत्र पिता का और पिता पुत्र का वध करके भी उद्विग्न नहीं होंगे।[16] उस समय सम्भलग्राम में विष्णुयशा नामक एक अत्यन्त पवित्र, सदाचारी एवं श्रेष्ठ ब्राह्मण होंगे। वे श्रीभगवान् के अत्यन्त अनुरागी भक्त होंगे। उन्ही के यहाँ परमेश्वर भगवान् कल्कि के रूपमें अवतरित होंगे। कलियुग का अन्त करने के लिये ही उनका प्रादुर्भाव होगा। भगवान् कल्कि के करकमलों से पृथ्वी के सम्पूर्ण दस्युओं का विनाश और अधर्म का नाश हो जायेगा। पुन: स्वाभाविक ही धर्म का उत्थान प्रारम्भ होगा।[17]

11) श्रीसनकादि

देवताओं के पूर्वज और लोक स्त्रष्टा के आद्य मानसपुत्र सनकादि के मन में कहीं किंचित् आसक्ति नहीं थी। वे प्राय: आकाशमार्ग से विचरण किया करते थे। एकबार वे श्रीभगवान् के श्रेष्ठ वैकुण्ठधाम में पहुँचे। वहाँ सभी शुद्ध-सत्वमय चतुर्भुजरूप में रहते हैं। सनकादि भगवदर्शन की लालसा से वैकुण्ठ की दुर्लभ दिव्य दर्शनीय वस्तुओं की उपेक्षा करते हुए छठी ड्योढी के आगे बढ़ ही रहे थे कि भगवान् के पार्षद जय और विजय ने उन पञ्चवर्षीय-से दिखने वाले दिगम्बर तेजस्वी कुमारों की हँसी उड़ाते हुए उन्हें आगे बढ़ने से रोक दिया। भगवदर्शन में व्यवधान उत्पन्न होने के कारण सनकादि ने उन्हें दैत्यकुल में जन्म लेने का शाप दे दिया। सनकादि के ये कठोर वचन सुनकर वे दोनों अत्यन्त दीनभाव से उनके चरण पकड़कर पृथ्वीपर लोट गये। इधर अपने प्राणप्रिय एवं अभिन्न सनकादि कुमारों के अनादर का संवाद मिलते ही साधुजनों के हृदयधन भगवान् कमलनाभ तत्काल वहाँ पहुँच गये। भगवान् की अद्भुत, अलौकिक एवं दिव्य सौन्दर्यराशि के दर्शन कर सर्वथा विरक्त सनकादि कुमार चकित हो गये। अपलक नेत्रों से प्रभु की ओर देखते हुए उनकी स्तुति करने लगे।[18] श्रीभगवान् ने कहा कि हे मुनिगण ये जय-विजय मेरे पार्षद हैं। इन्होंने मेरी कुछ भी मेरी परवा न करके आपका बहुत बड़ा अपराध किया है। आप लोग भी मेरे अनुगत भक्त हैं; अत: इस प्रकार मेरी ही अवज्ञा करने के कारण आपने इन्हें जो दण्ड दिया है, वह मुझे भी अभिमत है। ब्राह्मण मेरे परम आराध्य हैं; मेरे अनुचरों के द्वारा आप लोगों का जो तिरस्कार हुआ है, उसे में अपना ही किया हुआ मानता हूँ। इसलिये में आप लोगों से प्रसन्नता की भिक्षा माँगता हूँ। तब सनकादि कुमारों ने कहा - हे प्रभु! इन द्वारपालों को आप जैसा उचित समझें, वैसा दण्ड दें अथवा

पुरस्काररूप में इनकी वृत्ति बढ़ा दें– 'हम निष्कपटभाव से सब प्रकार आपसे सहमत हैं। अथवा हमने आपके इन निरपराध अनुचरों को शाप दिया है, इसके लिये हमें ही उचित दण्ड दें। हमें वह भी सहर्ष स्वीकार है' ऐसा कहकर सनकादि कुमारों ने सर्वांगसुन्दर भगवान् विष्णु और उनके धाम का दर्शन किया और प्रभु की परिक्रमा कर उनका गुणगान करते हुए वे चारों कुमार लौट गये।

12) देवर्षि नारद –

मंगलमूर्ति नारदजी श्रीभगवान् के मन के अवतार हैं। ऋषियों की सृष्टि में भगवान ने देवर्षि नारद के रूप में तीसरा अवतार ग्रहण किया और सात्वत तन्त्र का (नारद पंचरात्र) उपदेश किया। नारदजी स्वयं अपने मुख से कहते हैं कि– जब मैं भगवान् की लीलाओं का गान करने लगता हूँ, तब वे प्रभु बुलाये हुए की भाँति तुरन्त मेरे हृदय में आकर दर्शन दे देते हैं।[19] प्राणिमात्र की कल्याण–कामना करने वाले नारदजी श्रीहरी के मार्ग पर अग्रसर होने की इच्छा रखने वाले प्राणियों को सहयोग देते रहते हैं। बालक प्रह्लाद के भगवद्विश्वास एवं प्रगाढ़ निष्ठा में भगवान् नारद ही मख्य हेतु थे। भगवान् नारदजी ने दक्ष प्रजापति के हर्यश्व नामक दस सहस्र एवं शवलाश्व नामक एक सहस्र पुत्रों को भी श्रीभगवच्चरणारविन्दों की ओर उन्मुख कर दिया। जब दुर्योधन के छल और कुटिल नीति से सहृदय पाण्डवों ने अरण्य के लिये प्रस्थान किया, विनाशसूचक अपशकुन देखकर धृतराष्ट्र और विदुर परस्पर बातचीत कर ही रहे थे तब भगवान् नारद अवतीर्ण होकर कहने लगे कि आज से चौदहवें वर्ष में दुर्योधन के अपराध से भीम और अर्जुन के पराक्रम द्वारा कौरवकुल का नाश हो जायगा।[20] इसी प्रकार देवर्षि नारद सर्वदा भगवान् के भक्तों का साथ देते रहे हैं।

13) नर–नारायण –

सृष्टि के आरम्भ में धर्मपत्नी मूर्ति के गर्भ से भगवान् नर–नारायण के रूप में चौथा अवतार ग्रहण करते हैं। अवतार ग्रहण करते ही अविनाशी नर–नारायण बदरिकाश्रम में चले गये। वहाँ वे गन्धमार्दन पर्वत पर एक विशाल वट–वृक्ष के नीचे तपस्या करने लगे। उनकी कठोर तपस्या को देखकर इन्द्र भी सशंक हो कर तप भंग करने के लिये अनेक प्रयास करते हुए विफल रहे। पुराणपुरूष नर–नारायण स्वयं सर्व समर्थ होकर भी सृष्टि में तपश्चर्या का आदर्श स्थापित करने के लिये निरन्तर कठोर तप करते रहे। नैमिषारण्य में भक्तराज प्रह्लाद के साथ भगवान् का मिलन होता है और उनके आश्रम में पधारते हैं। एक बार प्रजापति दक्ष के जामाता रुद्र के साथ भी नारायण भगवान् का युद्ध होता है एवं अन्त में ब्रह्माजी के कहने से रुद्र भगवान् नारायण को प्रसन्न करके उनकी शरण में जाते हैं।[21] सम्राट् दण्डोद्भव ने भी एक बार ऐसी गलती करते हुए उनसे युद्ध की याचना की। भगवान् सीकों से ही उसे पराजित करके माफ कर देते हैं।[22] क्रोधादि वृत्तियों से रहित होकर भगवान् नर–नारायण सदा तप में ही लगे रहते हैं परन्तु कभी–कभी शिक्षा देने के लिये भी उन्हें युद्ध करना पड़ता है। द्वापर में भू–भार हरण करने के लिये अवतरित होने वाले कमलनयन श्रीकृष्ण और उनके प्राणप्रिय सखा अर्जुन के रूप में भगवान् नर–नारायण ने ही अवतार ग्रहण किया था।[23]

14) कपिलमुनि –

भगवान् कपिल ने स्वयं कहा है कि 'मैं साक्षात् भगवान् हूँ'।[24] अनेक संयम, नियम तथा तप के बाद महर्षि कर्दम एवं देवहूति के सन्तान के रूप में भगवान् स्वयं अवतरित हुए। भगवान् कपिल ने अपने पिता कर्दम एवं माता देवहूति को तत्वज्ञान का उपदेश देकर उन्हें अन्तर्मुखी एवं शान्त बुद्धियुक्त कर दिया।[25] वे दोनों सर्वान्तर्यामी जगत्पति भगवान् वासुदेव में चित्त स्थिर हो जाने के कारण सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्त हो जाते हैं और करूणामय श्रीभगवान् की भक्ति के प्रभाव से उन्होंने उनका दुर्लभ परम पद प्राप्तकर अपना जीवन और जन्म सफल कर लेते है। अत्यन्त प्राचीनकाल में स्युमरश्मि नामक ऋषि को भी उपदेश दिया था। अन्त में भगवान् समुद्र के अंदर ही तपश्चरण करते रहे, केवल मकर की संकान्ति के दिन बाहर आकर दर्शन देते थे। उन्होंने सगर के साठ सहस्र पुत्रों को अपने नेत्र की ज्वाला से भस्म कर दिया था। जो सांख्यशास्त्र समय के फेर से लुप्त हो गया था उस शास्त्र का आसुरि नामक ब्राह्मण को उपदेश दिया।

15) दत्तात्रेय –

मुझे प्राणियों का दु:ख–निवारण करने वाला पुत्र प्राप्त हो – इस अभिप्राय से अत्रि मुनि की भावपूर्ण घोर तपस्या देखकर अत्यन्त प्रसन्न होकर भगवान् श्रीविष्णुने कहा– मैनें जिनको ही तुम्हें दान कर दिया है– इस कारण इनकी दत्तात्रेय नाम होगा।[26] भगवान् दत्तात्रेय की माता श्रीअनसूया परम सती थी। देवी अनसूया के सतीत्व से तो एक बार श्रीसरस्वती, श्रीउमा और श्रीरमा भी ईर्ष्यायुक्त हो गई। भगवान् दत्तात्रेय ने जगत् का बड़ा ही उपकार किया है। कृतयुग में उन्होंने श्रीकार्तिकस्वामी, श्रगणेश भावान् और भक्त प्रह्लाद को उपदेश देकर उन्हें उपकृत किया था। त्रेता में राजा अलर्कप्रभृति को योगविद्या एवं अध्यात्मविद्या का उपदेश देकर उन्हें कृतार्थ किया। राजा पुरूरवा और राजा आयु भी भगवान् दत्तात्रेय जी की कृपा के ऋणी थे। द्वापर में भगवान् श्रीपरशुराम तथा हैह्याधिपति राजा कार्तवीर्य आदि को भगवान् का

अनुग्रह प्राप्त हुआ था। कलियुग में भी भगवान् शंकराचार्य, गोरक्षनाथ महाप्रभु, सिद्ध नागार्जुन- ये सब दत्तात्रेयजी के अनुग्रह से ही धन्य हो गये हैं।

16) यज्ञ अवतार-

स्वायम्भुव मनु की निष्पापा पत्नी शतरूपा के गर्भ से महाभागा आकूति का जन्म हुआ। वे रुचि प्रजापति की पत्नी हुई। इन्हीं आकूति की कुक्षि से धरणी पर धर्म का प्रचार करने के लिये आदिपुरूष भगवान् यज्ञ अवतरित हुए। एकदा स्वायम्भुव मनु एवं उनकी पत्नी शतरूपा सुनन्दा नदी के तट पर एक पैर पर खड़े होकर सौ वर्ष तक तप करते हुए भगवान् की स्तुति कर रहे थे।[27] वहाँ पर विघ्न उत्पन्न करने के लिये एक राक्षसों का समुदाय उपस्थित हो गया। सर्वान्तर्यामी भगवान् यज्ञ अपने याम नामक पुत्रों के साथ तुरन्त वहाँ पहुँच कर राक्षसों को पराजित किया। उसके प्रभाव से भगवान् को इन्द्रपद-पालक भी बनना पड़ा।

17) ऋषभदेव -

महाराज नाभी और उनकी पत्नी मेरुदेवी के द्वारा यज्ञपुरूष का स्तवन करने से प्रभु स्वयं भगवान् ऋषभदेव के रूप में मेरुदेवी की कुक्षि से प्रकट हुए। कालक्रम से भगवान् वयस्क हो कर शासन का दायित्वभार को वहन करते हुए प्रजाओं को उचित राज्य-व्यवस्था दी।[28] उनकी राज्यव्यवस्था से इन्द्र भी ईर्ष्या युक्त होकर वृष्टि नहीं करते हैं। परन्तु भगवान् स्वयं सुरपति का मद भंग करते हैं। सुरपति ने अपनी पुत्री जयन्ति का विवाह भगवान् के साथ कर दिया। उनके सौ पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें सबसे बड़े पुत्र भरतजी के नाम से भारतवर्ष प्रख्यात हुआ। एक बार भगवान् ऋषभदेव भ्रमण करते हुए ब्रह्मावर्त में पहुँचे। वहाँ के शासक उनके चतुर्थ पुत्र ब्रह्मावर्त थे, जिनको भगवान् ने अनेक कल्याण कर उपदेश दिया।[29] अन्तिम समय में भगवान् संसार की असारता का पूर्णतया अनुभव करके जीवन्मुक्तावस्था का आनन्द-लाभ करने लगे। सर्वथा दिगम्बर होकर विचरण करने लगे। समस्त सिद्धियों ने भी उनकी सेवा में उपस्थित हो कर कैंकर्यावसर प्रदान करने की प्रार्थना की। परन्तु भगवान् ने उन्हें ठुकरा दिया। संकल्पशून्य होकर उनका शरीर प्रारब्धवश पृथ्वी पर डोल रहा था। पंचभौतिक शरीर त्याग देने की इच्छा होते ही जंगल में लगी भयंकर आग के पास चुपचाप बैठे रहे और उनका नश्वर शरीर अग्नि में जलकर भस्म हो गया।

18) आदिराज पृथु -

स्वायम्भुव मनु के वंश में अंग नामक प्रजापति का विवाह मृत्यु की मानसिक पुत्री सुनीथा के साथ हुआ। उनके वेन नामक पुत्र बहुत अत्याचारी और पापात्मा था अत: वह क्रुद्ध महर्षियों के मंत्रपूत कुशों द्वारा मारा गया। ब्राह्मणों के द्वारा उस मृतक शरीर की भुजाओं का मंथन करने से एक स्त्री-पुरुष का जोड़ा प्रकट हुआ। जिनका नाम पृथु एवं अर्चि था। भगवान् पृथु ने उन ब्राह्मणो ंको आशीर्वाद दिया और वेन के अत्याचार से पृथ्वी ने जो अन्न एवं ओषधियों को अपने भीतर छिपा लिया था उनका पुन: उत्पादन कराया। सम्राट् पुथुके सुशासन[30] एवं उत्कृष्ट यज्ञानुष्ठान आदि को देखकर इन्द्र ईर्ष्यायुक्त होकर वृष्टि नहीं करते हैं। सम्राट् पुथु ने इन्द्र को दण्ड देने के लिये धनुष उठाया और उस पर अपना तीक्ष्ण बाण रखा। परंतु श्रीब्रह्माजी के समझाने से वे समझ जाते हैं। स्वयं भगवान् इन्द्रदेव के साथ वहाँ उपस्थित होते हैं और सम्राट् पुथु को ज्ञान, वैराग्य तथा राजनीति के गूढ़ रहस्यों को बताते हैं।[31] महाराज पुथु अनेक प्रकार के महोत्सव कर रहे थे एक बार आकाश से सनकादिकुमार उनके सभा में आकर उन्हें अनेक उपदेश देकर चले गये। अन्तिम समय में महाराज पृथु ने अत्यन्त कठोर तपस्या करने लगे और एक दिन श्रीहरि में मन लगाकर आसन पर बैठे-बैठे ही अपना भौतिक कलेवर त्याग दिया।

19) धन्वन्तरी अवतार-

समुद्र मंथन के समय भगवान् ने स्वयं देवता, दानव एवं वासुकि नाग में प्रविष्ट हो कर और स्वयं मन्दराचल को ऊपर से दबाकर मंथन कराया। समुद्र से हलाहल, कामधेनु, ऐरावत, उच्चै:श्रवा बश्व, अप्सराएँ, कौस्तुभमणि, वारुणी, शंख, कल्पवृक्ष, चन्द्रमा, लक्ष्मीजी और कदलीवृक्ष प्रकट हो चुके थे। अमृत-प्राप्ति के लिये पुन: समुद्र-मन्थन होने लगा और अन्त में हाथ में अमृत-कलश लिये भगवान् धन्वन्तरि प्रकट हुए। धन्वन्तरि साक्षात् विष्णु के अंश से प्रकट हुए थे, इस कारण उनका स्वरूप भी मेघश्याम श्रीहरी के समान श्यामल एवं दिव्य था। अमृत वितरण हो जाने पर देवराज इन्द्र ने इनसे देववैद्य का पद स्वीकार करने की प्रार्थना की। इन्होंने इन्द्र के कथनानुसार अमरावती में निवास करना स्वीकार कर लिया। कुछ समय बाद पृथ्वी पर अनेक व्याधियाँ फैली। मनुष्य विभिन्न प्रकार के रोगों से कष्ट पाने लगे। तब इन्द्र की प्रार्थना से भगवान् धन्वन्तरि ने काशीराज दिवोदास के रूप में पृथ्वी पर अवतार धारण किया।

20) श्रीमोहिनी अवतार-

समुद्र मन्थन के अन्त में जब भगवान् धन्वन्तरि अमृत-कलश लिये प्रकट होते हैं, तब सुधा पाने की लालसा से आतुर असुर उनके हाथ से अमृत-घट छीनकर भाग खड़े हुए। दैत्यों से

न्याय और धर्म की आशा व्यर्थ थी। दुर्बल देवता दूर उदास और निराश खड़े थे। सहसा कोलाहल शान्त हो गया। देवता और दानवों की दृष्टि एक स्थान पर टिक गयी। अनुपम रूपलावण्य-सम्पन्न लोकोत्तर रमणी सामने खड़ी थी। उन मोहिनीरूपधारी श्रीभगवान् को देखकर सब-के-सब मोहित एवं मुग्ध हो गये। 'सुन्दरि! तुम उचित निर्णय कर दो, हमें आप पर विश्वास है, हमें कोई आपत्ति नहीं।' असुरों ने अद्भुत छटा बिखेरती त्रैलोक्यमोहिनी से कहा। 'मेरी वितरण-पद्धति में यदि आप लोगों को तनिक भी आपत्ति न हो तो मैं यह कार्य कर सकती हूँ।' मोहिनी की मधुर वाणी सुनकर दैत्यों ने कहा- 'आप निष्पक्षभाव से सुधा-वितरण करने में स्वतन्त्र हैं।' अमित सौन्दर्यराशि मोहिनी ने अपने सुकोमल करकमलों में अमृतकलश उठाया। मोहिनीरूपधारी विश्वात्मा प्रभु ने दैत्यों की ओर देखते और मुस्कुराते हुए दूरकी पंक्ति में बैठे अमरों को अमृत पान कराना प्रारम्भ किया। अपने वचन एवं त्रैलोक्य दुर्लभ मोहिनी की रूपराशि से मर्माहत असुर गण चुपचाप अपनी पारी की प्रतीक्षा कर रहे थे। धैर्य-धारण न कर सकने के कारण छायापुत्र राहु देवताओं के वेश में सूर्य-चन्द्र के समीप बैठ गया। अमृत उसके कण्ठ के नीचे उतर भी न पाया था कि दोनों देवताओं ने इंगित कर दिया और दूसरे ही क्षण क्षीराब्धिशायी प्रभु के तीक्ष्णतम चक्र से उसका मस्तक कटकर पृथ्वी पर जा गिरा। चौंककर दानवों ने देखा तो मोहिनी शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी ससजल मेघश्याम श्रीविष्णु बन गयी। असुरों का मोह भंग हो गया।

21) हयग्रीव अवतार -

रजोगुण एवं तमोगुण की प्रतीक जल की दो बूंदों से मधु एवं कैटभ नामक दो दैत्य उत्पन्न हुए जो अत्यन्त वीर एवं बलवान् थे। कमलनाल के सहारे वे दैत्यद्वय वहाँ पहुँच गये, जहाँ अत्यन्त तेजस्वी ब्रह्मा बैठे हुए थे। उनके पास से उन दोनों ने चारों वेदों का हरण कर लिया। श्रुतियों को लेकर वे पूर्वोत्तर महासागर में प्रविष्ट होकर रसातल में पहुँच गये। ब्रह्माजी ने वेदों के उद्धारके लिये भगवान् श्रीनारायण की प्रार्थना की। हिरण्यगर्भकी श्रद्धा-भक्तिपूर्ण करुण स्तुति सुनकर श्रीनारायण तत्क्षण अपनी निद्रा त्यागकर अत्यन्त सुन्दर एवं कान्तिमान् हयग्रीव के रूप में प्रकट हुए। उस रूप में भगवान् स्वयं महासमुद्र में प्रवेश करके वहाँ सामगान का सस्वर गान शुरू किया। मधु और कैटभ दोनों दैत्यों ने सामगान का वह चित्ताकर्षक स्वर सुना तो उन्होंने वेदों को कालपाश में बाँधकर रसातल में फेंक दिया और उस ध्वनि की ओर दौड़ पड़े। भगवान् हयग्रीव ने अच्छा अवसर देखा। उन्होंने तुरन्त वेदों को रसातल से निकालकर ब्रह्मा को दे दिया और पुनः महासागर के पूर्वोत्तर भाग में वेदों के आश्रय अपने हयग्रीवरूप की स्थापना कर पुनः पूर्वरूप धारण कर लिया। मधु और कैटभ ने देखा, जहाँ से मधुर ध्वनि आ रही थी, वहाँ तो कुछ भी नहीं है। अतएव वे पुनः बड़े वेग से रसातल में पहुँचे। वहाँ वेदों को न पाकर वे अत्यन्त आश्चर्यचकित एवं क्रुद्ध हुए। शत्रु को ढूँढ़ने के लिये वे दोनों दैत्य तत्काल अत्यन्त शीघ्रता से रसातल के ऊपर पहुंचे तो वहाँ उन्होंने देखा कि महासागर की विशाल लहरों पर चन्द्रमा के तुल्य गौर वर्ण के सुन्दरतम भगवान् श्रीनारायण शेषनाग की शय्या पर अनिरुद्ध-विग्रह में शयन कर रहे हैं। मधु और कैटभ ने अत्यन्त कुपित होकर भगवान् श्रीनारायण को जगाया। भगवान् उठे और उनका मधु और कैटभ दोनों महान् दैत्यों से भयानक संग्राम छिड़ गया। अन्त में भगवान् ने उन दोनों दैत्यों के मस्तक को अपने विशाल एवं विचित्र जाँघों पर रखकर अपने तीक्ष्ण चक्र से काट डाला।[32]

22) (A) भगवान् श्रीहरि (ध्रुव पर कृपा)-

स्वायम्भुव मनु के अत्यन्त प्रतापी पुत्र उत्तानपाद की दो पत्नीयाँ थी। उनमें से छोटी सुरुचि पर महाराज की अत्यधिक प्रीति थी। उसके पुत्र का नाम उत्तम था। बड़ी रानी सुनीति के पुत्र का नाम था ध्रुव। एक दिन की बात है। उत्तम अपने पिता की गोद में बैठा हुआ था। उसी समय ध्रुव ने भी पिता की गोद में बैठना चाहा; किंतु पिता की ओर से उसे प्यार और दुलार नहीं मिला और वहीं बैठी हुई पतिप्रेम-गर्विता सुरुचि ने ध्रुव का तिरस्कार करते हुए द्वेषपूर्ण स्वर में कहा- 'बेटा ध्रुव! तू भी यद्यपि राजा का पुत्र है, फिर भी इतने से ही राजसिंहासन पर बैठने का अधिकार तुझे नहीं है। पिता की गोद और राजसिंहासन पर बैठने के लिये तुम्हें मेरे उदर से जन्म लेना चाहिये था। यदि तू अपनी यह इच्छा पूरी करना चाहता है तो परमपुरुष श्रीनारायण को प्रसन्न कर उनके अनुग्रह से मेरी कोख से जन्म ले। इसका अधिकारी तो मेरा पुत्र उत्तम ही है।' सुरुचि के द्वारा किये गये अपमान से ध्रुव एवं उनकी माता सुनीति अत्यन्त दुःखित हुए। ध्रुव ने निश्चय किया कि वे परमपुरुष परमात्मा से अप्राप्य वस्तु प्राप्त करेंगें। माता की आज्ञा लेकर[33] ध्रुव अपने पिता के नगर से निकल पड़े। ध्रुव के वनगमन देखकर देवर्षि नारद तत्काल वहाँ पहुँचकर उस नन्हें बालक को वन-गमन से रोकने का प्रयास किया। परन्तु ध्रुव के कटिबद्धता को देखकर देवर्षि ने भी परम पुरूष परमात्मा को ध्यान करने का मार्ग बतलाकर उन्हें जाने की अनुमति दे दिया।[34] देवर्षि नारद के उपदेशानुसार वे परम पवित्र मधुवन के लिये चल पड़े। उस वन में

पहुँच कर देवर्षि के आदेशानुसार श्रीनारायण की आराधना आरम्भ कर दी। परमपुरूष भगवान् ध्रुव के तप से प्रसन्न हो कर उन्हें त्रैलोक्य दुर्लभ, सर्वोत्कृष्ट 'ध्रुव' पद दे दिया। ध्रुव के नगर में पधारने पर उनके पिता राजा उत्तानपाद, माता सुरूचि तथा सुनीति, भाई उत्तम एवं प्रजाओं ने भव्य स्वागत किया। ध्रुव ने छत्तीस सहस्त्र वर्ष तक प्रजाओं का पालन किया।

22) (B) गजेन्द्रोद्धारक भगवान् श्रीहरि -

द्रविड देश में पाण्ड्यवंशी राजा इन्द्रद्युम्न राज्य करते थे। वे भगवान् की आराधना में ही अपना अधिक समय व्यतीत करते थे। एक बार राजा इन्द्रद्युम्न प्रभु की उपासना में तल्लीन थे उसी समय महर्षि अगस्त्य अपने शिष्यसमुदाय के साथ वहाँ पहुँचे। राजा इन्द्रद्युम्न को उनके आगमन का पता न चलने से महर्षि का स्वागत नहीं कर सके। महर्षि हठात् कुपित होकर उन्हें शाप दे दिया।[35] महर्षि के शापानुसार भगवान् वरुण का ऋतुमान् नामक कानन में स्थित विशाल सरोवर में राजा इन्द्रद्युम्न ने गजेन्द्र के रूप में जन्म लिया। एक बार गजेन्द्र को स्नान करते समय एक मगर ने आकर उसका पैर पकड़ लिया। गन्धर्वश्रेष्ठ हूहू महर्षि देवल के शाप से ग्राह हो गये थे। गजेन्द्र और ग्राह का संघर्ष एक सहस्त्र वर्ष तक चलता रहा। अन्त में गजेन्द्र असमर्थ हो गया और उसका प्राण संकट में पड़ गये। उसने मन को एकाग्र कर पूर्वजन्म में सीखे श्रेष्ठ स्तोत्र के द्वारा परम प्रभु की स्तुति करने लगा। गजेन्द्र की स्तुति सुनकर सर्वात्मा सर्वदेवरूप श्रीहरि गरुड़ पर आरूढ होकर उसके पास पहुँच गये।[36] भगवान् को अपनी ओर आते देखकर गजेन्द्र ने कमल का एक सुन्दर पुष्प अपनी सुंड में लेकर ऊपर उठाया और बड़े कष्ट से प्रार्थना की। गजेन्द्र को अत्यन्त पीड़ित देखकर सर्वशक्तिमान् श्रीहरि गरुड़ की पीठ से कूद पड़े और गजेन्द्र के साथ ही ग्राह को भी सरोवर से बाहर खींच लाये। तुरन्त अपने तीक्ष्ण चक्र से ग्राह का मुहँ फाड़कर गजेन्द्र को मुक्त कर दिया।

23) व्यास अवतार-

भगवान् व्यास भगवान् नारायण के कलावतार थे। वे महर्षि पराशर एवं सत्यवती के पुत्ररूप में प्रकट हुए थे। प्रारम्भ में वेद एक ही था। सत्यवती नन्दन ने मनुष्यों की आयु और शक्ति को अत्यन्त क्षीण होते देखकर वेदों का व्यास (विभाजन) किया। इसीलिये वे 'वेदव्यास' नाम से प्रसिद्ध हुए। उन्होंने पुराण एवं महाभारत का प्रणयन किया। भगवान् द्वैपायन ने चारों वेद एवं महाभारत का अध्ययन अपने शिष्यों को कराया। धृतराष्ट्र के पुत्र द्वारा अधर्मपूर्वक पाण्डवों को राज्य से वहिष्कृत कर दिये जाने पर सर्वज्ञ व्यासजी वन में उनके पास पहुँचकर उनकी एकचक्रा नगरी के समीप एक ब्राह्मण के घर में रहने की व्यवस्था कर दी। शुद्धात्मा व्यासजी विपत्तिग्रस्त सरल एवं निश्छल पाण्डवों की समय-समय पर पूरी सहायता करते रहे।

24) हंस अवतार-

एक बार लोकपितामह ब्रह्मा के मानस पुत्र सनकादि चारों कुमारों ने अपनी जिज्ञासा प्रकट करते हुए ब्रह्माजी से कहा - 'परम पूज्य श्रीतातजी ! चित्त गुणे अर्थात् विषयों में प्रविष्ट रहता है और गुण भी चित्त की एक एक वृत्ति में समाये रहते हैं। इनका परस्पर आकर्षण है, स्थायी सम्बन्ध है। फिर मोक्ष चाहने वाला अपना चित्त विषयों से कैसे हटा कहा सकता है?' ब्रह्मा भी स्वयं प्रश्न का मूल कारण नहीं समझ सके। वे परमात्मा का ध्यान करने लगे। सबके सम्मुख परम तेजस्वी महाहंस के रूप में भगवान् प्रकट हो गये। भगवान् ने उत्तर दिया - 'यह चित्त चिन्तन करते करते विषयाकार हो जाता है और विषय चित्त में प्रविष्ट हो जाता है, यह बात सत्य है, तथापि विषय और चित्त ये दोनों ही मेरे स्वरूपभूत जीव के देह हैं - उपाधि हैं।'[37] भगवान् हंस के उत्तर से सनकादि मुनियों का संदेह निवारण हो गया।

सन्दर्भ सूची -

1. अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्विजाः।
   यथाविदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रसः।। श्रीमद्भगवतम् 1.3.26
2. गीतगोविन्द -4.11
3. श्रीमद्भागवतम् - 08.24.61
4. मया दत्तामिमां मालां यस्मान्न बहु मन्यसे।
   त्रैलोक्यश्रीरतो मूढ विनाशमुपयास्यति ॥
   मद्दत्त भवता यस्मात् क्षिप्ता माला महीतले।
   तस्मात् प्रणष्टलक्ष्मीकं त्रैलोक्यं ते भविष्यति॥
   विष्णुपुराणम् - 1.9.14-16
5. स त्वं नो दर्शयात्मानमस्मत्करण्गोचरम्। प्रपन्नानादिदृक्षूणां सस्मितं ते मुखाम्बुजम्।। श्रीमद्भागवतम्- 8.5.45
6. विवेश तोयमध्ये तु रसातलतलं नृपः।
   विनाशक्त्या च जगती प्रविवेश रसातलम्।। नृसिंहपुराणम् -39, 9.
7. इत्यभिध्यायतो नासाविवरात्सहसानघ।
   वराहतोको निरगादंगुष्ठपरिमाणकः।।
   यस्याभिपश्यतः स्वस्थः क्षणेन किल भारत।
   गजमात्रः प्रववृधे तदद्भुतमभून्महत्।। श्रीमद्भागवतम् 3,13,18-19
8. ततः समुत्क्षिप्य धरां स्व दंष्ट्रया महावराहः स्फुटपद्मलोचनः।
   रसातलादुत्पलपत्रसन्निभःसमुत्थितौ नील इवाचलोमहान् ॥
   विष्णुपुराणम् - 1, 4, 26
9. सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः।

अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुबहन् स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम्।।
श्रीमद्भागवतम्- 7.8.18

10. प्रह्लाद भद्र भद्रं ते प्रीतोऽहं तेऽसुरोत्तम।
वरं वृणीष्वाभिमतं कामपूरोऽस्म्यहं नृणाम्।।
मामप्रीणत आयुष्मन् दर्शनं दुर्लभं हि मे।
दृष्ट्वा मां न पुनर्जन्तुरात्मानं तप्तुमर्हति।। श्रीमद्भाग.7.9.52-53

11. चतुर्भुजः शंखगदाब्जचक्रः पिशंगवासा नलिनायतेक्षणः।
श्यामावदातो झसराजकुण्डलत्विषोल्लसच्छीवदनाम्बुजः पुमान्।।
श्रीमद्भागवतम् - 8.18.1

12. दृढं पण्डितमानज्ञः स्तब्धोऽस्यस्मदुपेक्षया।
मच्छासनातिगो यस्त्वमचिराद् अस्यते श्रियः।।
श्रीमद्भागवतम्- 8.10.15

13. गजाश्वभूहिरण्यादि तदर्थिभ्यः प्रदीयताम्।
एतावता त्वहं चार्थी देहि राजन् पदत्रयम्।।
वामनपुराणम्-19.16

14. वामनपुराणम् -19.35

15. यदि मे पितरः प्रीता यद्यनुग्राह्यता मयि।
यच्च रोषाभिभूतेन क्षत्रमुत्सादितं मया ।।
अतश्च पापान्मुच्येऽहमेष मे प्रार्थितो वरः।
ह्रदाश्च तीर्थभूताश्च मे भवेयुर्भुवि विश्रुताः।। महा.भा., आदि-2.8-9

16. पुत्रः पितृवधं कृत्वा पिता पुत्रवधं तथा।
निरुद्वेगो बिहद्वादी न निन्दामुपलप्स्यते।।
म्लेच्छीभूतं जगत्सर्वं भविष्यति न संशयः।
हस्तो हस्तं परिमुषेद् युगान्ते समुपस्थिते।। महा.भा., वन-110.28-29

17. स्थापयित्वा च मर्यादाः स्वयम्भुविहिताः शुभाः। वनं पुण्ययशःकर्मा रमणीयं प्रवेक्ष्यति ॥ तच्छीलमनुवर्त्स्यन्ति मनुष्या लोकवासिनः।
महाभारतम्, वन0 191.2-3

18. प्रादुश्चकर्थ यदिदं पुरुहूत रूपं तेनेश निर्वृतिमवापुरलं दृशो नः।
तस्मा इदं भगवते नम इविधेम योऽनात्मनां दुरुदयो भगवान् प्रतीतः॥
श्रीमद्भागवतम्-3, 15, 50

19. प्रगायतः स्ववीर्यणि तीर्थपादः प्रियश्रवाः।
आहूत इव मे श्रीघ्रं दर्शनं याति चेतसि।। श्रीमद्भागवतम्-1. 6. 34.

20. इतश्चतुर्दशे वर्षे विनक्ष्यन्तीह कौरवाः।
दुर्योधनापराधेन भीमार्जुनबलेन च।। महा.भा., सभा-80, 34

21. अहं प्रसादजस्तस्य कुतश्चित् कारणान्तरे।
त्वं चैव क्रिधजस्तात पूर्वसर्गे सनातनः ॥
मया च सार्धं वरद विबुधैश्च महर्षिभिः।
प्रसादयाशु लोकानां शान्तिर्भवतु मा चिरम् ॥
महाभारतम्, शान्तिपर्वणि -342, 128-129

22. अनुज्ञातः स्वस्ति गच्छ मैवं भूयः समाचरेः।
कुशलं ब्राह्मणान् पृच्छेरावयोर्वचनाद् भृशम्।।
महाभारतम्, उद्योगपर्वणि - 96, 38.

23. श्रीमद्भागवतम् - 10. 89. 59-60 -

24. नान्यत्र मद्भगवतः प्रधानपुरुषेश्वरात्।
आत्मनः सर्वभूतानां भयं तीवं निवर्तते ॥ श्रीमद्भाग.- 3.24.41.

25. गच्छ कामं मयाह्यपृष्टो मयि सन्यस्तकर्मणा।
जित्वा सुदुर्जयं मृत्युममृतत्वाय मां भज।।
ममात्मानं स्वयंज्योतिः सर्वभूतगुहाशयम्।
आत्मन्येवात्मना वीक्ष्य विशोकोऽभयमृच्छसि।।
श्रीमद्भागवतम्.3.24.38-39

26. दत्तो मयाहमिति यद्भगवान् स दत्तः - श्रीमद्भागवतम्, 2.7.4.

27. येन चेतयते विश्वं विश्वं चेतयते न यम्।
यो जागर्ति शयानेऽस्मिन्नायं तं वेद वेद सः।
यं न पश्यति पश्यन्तं चक्षुर्यस्य न रिष्यति।
तं भूतनिलयं देवं सुपर्णमुपधावत।।
श्रीमद्भागवतम्, 8.1.9-10

28. भगवतर्षभेण परिरक्ष्माण एतस्मिन् वर्षे न कश्चन पुरुषो वाञ्छत्यविद्यमानमिवात्मनोऽन्यस्मात्कथञ्चन किमपि कर्हिचिदवेक्षते भर्तर्यनुसेवन विजृम्भितस्नेहातिशयमन्तरेण।। श्रीमद्भागवतम्, 5.4.18

29. नायं देहो देहभाजां नृलोके कष्टान् कामानहते विड्भुजां ये।
तपो दिव्यं पुत्रका येन सत्त्वं शुद्ध्येयस्माद् ब्रह्मसौख्यं त्वनन्तम्।।
श्रीमद्भागवतम्, 5.5.1.

30. महाभारत, शान्तिपर्व-51.121-122, विष्णुपुराण- 1.13.50

31. वरं च मत् कञ्चन मानवेन्द्र वृणीष्वतेऽहं गुणशीलयन्त्रितः।
नाहं मखैकसुलभस्तपोभिर्योगेन वा यत्समचित्तवर्ती।।
श्रीमद्भागवतम्- 4.20.16

32. भवेतामद्य में तुष्टौ मम वध्याविभावपि।
किमन्येन वरेणात्र एतावद्धि वृतं मम।। मर्कण्डेयपुराणम्- 81.74

33. विष्णोराराधने नाहं वारये त्वां सुपुत्रक।
जिह्वा मे शतधा यातु यदि त्वां वारयामि भोः।।
श्रीमद्भागवतम् -4.8.10

34. तत्तात गच्छ भद्रं ते यमुनायास्तटं शुचि।
पुण्यं मधुवनं यत्र सांनिध्यं नित्यदा हरेः ॥
श्रीमद्भागवतम्-4.8.42

35. तस्मा इमं शापमदादसधुरयं दुरात्माकृतबुद्धिरद्य।
विप्रावमन्ता विशतां तमोऽन्धं यथा गजः स्तब्धमतिः स एव ।।
श्रीमद्भागवतम् -8.4.10

36. ये मां स्तुवन्त्यनेनांग प्रतिबुध्य निशात्यये।
तेषां प्राणात्यये चाहं ददामि विमलां मतिम्।।
श्रीमद्भागवतम् -8.4.25

37. मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा।।
गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रजाः।
जीवस्य देह उभयं गुणाश्चेतो मदात्मनः।।
श्रीमद्भागवतम्- 11.13.24-25

ISSN 2278 - 0327

मीमांसा परम्परा में 'विध्यर्थ'

('प्रभा' टीका के विशेष आलोक में)

डॉ. नीरजा कुमारी

(सहायक-आचार्या) संस्कृत-विभाग

महन्त दर्शन दास महिला महाविद्यालय

Email : nirja.sanskrit@gmail.com

शोधसार- प्रस्तुत शोध पत्र में मीमांसा परम्परा में उपलब्ध विध्यर्थ विषयक विचारों का आसूत्रण किया गया है। एतदर्थ मीमांसान्याय प्रकाश पर 'वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर कृत प्रभा टीका' जो कि अन्य संस्कृत टीकाओं में अर्वाचीन है, को आधार बनाया गया है। इस टीका में भाट्ट परम्परा के आचार्य सोमेश्वर, पार्थसारथिमिश्र आदि के मत को प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तुत शोध पत्र में भाट्ट परम्परा के अतिरिक्त गुरुमत के अनुसार भी विध्यर्थ विचार को प्रस्तुत किया गया है, साथ ही व्याकरण तथा न्याय मत को भी दर्शाया गया है।

विधि मीमांसा दर्शन का प्रमुख प्रतिपाद्य है। विधि के शाब्दिक अर्थ पर यदि विचार किया जाये तो 'वि' उपसर्ग पूर्वक 'धा' धातु से 'कि' प्रत्यय होने पर विधि शब्द निष्पन्न होता है। जिसका सामान्य अर्थ है *'विधीयते इति विधि:'* अर्थात् जिसका विधान किया जाये, वह विधि है। मीमांसा दर्शन में विधि एक पारिभाषिक शब्द है। आपदेव के अनुसार प्रयोजनवान् अर्थ का विधान ही विधि की सार्थकता है। विधि के द्वारा किसी अप्राप्त अर्थ का विधान ही किया जाता है। जैसे-*'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम:'* यह वाक्य किसी अन्य अर्थ से अप्राप्त प्रयोजनवान् होम का विधान करता है।[1] प्रभाकार *'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम:'* इस वाक्य के अर्थ को स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि वाक्यार्थ उद्देश्य-विधेयरूप होता है। प्रस्तुत वाक्य में स्वर्ग को उद्देश्य कर होम का विधान हुआ है।[2] इस अग्निहोत्र होम का विधान न तो किसी वचनान्तर से प्राप्त है और न ही प्रमाणान्तर से। अत: ये वैदिक वाक्य ही इस अप्राप्त अर्थ की प्राप्ति कराता है।[3] आपदेव से परवर्त्ती लौगाक्षिभास्कर के अनुसार अज्ञात अर्थ का ज्ञापक वेदभाग विधि कहा जाता है।[4] *'यजेत स्वर्गकाम:'* इस विधि वाक्य में विद्यमान 'यजेत' पद विधि-बोधक लिङ् प्रत्यय से घटित है। यहाँ 'यजि' धातु से लिङ् प्रत्यय हुआ है। लिङ् प्रत्यय विधि प्रत्यय है जो कि प्रेरणा का वाचक है। व्याकरण में भी विध्यादि चार अर्थों (विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट) में ही लिङ् विधान प्राप्त होता है।[5] विध्यादि अर्थों में सर्वत्र प्रवर्तना विद्यमान रहती है। नागेश का मत इस विषय में प्रमाण है।[6] वे अपने मत की पुष्टि हेतु भर्तृहरि को उद्धृत करते हैं।[7] अत: प्रवर्तना ही लिङर्थ है। प्रवृत्ति के अनुकूल प्रेरक का व्यापार ही प्रवर्तना कहा जाता है। यह प्रवृत्ति शिष्यादि प्रेरितनिष्ठ ही रहती है। प्रेरक वाक्य ही विधि वाक्य है। जैमिनि ने विधि वाक्यों को ही मन्त्र माना है[8] तथा शेष भाग को ब्राह्मण कहते हैं।[9]

भाट्ट मीमांसकों के मत में लिङ् आदि प्रत्यय का व्यापार ही विधि है। यह व्यापार शाब्दी भावना है जो कि लिङ् आदि प्रत्यय से वाच्य है।[10] प्रभाकार भी प्रत्ययार्थ को भावना के रूप में कहते हैं।[11] इस का ही एक नाम अभिधा भावना है। अभिधा ही लिङ आदि का अर्थ है। अभिधा का अर्थ है, विधि का व्यापारीभूत विधि से युक्त भावना नामक अतिरिक्त पदार्थ विशेष। प्रभाकार अभिधा शब्द को कारणसाधन मानते हैं।[12] इस अभिधा का ज्ञान प्रवर्तक है और भावना में भावना के रूप में ही विधानशक्ति रहती है।[13] यह भावना प्रयोजकनिष्ठ व्यापार है।[14] जो दो प्रकार की है- शाब्दी भावना और आर्थी भावना। भाट्ट मीमांसकों का मन्तव्य है कि यह भावना ही वाक्यार्थ है। इसलिये मीमांसा परम्परा में भाट्टों को भावना वाक्यार्थवादी के रूप में जाना जाता है- *'तद्व्यापारात्मिका भावना लिङादिवाच्येति केचिदाचार्या:'*।[15] प्रभाकार *'केचिदाचार्या:'* इस पद को न्यायसुधाकार (सोमेश्वर) के मत के रूप में दर्शाते हैं।[16] जिससे भाट्ट परम्परा में भी विध्यर्थ विषयक वैमत्य परिलक्षित होता है। भाट्ट परम्परा के ही प्रमुख विद्वान् पार्थसारथिमिश्र प्रवर्तना को इष्टसाधन के रूप में विध्यर्थ स्वीकार करते हैं। लिङादि विधि शब्द का दस लकारों में साधारण रूप से विद्यमान आख्यात्व के द्वारा पुरुष प्रवृत्ति रूप आर्थी भावना के प्रति वाचकत्व सिद्ध होता

है। विधि शब्द का सर्वलकार साधारण यह अर्थ किसी विशेष व्यापार की अपेक्षा करता है। धात्वर्थ में रहने वाली इष्टसाधनता ही वह व्यापार-विशेष कहा जाता है।[17] वासुदेव शास्त्री इस मत को स्पष्ट करने हेतु 'यजेत' इस पद में इष्टसाधनता को प्रवर्तना-विशेष मानने में लाघव को प्रदर्शित करते हैं।[18] प्रभाकार पार्थसारथि के मत को व्याख्यायित करते हुये सोमेश्वर के लिये भी इष्टसाधनता की अपरिहार्यता को दर्शाते हैं कि सोमेश्वर को भी इष्टसाधनता को सहकारी कारण के रूप में अवश्य स्वीकार करना पड़ता है, अन्यथा विधि का प्रेरकत्व सिद्ध ही नहीं हो पायेगा। [19]

प्रभाकर मीमांसकों के मत में नियोग ही विध्यर्थ है। नियोग शब्द की निष्पत्ति कर्तृवाच्य घञ् प्रत्यय होने से होती है '*नियुक्ते इति नियोग:*' अर्थात् नियोग नियोज्य पुरुष को कार्य की सिद्धि हेतु नियोग विषय में नियुक्त करता है।' *स्वसिद्धये नियोज्यं स्वविषये नियुङ्क्ते: नियोग:*'। कार्य, अपूर्व इत्यादि शब्द नियोग के ही पर्याय हैं। कार्य का अभिप्राय है जो कर्त्ता के प्रयत्न से साध्य हो। कार्य कृतिसाध्य होने से ही कार्य कहलाता है।[20] विधि वाक्य को सुनने के पश्चात् जो पुरुष *'यह मेरा कार्य है'* जो इस प्रकार का बोध करता है, उसे नियोज्य कहा जाता है।[21] ' *स्वर्गकामो यजेत*' इत्यादि वाक्य में स्वर्ग साध्य है और उसकी कामना करने वाला पुरुष ही स्वर्गकाम कहा गया है। स्वर्ग की कामना करने वाला पुरुष उसी प्रकार के कर्म में नियोज्य होता है। कृति साध्य ही कार्य कहा जाता है। अत: कृति के ज्ञान के बिना कार्य का ज्ञान सम्भव नहीं होता क्योंकि कृति के प्रति जो प्रधान है, वही कार्य है। यह कृति कार्य सिद्धि हेतु पुरुष द्वारा किया गया प्रयत्न है। प्रभाकर मीमांसक कार्य, अपूर्व अथवा नियोग को ही वाक्यार्थ अथवा विध्यर्थ स्वीकार करते हैं। इसलिये वे कार्य वाक्यार्थवादी, अपूर्व वाक्यार्थवादी और नियोग वाक्यार्थवादी कहे जाते हैं। वे भावना को वाक्यार्थ के रूप में स्वीकार नहीं करते।[22]

विधिविवेक कार मण्डनमिश्र के मत में इष्टसाधनता ही विध्यर्थ है। उनका मन्तव्य है कि *कृतिसाध्यता लोकत:* ही ज्ञात हो जाती है। इस लिये कृतिसाध्यता हेतु विधि की अपेक्षा नहीं है। अनुमानत: याग की कृतिसाध्यता स्पष्ट हो जाती है। मण्डन मिश्र के मत में प्रभाकरों की कार्यता इष्टसाधनता से भिन्न नहीं है। वह इष्टसाधनता ही प्रवृत्ति की हेतु विधि कही जाती है –

अपेक्षितोपायतैव विधिरिष्टो मनीषिभि:।
अतोऽध्यवसायादिर्नाकस्मात्राऽभिधानत: ॥[23]
कर्तुरिष्टाभ्युपाये हि कर्त्तव्यमिति लोकधी:।
विपरीते त्वकर्त्तव्यमिति तद्विषये मत: ॥[24]

स्वर्गादि की इष्ट साधनता का बोध प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं है। एतदर्थ आम्नाय वाक्य ही प्रमाण है। अत: प्रमाणान्तर से विदित न होने के कारण स्वर्ग आदि की इष्टसाधनता में विधि की शक्ति स्वीकार की जाती है। इस प्रकार मण्डनमिश्र एवं उन के अनुयायी इष्टसाधनता के ज्ञान को ही प्रवृत्ति का कारण मानते हैं जबकि गुरुमत में कार्यता के ज्ञान को ही प्रवृत्ति का हेतु माना गया है।

इष्टसाधनता का अन्वय आख्यातार्थ में होता है। प्रवृत्ति में इष्टसाधनता ही हेतु है। यहाँ शङ्का उपस्थित होती है कि न्याय मत में भी इष्टसाधनता ही विध्यर्थ है। अत: नैयायिक से भाट्टमत का वैशिष्ट्य है ? इसका समाधान यह है कि नैयायिक मत में क्रियागत इष्टसाधनता ही विध्यर्थ है जबकि भाट्टमत में इष्टसाधनता प्रवृत्तिगत है। भाट्टमत में अभिधा का अभ्युपगम होता है जबकि न्याय मत में ऐसा नहीं होता। यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि अभिधा नामक व्यापार का ग्रहण भाट्टमत में क्यों किया जाता है। इसका समाधान यह है कि व्यापार से भिन्न में व्यापार की उत्पत्ति स्वनिष्ठ व्यापार से होती है। जैसे दण्ड चक्र में न रहने वाले स्पन्दन व्यापार का जनक है जो कि दण्ड में रहने वाले स्पन्दन के द्वारा ही सम्भव होता है। जहाँ व्यापार परनिष्ठ व्यापार का जनक होता है वहाँ भी किसी न किसी स्वनिष्ठ व्यापार का अभ्युपगम किया जाता है। इस प्रकार इष्टसाधनता ही विध्यर्थ है। भाट्ट और न्याय मत में यही विशेषता है।

शालिकनाथ ने मण्डन मिश्र द्वारा स्वीकृत इष्टसाधनता का खण्डन किया है। उन के मत में कार्यता व इष्टसाधनता में भेद है। इष्टसाधनता का दूसरा नाम फलसाधनता है। शालिकनाथ के मत में कार्यता से अभिप्राय कृतिसाध्यता से है। इष्टसाधनता तो फल की उत्पत्ति में करण है।[25] इस प्रकार मण्डनमिश्राभिमत 'इष्टसाधनता ही विध्यर्थ है', इस मत का खण्डन शालिकनाथ ने किया है। अत: यह कहा जा सकता है कि लिङादि की कार्यपरता सभी विद्वानों को निर्विवाद रूप से स्वीकृत है और कार्य ही विध्यर्थ है, ऐसा प्राभाकर मीमांसकों का मत है। अत: यह कहा जा सकता है कि लिङादि शब्दनिष्ठ प्रवर्तना, प्रेरणा, शाब्दभवना, इत्यादि व्यापार विशेष ही विधि का अर्थ है।

मीमांसा परम्परा के आडोलन से विध्यर्थविषयक निम्नलिखित मत हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं-

1. भाट्टमीमांसकों में तत्तद्-धात्वर्थगत कार्यत्व लिङर्थ है, और वहीं कुछ अन्य आचार्य लिङादिशब्दनिष्ठ अर्थ के प्रकाशन में समर्थ अभिधा नामक व्यापार को लिङर्थ मानते हैं।

2. सोमेश्वर और खण्डदेव के अनुसार इष्टसाधनत्व आदि से अतिरिक्त प्रवर्तना नामक कोई अलौकिक धर्मविशेष लिङर्थ (विध्यर्थ) है।
3. पार्थसारथिमिश्र के अनुसार इष्टसाधनत्व ही लिङर्थ है जो कि प्रवर्तनात्वरूप है।
4. प्राभाकर मत में कार्यात्मक नियोग अथवा अपूर्व ही लिङर्थ है।

इस के अतिरिक्त नव्य वैयाकरण इष्टसाधनत्व को, नैयायिक इष्टसाधनत्व, बलवदनिष्टानुबन्धित्व और कृतिसाध्यता इन तीनों के सम्मिलित रूप को, रत्नकोषकार कृतिसाध्यता को, वेदान्ती (रामानुजाचार्य) भगवदाज्ञा को, सुरेश्वराचार्य और चित्सुखाचार्य इष्टसाधनत्व को, वाचस्पतिमिश्र इष्टसाधनत्व और कृतिसाध्यता दोनों को ही विध्यर्थ के रूप में स्वीकार करते हैं।[26]

सन्दर्भ सूची -

1. तत्र विधिः प्रयोजनवदर्थविधानेनार्थवान्। स चाप्राप्तमर्थं विधत्ते। यथा 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इति विधिरप्राप्तं प्रयोजनवद्धोमं विधत्ते। मी.न्या.प्र. पृ. 16
2. उद्देश्यविधेयभावो हि वाक्यार्थः प्रकृते स्वर्गमुद्दिश्याप्राप्तो होमो विधीयते। प्र.टी, पृ.सं. 17
3. अग्निहोत्रं जुहुयादित्येवं विधिरूपो यो वेदभागः स यदि न स्यात्तर्हि अग्निहोत्रहोमरूपोऽर्थो वचनान्तरेण न प्राप्नोति। तादृशवचनान्तरानुपलम्भात्। नापि प्रमाणान्तरेण प्राप्नोति। तादृशप्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरासम्भवात्। तथा चाप्राप्तो योऽग्निहोत्रहोमरूपोऽर्थस्तस्यविधायकमग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इत्येव वाक्यम्। प्र.टी., पृ.सं. 17
4. तत्र अज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः। अ.सं., पृ. 32।
5. विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्ट सम्प्रश्नप्रार्थनेषु लिङ्, पा. 3/3/161
6. तत्र विध्यादिचतुष्टयनुस्यूतप्रवर्त्तनात्वेन चतुर्णां वाच्यता लाघवात्। प.ल.मं. पृ. 127
7. अस्ति प्रवर्त्तनारूपमनुस्यूतं चतुर्ष्वपि।
   तत्रैव लिङ्विधातव्यः किं भेदस्य विवक्षया ॥ वहीं, उद्धृत
8. तच्चोदकेषु मन्त्राख्या, जै.2/1/32
9. शेषे ब्राह्मणशब्दः, जै. 2/1/33
10. अभिधाभावनामाहुरन्यामेव लिङादयः। त.वा. 2/1/1
11. त इति प्रत्ययांशस्यार्थस्तु तादृशयागानुकूला भावना, प्र.टी., पृ.सं. 5
12. अभिधाशब्दः करणसाधनः शब्दपर्यायः, प्र.टी., पृ.सं. 270
13. तन्निष्ठा भावना वैदिकशब्दनिष्ठत्वेन प्रकल्पितः कश्चित्प्रवर्तना-विशेषरूपो व्यापारः, प्र.टी., वहीं
14. भावनात्वं नाम भवितुः प्रयोजकव्यापारत्वम्, मी.प. पृ. 80
15. मी.न्या.प्र., पृ.सं. 270
16. केचिदाचार्याः। न्यायसुधाकाराः, वहीं, प्र.टी, पृ.सं. 270
17. तत्र कोऽसौ व्यापारविशेष इत्यपेक्षायां धात्वर्थगतं समीहितसाधनत्वमेवेति कल्प्यते, मी.न्या.प्र. पृ.सं. 270
18. तदपेक्षया धात्वर्थे यागे इष्टसाधनत्वं विद्यते। इष्टसाधनत्वस्य च प्रवृत्तिहेतुत्वं लोकतोऽवगम्यते। चेत्येवमिष्टसाधनतैवात्र प्रवर्तनाविशेष इत्यङ्गीकारे लाघवं भवति, प्र.टी., वहीं पृ.सं. 270
19. वैदिकशब्दनिष्ठव्यापारविसेषरूपा प्रेरणेति ये न्यायसुधाकारा मन्यन्ते तन्मतेऽपि इष्टसाधनत्वज्ञानं प्रवृत्तौ प्रेरणायाः सहकारिकारणत्वेनावश्यं कल्पनीयमेव। अन्यथा विधिशतेनापि प्रवृत्तिर्न स्यादिति विधेः प्रवर्त्तकत्वानुपपत्तिः, प्र.टी., पृ.सं. 271
20. कृतिसाध्यं प्रधानं यत् तत् कार्यमभिधीयते। वा.मा. 13
21. तं.र. पृ. 54
22. अत एव अस्मन्मते भावना न वाक्यार्थः। किन्तु कार्यमेव। तं.र. पृ.55-56
23. ब्र.सि.-3/103-1/2
24. वि.वि. श्लो. 30
25. कार्यता कृतिसाध्यत्वं फलसाधनता पुनः।
    करणत्वं फलोत्पादेऽभिद्येते ते परस्परम् ॥
    वा.मा. 7-1/2, 8-1/2
26. द्रष्टव्य, सा.वि., पृ.सं. 179 (पादटिप्पणी)

संकेताक्षर- सूची

अ.सं.	-	अर्थसंग्रहः
त.र.	-	तन्त्ररहस्य
त.वा.	-	तन्त्रवार्त्तिक
पा.	-	पाणिनिसूत्रम्
प्र.टी.	-	प्रभा टीका
ब्र.सि.	-	ब्रह्मसिद्धिः
मी.न्या.प्र.	-	मीमांसान्यायप्रकाशः
मी.प.	-	मीमांसा-परिभाषा
वा.मा.	-	वाक्यार्थमातृका
वि.वि.	-	विधिविवेकः
सा.वि	-	सारविवेचिनी

ISSN 2278 - 0327

'राष्ट्रिय शिक्षा नीति 2020' में भारतीय भाषाओं के उन्नयन हेतु प्रावधान

डॉ. ज्ञानेन्द्र कुमार
असिस्टेंट प्रोफेसर, शिक्षा संकाय
दिल्ली विश्वविद्यालय

सारांश – जैसा कि सर्वविदित है कि भारत सरकार द्वारा 'राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020' का प्रारूप देश के सम्मुख रखा गया है 34 वर्षों बाद इस बहुप्रतीक्षित शिक्षा नीति में देश की शिक्षा के लिए अनेक ऐसे बदलावों की संस्तुति की गई है जिनकी मांग लंबे समय से महसूस किए जाती रही है। इस शिक्षा नीति के आने के बाद से ही शिक्षा जगत् में एक ओर जहाँ उत्साह का वातावरण है, यह उत्साह इसलिए है कि यह शिक्षा नीति उन सभी समस्याओं की चर्चा करती है जिनके समाधान की आवश्यकता काफी समय से अनुभव की जा रही थी, वहीं दूसरी ओर यह आशंका भी व्यक्त की जा रही है कि क्या ये प्रस्तावित बदलाव वर्तमान में संचालित शिक्षा व्यवस्था की गुणवत्ता का संवर्धन करेंगे ? साथ ही भारतीय भाषाओं के उन्नयन के लिए जिन नवीन प्रावधानों की संस्तुति दी गई है क्या ये प्रावधान उस सीमा तक भारतीय भाषाओं के संवर्धन में समर्थ होंगे ? जिस सीमा को ध्यान में रखकर इनकी संस्तुति की गई है और सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या 'राष्ट्रिय शिक्षा नीति 2020' भारतीय जनमानस की आकांक्षाओं की संपूर्ति में समर्थ होगी ? यह शोधपत्र इन सभी प्रश्नों पर सविस्तार चर्चा करता है।

मुख्य बिन्दु– त्रिभाषा सूत्र, भारतीय भाषाएँ,

'प्राचीन और सनातन भारतीय ज्ञान और विचार की समृद्ध परंपरा के आलोक में यह नीति तैयार की गई है'

(राष्ट्रिय शिक्षा नीति पृष्ठ सं 04 2020)

जब भी हम भाषा के विषय में सोचते है तो सामान्य जनमानस के मस्तिष्क में यह आता है कि भाषा संवाद का एक प्रभावी और सशक्त माध्यम मात्र है किन्तु यह भाषा का संकीर्ण आशय है यदि भाषा केवल संवाद का माध्यम मात्र होती, तो भाषा को लेकर, ना केवल भारत अपितु विश्व भर में जो विवाद हैं वे होते ही नहीं, इसका मतलब है कि भाषा केवल संवाद का माध्यम मात्र तो बिल्कुल नहीं है तो प्रश्न उठता है तो फिर यह भाषा क्या है ? इसका सीधा सा उत्तर है कि जहाँ यह(भाषा) एक ओर किसी व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की पहचान है वहीं दूसरी ओर यह उस समाज या राष्ट्र की संस्कृति और पहचान की संवाहिका भी है। इसीलिए जब एक भाषा लुप्त होती है तो उस भाषा के साथ ही उस विशिष्ट संस्कृति और परंपरा का भी लोप हो जाता है अगर बात करें भारतीय भाषाओं की तो विगत पचास वर्षों में '220' भाषायें लुप्त हो चुकी हैं आप कल्पना करके देखें कि इन भाषाओं के लुप्त होने से ज्ञान के कितने कोश का क्षरण हुआ है इसीलिए इन 'लुप्तप्राय' भाषाओं के संरक्षण के लिए त्वरित और प्रभावी कार्य करने की आवश्यकता है इसी बात को संज्ञान में लेते हुए राष्ट्रिय शिक्षा नीति 2020 में कहा गया है कि 'दुर्भाग्य से, भारतीय भाषाओं को समुचित ध्यान और देखभाल नहीं मिल पाई जिसके तहत देश ने विगत 50 वर्षों में ही 220 भाषाओं को खो दिया है। यूनेस्को ने 197 भारतीय भाषाओं की 'लुप्तप्राय:' घोषित किया है। विभिन्न भाषाएँ विलुप्त होने के कगार पर हैं विशेषत: वे भाषाएँ जिनकी लिपि नहीं है। जब किसी समुदाय या जनजाति के, उस भाषा को बोलने वाले वरिष्ठ सदस्य की मृत्यु होती है तो अक्सर वह भाषा भी उनके साथ ही समाप्त हो जाती है, और प्राय: इन समृद्ध भाषाओं/ संस्कृति की अभिव्यक्तियों को संरक्षित या उन्हें रिकार्ड करने के लिए कोई ठोस कार्रवाईया उपाय नहीं किये जाते हैं।' (22.5 रा.शि.नी.2020) भाषाओं का इस प्रकार से लुप्त होने से निश्चित रूप से उस समाज विशेष के लिए एक बड़ी हानि होती है राष्ट्रिय नीति शिक्षा 2020 ने भारतीय भाषाओं के इस विलोपन को समस्या को बड़ी गंभीरता से लिया है और इसके खत्म करने या कम करने पर अपने सुझाव भी दिए हैं। परिणामस्वरूप इनके संरक्षण हेतु इन भारतीय भाषाओं में पाठ्यसामग्री निर्माण हेतु सुझाव दिए हैं जिनसे इन लुप्त होती भाषाओं का संरक्षण और संवर्धन संभव हो सके। यहाँ राष्ट्रिय शिक्षानीति 2020 में कहा गया है कि ' भारतीय भाषाओं के शिक्षण और अधिगम को स्कूल और उच्चतर शिक्षा के प्रत्येक स्तर के साथ एकीकृत करने की आवश्यकता है। भाषाएँ प्रासंगिक और

जीवंत बनी रहें इसके लिए इन भाषाओं में उच्चतर गुणवत्तापूर्ण अधिगम एवं प्रिंट सामग्री का सतत प्रवाह बने रहना चाहिए – जिसमे पाठ्य पुस्तकें, अभ्यास पुस्तकें, वीडियो, नाटक, कवितायें, उपन्यास, पत्रिकाएं आदि शामिल हैं। भाषाओं के शब्दकोशों और शब्द भण्डार को अधिकारिक रूप में लगातार अपडेट/अद्यतन होते रहना चाहिए और व्यापक प्रसार भी करना चाहिए ताकि समसामयिक मुद्दों और अवधारणाओं पर इन भाषाओं में चर्चा की जा सके। (22.6 रा.शि.नी.2020) इस नीति में भारतीय भाषाओं के संवर्धन के लिए अनेकों सुझाव/ प्रावधान दिए हैं जिनको ग्रास रूट लेवल पर अनुप्रयोग करने से भारतीय भाषाओं जहाँ एक ओर भाषाओं का संरक्षण होगा, वहीं दूसरी ओर इनके प्रचार और प्रसार में भी काफी सहायता होगी। इस नीति में भारतीय भाषाओं के समुन्नयन हेतु जो सुझाव दिए हैं उन सुझाव में एक महत्वपूर्ण सुझाव दिया है कि शिक्षा की माध्यम भाषा 'मातृभाषा' होनी चाहिए इसके लिए नीति में कक्षा पांचवी तक और संभव हो तो कक्षा आठवी तक शिक्षा की माध्यम भाषा मातृभाषा को बनाने की संस्तुति दी है इसके संदर्भ में राष्ट्रिय शिक्षा नीति 2020 में प्रावधान है कि 'जहां तक संभव हो, कम से कम ग्रेड 5 तक, लेकिन बेहतर यह होगा कि यह ग्रेड 8 और उससे आगे तक भी हो, शिक्षा का माध्यम, घरकीभाषा/मातृभाषा/स्थानीयभाषा/क्षेत्रीय भाषा होगी। इसके बाद, घर/स्थानीय भाषा को जहां तक भी संभव हो, भाषा के रूप में पढ़ाया जाता रहेगा। सार्वजनिक और निजी दोनों तरह से स्कूल इसकी अनुपालना करेंगे। विज्ञान सहित सभी विषयों में उच्चतर गुणवत्ता वाली पाठ्यपुस्तकों को घरेलू भाषाओं/मातृभाषा में उपलब्ध कराया जाएगा।यह सुनिश्चित करने के लिए सभी प्रयास जल्दी किए जाएंगे कि बच्चे द्वारा बोली जाने वाली भाषा और शिक्षण के माध्यम के बीच यदि कोई अंतराल मौजूद हो तो उसे समाप्त किया जा सके'। (4.11 रा.शि. नी. 2020) यह मातृभाषा विशेष रूप से भारतीय भाषाओं के उन्नयन का एक सार्थक और प्रभावी सुझाव है। जोकि प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से भारतीय भाषाओं के संवर्धन में एक मील का पत्थर साबित होगा। किसी भाषा के प्रचार और प्रसार के लिए यह अत्यंत आवशयक है कि भाषा के शिक्षण की विद्यालयों और महाविद्यालयों में अध्ययन और अध्यापन की समुचित व्यवस्था हो ताकि नवसंतति उस भाषा विशेष का अध्ययन उचित प्रकार से कर सके किन्तु यह व्यवस्था तभी सफल है जब इन विद्यालयों में अध्यापन करने वाले शिक्षक उस भाषा विशेष के शिक्षण में दक्ष और निपुण हों। भाषा के उन्नयन में इस आवश्यकता को राष्ट्रिय शिक्षा नीति 2020 ने अपने सुझावों में स्थान दिया है इस सम्बन्ध में नीति की संस्तुति है कि 'इसके अतिरिक्त, कई उपाय करने के पश्चात् भी देश में भाषा सिखाने वाले कुशल शिक्षकों की अत्यधिक कमी रही है। भाषा शिक्षण में भी सुधार किया जाना चाहिए ताकि वह अधिक अनुभव आधारित बने और भाषा में बातचीत और अंतर्क्रिया करने की क्षमता पर केन्द्रित हो, न कि केवल भाषा के साहित्य, शब्द भंडार और व्याकरण पर। भाषाओं को अधिक व्यापक रूप में बातचीत और शिक्षण– अधिगम के लिए प्रयोग में लिया जाना चाहिए।'(22.7 रा.शि. नी. 2020) ऐसा बिल्कुल नहीं है राष्ट्रिय शिक्षा नीति 2020 में ही भारतीय भाषाओं के संवर्धन और संरक्षण की संस्तुति की गई इससे पूर्व भी स्वतंत्रता के पश्चात् सन् 1948 को डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् की अध्यक्षता में गठित विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग गठित किया गया। इस आयोग ने विश्वविद्यालय शिक्षा का माध्यम के रूप में क्षेत्रीय भाषाओं को बनाने की सिफारिश की इसके सम्बन्ध में आयोग ने कहा था कि 'उच्च शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी के बजाय प्रादेशिक भाषाएं होनी चाहिए परंतु यदि विद्यार्थी चाहे तो राष्ट्रभाषा (हिंदी देवनागरी लिपि) का प्रयोग कर सकते हैं' उक्त वक्तव्य से स्पष्ट है कि आयोग का स्पष्ट मत था कि उच्च शिक्षा में शिक्षण का माध्यम प्रादेशिक भाषा और मातृभाषा अथवा हिंदी हो, न की अंग्रेजी। इसके पश्चात् सन् 1952 में 'लक्ष्मण स्वामी मुदालियर' की अध्यक्षता में गठित माध्यमिक शिक्षा का भी यही मत था कि भारतीय भाषाओं का संवर्धन तब तक संभव नहीं जब तक इन भाषाओं को औपचारिक शिक्षा व्यवस्था में स्थान नहीं दिया जाता है। इसके सम्बन्ध में आयोग का मत है कि 'माध्यमिक स्तर पर क्षेत्रीय भाषा ही शिक्षण का माध्यम रहेगी'। कालांतर में दिनांक 14 जुलाई सन् 1964 को गठित 'भारतीय शिक्षा आयोग' ने भी क्षेत्रीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने की संस्तुति दी, इस आयोग के अध्यक्ष प्रो.डी.एस.कोठारी थे इस आयोग ने भारतीय शिक्षा व्यवस्था से जुड़े सभी हितधारकों (स्टेकहोल्डर्स) से आये ही सुझावों का निरीक्षण करने के उपरांत लगभग सात सौ पृष्ठों का एक प्रतिवेदन तत्कालीन सरकार के समक्ष प्रस्तुत किया। इस प्रतिवेदन में आयोग ने भारतीय भाषाओं के उन्नयन हेतु अपने विचार देते हुए कहा कि 'स्कूल और कॉलेज स्तर पर शिक्षा का माध्यम बनने के लिए मातृभाषा का सर्वप्रथम अधिकार है। अत: प्रादेशिक भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाना चाहिए'। उक्त कथनों से एक बात बिल्कुल स्पष्ट है कि शिक्षा में गुणात्मक सुधार के लिए जितनी समितियां या आयोगों बने उन सभी का मत था

कि शिक्षा का माध्यम मातृभाषा/ क्षेत्रीय भाषा/ प्रादेशिक भाषा/ओं को होना चाहिए क्योंकि तत्कालीन नीति निर्माताओं का स्पष्ट मंतव्य था कि देश की वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में भारतीय भाषाओं को पर्याप्त और महत्वपूर्ण स्थान दिए बिना इनका संरक्षण और संवर्धन संभव ही नहीं है। भारत भाषायी रूप से अत्यंत समृद्ध देश है इसका ज्ञान हमें जनगणना 2011 से ही पता चलता है जहाँ कुल जनसंख्या में 26% (जनसंख्या लगभग 31.49 करोड़) लोग द्विभाषी हैं साथ ही कुल आबादी में 7% लोग त्रिभाषी हैं। इसके अलावा भारत में मुख्य रूप से चार अलग-अलग भाषा परिवारों की भाषाएँ बोली जाती हैं सामान्यत: उत्तर भारत में बोली जाने वाली भाषाएं 'भारोपीय भाषा' परिवार से आती हैं,'द्राविड़ भाषा' परिवार की भाषाएं दक्षिण भारत में बोली जाती है,'आस्ट्रो-एशियाटिक परिवार' की भाषाओं को मुंडारी भाषा समूह कहा जाता है पूर्वोत्तर में बोली जाने वाली भाषाएँ 'तिब्बती वर्मी भाषा' समूह से आती है। भारत की भाषायी विविधता इतनी विशालता लिए हुए है और यही भाषायी वैविध्य ही भारत को बहुरंगी संस्कृतियों का देश के रूप में विश्व में सम्मान और आदर दिलाता है। यह विविधता हमारे लिए विकास में बाधक के रूप में नहीं है बल्कि विकास के पथ में बढ़ने के लिए साधक के रूप में है जो हमें आपस में जोड़ने में भी सहायक है इसलिए हम सभी धर्मों और संस्कृतियों का सम्मान करते हैं। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का चिन्तन ही हमारी इस 'अनेकता में एकता' का आधार है। अगर भारत की भाषायी वैविध्य को और गहनता से जानने के लिए हमें जनगणना 2011को ध्यान पूर्वक देखना होगा इस अवलोकन में हम पाएंगे कि 2011 कि देश में भाषा के मानक पर खरी उतरने वाली1,369 बोलियां/भाषाएं थीं। इसमें से 121 भाषाएं ऐसी हैं, जिनके बोलने वालों की संख्या 10,000 से अधिक है। इनमें आठवीं अनुसूची की 22 भाषाएं भी सम्मिलित हैं। आठवीं अनुसूची में जिन बाईस भाषाओं को सम्मिलित किया गया है भारत की कुल जनसंख्या के 90% लोगों की मातृभाषा इन्हीं भाषाओं से है। इनके अलावा संस्कृत, ओडिया, कन्नड़, मलयालम,ओडिया, तमिल तथा तेलगु को शास्त्रीय भाषाओं (क्लासिकल लैंग्वेज) में शामिल किया गया है तथा इनके प्रचार-प्रसार के लिए सरकारों द्वारा अनेक अकादामियों और संस्थानों की स्थापना की गई है। इन सभी शास्त्रीय भाषाओं में संस्कृत एक मात्र ऐसी भाषा है जो किसी भी राज्य की भाषा नहीं है इसलिए इसके संरक्षण और संवर्धन के लिए अतिरिक्त प्रयास करने की आवश्यकता है। ऐसा नहीं है कि सरकार द्वारा भारतीय भाषाओं के संरक्षण के लिए प्रयास नहीं किये जा रहे है। भाषाओं के क्षेत्र में वर्तमान में कार्य कर रही सरकार की संस्थाएं इस प्रकार हैं-केंद्रीय भारतीय भाषा संस्थान, केंद्रीय हिंदी संस्थान, साहित्य अकादमी, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली केंद्र, राष्ट्रीय उर्दू भाषा संवर्धन परिषद, राष्ट्रीय सिंधी भाषा संवर्धन संस्थान, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान (आरएसकेएस), महर्षि सांदीपनी राष्ट्रीय वेद विद्या प्रतिष्ठान, केंद्रीय अंग्रेजी भाषा और विदेशी भाषा संस्थान। इनके अतिरिक्त तीन संस्कृत के, एक उर्दू तथा एक हिंदी का केंद्रीय विश्वविद्यालय है। इसके अतिरिक्त भारतीय भाषाओं से जुड़ी अनेक अकादमियां, भाषा संस्थान और ग्रंथ अकादमियां स्थापित हैं जैसे दिल्ली संस्कृत अकादमी, उत्तराखंड संस्कृत अकादमी उत्तरप्रदेश संस्कृत अकादमी, हरियाणा संस्कृत अकादमी इत्यादि। राज्य सरकारों द्वारा संस्कृत के लिए लगभग सोलह संस्कृत विश्वविद्यालयों की स्थापना की गई है। भारतीय भाषा के संवर्धन के लिए राज्यों द्वारा अपने यहाँ अलग से निदेशालय भी बनाये गए हैं जैसे उत्तर प्रदेश, उत्तराखंड, राजस्थान। उत्तराखंड ने संस्कृत को अपने राज्य की द्वितीय भाषा का दर्जा भी दिया है। इनके अतिरिक्त भारतीय भाषाओं के विकास के लिए अनेक गैर सरकारी संस्थाएं भी कार्यरत हैं। अभी हाल में ही केन्द्रीय शिक्षा मंत्री ने जेईई मेंस की परीक्षा में प्रश्नों के उत्तर देने के लिए तेरह भारतीय भाषाओं की स्वीकृति दी है ये प्रश्नपत्र अंग्रेजी भाषा के अतिरिक्त हिंदी, ओडिया, मराठी, गुजरती, उर्दू, तमिल, तेलुगु, असमिया, बंगाली, कन्नड़, मलयालम और पंजाबी में होंगे। ये प्रयास प्रारंभ छोटे अवश्य दिखाई देते हैं किन्तु ये भारतीय भाषाओं के संवर्धन के लिए समाज में सकारात्मक वातावरण निर्माण करने में महती भूमिका निभाते हैं। इतने सरकारी और गैर सरकारी प्रयासों के बाद भी भारतीय भाषाओं का संरक्षण औए संवर्धन उस सीमा तक नहीं हो पाया जिस सीमा तक इन प्रयासों के बाद होना चाहिए। पीपुल्स लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया (पी.एल.एस.आई) के 2013 के अध्ययन के अनुसार, देश में वर्तमान 780 भाषाएं हैं। जबकि पिछले 50 वर्ष में देश से 220 से अधिक भाषाएं विलुप्त हो चुकी हैं तथा 197 'लुप्तप्राय' हैं। टाइम्स ऑफ इंडिया के 9 अगस्त 2013 के एक अंक में बताया गया कि भारत ने पांच दशकों में अपनी 20% भाषाओं को खो दिया है इसी आलेख में बताया गया है कि 1961 भारत में 1,100 भाषाएं थी जिनमें से लगभग 220 भाषाएं लुप्त हो चुकी हैं। इसी बात को राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 में भी दोहराया गया है' दुर्भाग्य से भारतीय भाषाओं को समुचित ध्यान और देखभाल नहीं मिल पाई जिसके तहत देश

ने विगत 50 वर्षों में ही 220 भाषाओं को खो दिया है। यूनेस्को ने 197 भारतीय भाषाओं की 'लुप्तप्राय:' घोषित किया है। विभिन्न भाषाएँ विलुप्त होने के कगार पर हैं विशेषत: वे भाषाएँ जिनकी लिपि नहीं है।' (22.5 रा.शि.नी.2020) राष्ट्रियशिक्षा नीति 2020 ने इसी समस्या के समाधान के अनेकों सुधारों की सिफारिश की है जिसमें आठवीं अनुसूची में शामिल प्रत्येक भाषा की अकादमी स्थापित करने का सुझाव दिया गया है जो कि अपने आप में भारतीय भाषाओं के विकास में मील पत्थर साबित होगा। (22.18 रा.शि.नी.2020) क्योंकि लम्बे समय से भाषाओं में रचित साहित्य के सरंक्षण और संवर्धन की मांग की जाती रही है। यह प्रयास उस मांग की सम्पूर्ति में काफी सहायक होगा साथ ही उस भाषा में नव साहित्य का सृजन और प्रमाणिक शोध कार्य हो सकेगा। इसके अतिरिक्त भारतीय भाषाओं और उससे संबंधित साहित्य, स्थानीय संस्कृति के संरक्षण हेतु वेब आधारित प्लेटफार्म/ पोर्टल/विकिपीडिया के माध्यम से दस्तावेजीकरण करने की सिफारिश की गई है (22.19) इसके साथ ही शास्त्रीय, आदिवासी और लुप्तप्राय भाषाओं के संरक्षण को बढ़ावा देने के लिए नए जोश प्रयास करने पर बल दिया गया है (22.17)। इसी प्रकार सभी शास्त्रीय भाषाओं और साहित्य के अध्ययन को बढ़ावा देने के लिए नए संस्थानों और विश्वविद्यालय स्थापित करने साथ- साथ जो संस्थान और विश्विद्यालय पहले से ही भारतीय भाषाओं के प्रचार- प्रसार के लिए पहले से ही कार्य कर रहें है उन्हें और मजबूत करने की संस्तुति दी गई है(22.16) इसके अलावा सुझाव भारतीय भाषाओं के उन्नयन के लिए एक महत्वपूर्ण और ऐतिहासिक प्रावधान की सिफारिश की गई है जो भारतीय भाषाओं के अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रचार और प्रसार में मील का पत्थर साबित होगा वह है भारतीय भाषाओं में लिखित साहित्य और ज्ञान विदेशी भाषाओं में अनुवाद हेतु एक संस्थान आईआईटीआई (इंस्टिट्युट ऑफ ट्रांसलेशन एंड इंटरप्रिटेशन)की स्थापना की सिफारिश की गई (22.14)। भारतीय भाषाओं में भी संस्कृत भाषा के संरक्षण और संवर्धन हेतु राष्ट्रिय शिक्षा नीति 2020 विशेष बल दिय है इसके सम्बन्ध में नीति का कहना है कि 'संस्कृत भाषा के बृहद् एवं महत्वपूर्ण योगदान तथा विभिन्न विधाओं एवं विषयों के साहित्य सांस्कृतिक महत्व, वैज्ञानिक प्रकृति के चलते संस्कृत को केवल संस्कृत पाठशालाओं एवं विश्वविद्यालयों तक सीमित न रखते हुए इसे मुख्य धारा में लाया जाएगा- स्कूलों में त्रिभाषा फार्मूला के तहत एक विकल्प के रूप में साथ- साथ ही उच्चतर शिक्षा में भी' (22.15)ऐसे अनेकों प्रावधानों/संस्तुतियों और सिफारिशों का उल्लेख राष्ट्रिय शिक्षा नीति 2020 में किया गया जो भारतीय भाषाओं विकास का मार्ग प्रशस्त करेगा। केवल इन प्रयासों से ही भारतीय भाषाओं का उन्नयन संभव नहीं है इसके लिए दो बातों का विशेष ध्यान दिए जाने की आवश्यकता है एक इन संस्तुतियों या प्रावधानों का धरातल (ग्रास रूट) पर अनुपालन किस प्रकार, किस सीमा तक और कितने प्रभावी तरीके से हो पाता है दूसरी सरकार के इन प्रयासों में जन सहभागिता किस सीमा तक होती है? क्योंकि किसी भी भाषा का प्रचार और प्रसार सामाजिक सामर्थ्य कई बातों पर निर्भर करती है। इनमें प्रमुख हैं-भाषा का हस्तांतरण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में किस प्रकार होता है?, आधुनिकज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में उस भाषा का उपयोग किस प्रकार किया जाता है?,उस भाषा के विविध रूपों और साहित्य का अभिलेखीकरण किस प्रकार किया जाता है? औपचारिक शिक्षा व्यवस्था में उस भाषा विशेष का क्या स्थान है? सरकारी और गैर सरकारी क्षेत्रों में उस भाषा का प्रयोग किस प्रकार और किस सीमा तक होता है? उस भाषा की नवीन तकनीक और आधुनिक माध्यमों की स्वीकार्यता किस सीमा तक है? समाज में उस भाषा के साथ भावनात्मक लगाव की मात्रा किस सीमा तक है? प्रशासनिक व्यवस्था में उस विशेष भाषा के प्रति क्या नजरिया है ये कुछ प्रश्न हैं जो किसी भी भाषा के वर्तमान और भविष्य का निर्धारण करने में काफी महत्त्वपूर्ण भूमिका रखते हैं। किसी भी देश की भाषा उस देश की परम्परा और संस्कृति, राष्ट्र और राष्ट्रीयता को सूचिका और संवाहिका होती है साथ ही उस देश की सांस्कृतिक विरासत की परिचायिका होती है, अत: यह आवश्यक है कि इनके संरक्षण और संवर्धन हेतु त्वरित और सार्थक प्रयास किये जाये अन्यथा भाषा का यह विलोपन देश की मूल संस्कृति के स्वरूप में भी बदलाव लेकर आएगा। अत: आवश्यक है कि अकादमिक और सामाजिक दोनों ही रूपों में समेकित प्रयास किया जाए।

सन्दर्भ सूची-

1. एन. सी. एफ, 2005 (हिंदी प्रारूप)
2. राष्ट्रिय शिक्षा नीति, 2020 (हिंदी प्रारूप)
3. नवभारत टाइम्स, दिनांक 17 दिसंबर 2020 नई दिल्ली एडिशन, पृ.सं. 09.
4. टाइम्स ऑफ इंडिया अंक 9 अगस्त 2013
5. मंगल उमा, 2007, हिंदी भाषा शिक्षण, आर्य बुक डिपो करोल बाग नई दिल्ली
6. सिंह कर्ण, 2007, संस्कृत शिक्षण विधि, एच्.पी.भार्गव बुक हॉउस आगरा
7. कुमार ज्ञानेंद्र, 2018 हिंदी भाषा शिक्षण संस्करण प्रगतिशील प्रकाशन नई दिल्ली
8. शर्मा भूषण 2017 शिक्षा समाज और राजनीति कौटिल्य प्रकाशन नई दिल्ली

ISSN 2278 - 0327

प्रतीकोपासना विमर्श

(ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य के विशेष सन्दर्भ में)

डॉ. मेघराज मीणा
सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग,
शिवाजी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय
Email id – meghrajmeena@shivaji.du.ac.in

प्रतीक ज्ञात से अज्ञात को जानने का एक माध्यम है। प्रतीक किसी अप्रत्यक्ष वस्तु का स्थान ग्रहण करके उसका प्रतिनिधित्व करता है, इसका प्रयोग ऋग्वेद से ही आरम्भ हो गया था। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में कहा गया है कि नदी के इस जो वह दारु तर रही है, पार जाने के लिए उसको साधन बनाओं और पार हो जाओ।[1] प्रतीकों का प्रयोग आरयण्कों और उपनिषदों में भी प्राप्त होता है। ब्रह्मसूत्र के चतुर्थ अध्याय के प्रथम पाद में भी इसका विशेष रूप से विवेचन हुआ है। वहाँ कहा गया है कि *'तत्त्वमसि'* इस महावाक्य के श्रवण मात्र से किसी अत्यन्त संस्कारी साधक या जिज्ञासु को ही ब्रह्मज्ञान होता है, हरेक को नहीं, उसे ब्रह्म के किसी प्रतीक की निरन्तर उपासना से, चित्तमल-क्षालन के अनन्तर ही इस वाक्य के द्वारा ब्रह्मज्ञान हो सकता है। ब्रह्म का प्रतीक प्रणव (ऊँकार) अथवा सूर्य इत्यादि प्राकृतिक शक्ति हो सकती है। अप्रत्यक्ष ब्रह्म के प्रत्यक्ष ऊँकार अथवा सूर्य आदि की प्रतीक उपासना से कई प्रकार की सिद्धि होती है।

चित्त के मलक्षालन से- *'तत्त्वमसि'* महावाक्य के श्रवण से ब्रह्मज्ञान हो जाता है। कालान्तर में प्रतीकोपासना से यह भी ज्ञात होता है कि सब कुछ ब्रह्म का ही रूप है, ऐसी साधना से सर्वत्र एक भाव जाग्रत हो जाता है और उपनिषद् के महावाक्य *'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'* की सिद्धि हो जाती है। जब तक संसार ब्रह्ममय, ईश्वरमय, प्रतीत नहीं होता तब तक ब्रह्म साक्षात्कार अधूरा है, उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र ब्रह्म-साक्षात्कार के व्यावहारिक उपयोग के समर्थक है। तत्त्वज्ञानी तथा अज्ञानी दोनों के लिए प्रतीक अथवा प्रतीकों के द्वारा ब्रह्मभाव का अभ्यास करते रहना चाहिए क्योंकि कहा गया है कि *'अन्तमति सो ही गति'* इससे गमनकाल में ही ब्रह्मभाव वृत्ति दृढ़ हो जाती है। ब्रह्मभाव के दृढ़ होने पर अगले जन्म में सद्गति प्राप्त होती है।

उपासना का अर्थ -

'उप-समीपे आस्यते-स्थीयते अनेन इत्युपासनम्'- इस व्युत्पत्ति के अनुसार उपासन उस कर्म को कहा जाता है, जिसके द्वारा उपासक उपास्य के समीप अवस्थित होता है। उपास्य के समीप उपासक के अवस्थित होने का अर्थ है उपास्य के स्वरूप में उपासक के चित्त को स्थैर्य लाभ होना। इस प्रकार उपासना का अर्थ है मन का वह व्यापार जिससे मन उपास्य सगुण ब्रह्म में स्थित होता है, वह व्यापार है शाण्डिल्य-विद्या आदि। शाण्डिल्य-विद्या का अर्थ है शाण्डिल्य ऋषि द्वारा उपदिष्ट विद्या। विद्या का अर्थ है-*' विद्यते लभ्यते उपास्ये चित्तस्थैर्यं यया क्रियया सा विद्या'* - जिस क्रिया से उपास्य में उपासक के चित्त को स्थैर्य लाभ हो वह क्रिया विद्या है। इस विद्या का वर्णन छान्दोग्योपनिषद् में इस प्रकार है-

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानीति शान्त उपासीत' 'अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्यः भवति स क्रतुं कुर्वीत'[3]

अर्थात् सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मस्वरूप है, यह जगत् उसी ब्रह्म से उत्पन्न होने वाला, उसी में लीन होने वाला और उसी में चेष्टा करने वाला है। इस प्रकार रागद्वेषरहित होकर उपासना करनी चाहिये।

उपासना को ब्रह्म-साक्षात्कार का साधन स्वीकार किया गया है। शङ्कराचार्य यद्यपि ज्ञान को महत्त्व देते हैं तथापि वे उपासना को ब्रह्म प्राप्ति में सहकारी कारण मानते हैं। आचार्य शङ्कर ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में उपासना का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है-

'उपासनं नाम समानप्रत्ययप्रवाहकरणम्'[4]

अर्थात् एक ही प्रत्यय का निरन्तर प्रवाह करना उपासना है। श्रीमद्भगवद्गीता भाष्य में उपासना का लक्षण इस प्रकार करते हैं-

'उपासना नाम यथाशास्त्रमुपास्यस्य अर्थस्य विषयीकरणेन

सामीप्यमुपगम्य तैलधारावत् समानप्रत्ययप्रवाहेण दीर्घकालं यदासनं तदुपासनमाचक्षते।'[5]

अर्थात् उपास्य वस्तु को शास्त्रोक्तवृत्तियों के प्रवाह से दीर्घकाल तक उसमें स्थित रहना उपासना कहलाती है। उपासना का विधान श्रुतिसम्मत है। छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है–

य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुष दृश्यये।
हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः।।[6]

इससे हिरण्मय पुरुष की उपासना की ओर संकेत किया गया है। सगुणोपासना से साधक का चित्त एकाग्र हो जाता हैं। यह चित्त की एकाग्रता निर्विशेष ब्रह्म का साक्षात्कार सम्पन्न कराने में समर्थ होती है।[7] इस सम्बन्ध में वेदान्तपरिभाषा में कहा गया है–

निर्विशेष परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः
ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणैः॥
वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात्।
तदेवाविर्भवेत् साक्षातपेतोपाधिकल्पनम्॥[8]

अर्थात् जो साधक निर्विशेष ब्रह्म के साक्षात्कार करने में असमर्थ हैं, उन मन्द अर्थात् बुद्धिहीन व्यक्तियों के लिए श्रुति-ग्रन्थों में सविशेष ब्रह्म का प्रतिपादन अनुकम्पापूर्वक किया गया है। सगुण ब्रह्म का अनुशीलन करने में चित्त के वश में हो जाने पर निरुपाधिक ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता में उपदेश दिया गया है कि उस परम पुरुष को अनन्य भक्ति से प्राप्त किया जा सकता है।[9] उपासना से मोक्ष प्राप्ति सम्भव है। वेदान्तपरिभाषा में धर्मराजाध्वरीन्द्र ने वाचस्पति मिश्र का मत निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया है–

उपासनादिसंसिद्धितोषितेश्वरचोदितम्।
अधिकारं समाप्येते प्रविशन्ति परं पदम्॥[10]

अर्थात् उपासना की पूर्ण सिद्धि से प्रसन्न हुए ईश्वर के द्वारा प्रेरित किये जाने पर अधिकार को समाप्त कर वे ब्रह्मज्ञानी साधक परम पद को प्राप्त कर लेते हैं। ब्रह्म साक्षात्कार होने पर साधक पुनः लौटकर नहीं आता है। छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है–'जो ब्रह्मलोक को प्राप्त हो जाता है वह लौटकर नहीं आता है।'[11] इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् पाल डायसन लिखते हैं– 'जब सम्यग् दर्शन से उसका अज्ञान विध्वस्त हो जाता है, तब सर्वोच्च लक्ष्य के रूप में नित्य सिद्ध निर्वाण उनके लिए खुल जाता है, अतः इसलिए सगुण ब्रह्म की शरण में जाने वालों की भी पुनरावृत्ति नहीं होती है।[12] उपासना को ब्रह्म साक्षात्कार का साधन स्वीकार किया गया है।

बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि शम, दम तथा समाधि आदि के द्वारा साधक को आत्मा का आत्मा में दर्शन करता है।[13] इसी उपनिषद् में कहा गया है कि आत्मा के दर्शन करने चाहिये, इसके विषय में सुनना चाहिये, मनन करना चाहिए और ध्यान लगाना चाहिए। आत्मा का दर्शन, श्रवण तथा ज्ञान प्राप्त कर लेने पर सर्व प्रकार का ज्ञान-विज्ञान प्राप्त हो जाता है।[14]

उपासनाओं का बार-बार अभ्यास –

ब्रह्मसूत्र के चतुर्थ अध्याय के प्रथम पाद में प्रतीकोपासना का वर्णन करते हुए कहा गया है कि आत्मसाक्षात्कार पर्यन्त श्रवण-मनन-निदिध्यासन की आवृत्ति करनी चाहिए – 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्'[15] इस सूत्र में बताया गया है कि अध्ययन की हुई उपासना का बार-बार अभ्यास करना चाहिये। क्योंकि श्रुतिवाक्यों में भी श्रवणादि का बार-बार अभ्यास करने का उपदेश प्राप्त होता है–

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।[16]

अर्थात् आत्मा का दर्शन करना चाहिये, श्रवण करना चाहिए, मनन करना चाहिये और निदिध्यासन करना चाहिये। श्रवणादि का बार-बार अभ्यास करने से आत्मसाक्षात्कार हो जाता है।

प्रतीकोपासना में अहंग्रह नहीं करना चाहिये –

ब्रह्मसूत्र *'न प्रतीके न हि सः।'*[17] में बताया गया है कि प्रतीकों में आत्मबुद्धि नहीं करनी चाहिये, क्योंकि उपासक को व्यस्त प्रतीकों का आत्मरूप से आकलन नहीं करना चाहिये। किसी भौतिक प्रतीक में निदिध्यासन अथवा ब्रह्मभावना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वह प्रतीक परमात्मा परब्रह्म नहीं है। किसी भौतिक तत्त्व को आधार मानकर उसमें ब्रह्मभावना अथवा ब्रह्म की उपासना करना सर्वथा निष्प्रयोजन होता है। क्योंकि वह प्रतीकरूप भौतिकतत्त्व ब्रह्म नहीं है। उपासना अथवा निदिध्यासन का ऐसा आधारतत्त्व प्रतीक जड़ पदार्थ है, ब्रह्म चेतन आनन्दमय-स्वरूप है, उन दोनों में अन्धकार और प्रकाश के समान भेद है। ब्रह्मज्ञान के लिए जड़ की उपासना नितान्त प्रयोजनहीन है। इसलिए उपास्य में चेतन ब्रह्म का निदिध्यासन होना चाहिए, अन्य किसी तत्त्व का नहीं। इसी भाव को श्रुति भी इस प्रकार सिद्ध करती है–

मनो बह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्ममथाधिदैवतमाकाशो ब्रह्मेति।[18]

अर्थात् मन-जिससे प्राणी मनन करते है उस अन्तःकरण मन को परब्रह्म समझकर उपासना करनी चाहिये। यह आत्मविषयक दर्शन अध्यात्म है। 'आकाश ब्रह्म है' यह अधिदैवतदृष्टि है। इस प्रकार अध्यात्म और अधिदैवत दोनों की उपासना करने का उपदेश प्राप्त होता है।

प्रतीकों में ब्रह्मदृष्टि करनी चाहिए -

ब्रह्मसूत्र में पूर्वपक्ष द्वारा यह शंका उपस्थित किये जाने पर कि प्रतीकोपासना करने वाले को प्रतीक में ब्रह्मभाव करना चाहिये या ब्रह्म में उस प्रतीक का भाव करना चाहिये? इस शंका का समाधान करने के लिए सिद्धान्तकार *'ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्'*[19]- इस सूत्र में कहते हैं कि ब्रह्म ही सर्वश्रेष्ठ है, अत: उससे निकृष्ट मन आदि प्रतीक में ब्रह्मदृष्टि करनी चाहिये। श्रुतिवाक्यों में भी इसी भाव की अभिव्यक्ति होती है-'मनो ब्रह्मोत्युपासीतेत्यध्यात्मम्, अथातिदैवतमाकाशो ब्रह्मोति'[20] अर्थात् मन ब्रह्म है, इस प्रकार उपासना करे, यह अध्यात्म है, और अधिदैवत है - आकाश ब्रह्म है। इस सम्बन्ध में कहा गया है-'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेश: '[21] आदित्य ब्रह्म है, यह आदेश है। इत्यादि वाक्यों से मन, आकाश, आदित्य आदि जड़ पदार्थों को ब्रह्मभाव से उपास्य कहा है।

परमात्मा समस्त ब्रह्माण्ड में अन्तर्यामी रूप से व्याप्त है। ब्रह्माण्ड इस प्रकार से उसका शरीर है। मन आकाश आदित्य आदि उसी के अंश हैं। जड़ शरीर चेतन अधिष्ठाता के बिना सचेत नहीं रह सकता। वस्तुत: शरीर रूप में उसका अवस्थित रहना चेतन अधिष्ठाता की महत्ता है, क्योंकि उसके बिना शरीर का अस्तित्व शरीर रूप में नहीं रहता। आकाश आदित्य आदि ब्रह्म हैं, इसका यही तात्पर्य है कि इन सब में ब्रह्म व्याप्त है, उसी की व्याप्ति से आकाशादि का अस्तित्व है-

अङ्गों में आदित्य दृष्टि करनी चाहिए-

ब्रह्मसूत्र *'आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्ते: ।'*[22] में कहा गया है कि *'य एवासौ तपति, तमुद्गीथमुपासीत्'* इत्यादि में आदित्य देवता को प्रतीक करके कर्मांगभूत उद्गीथदृष्टि करनी चाहिए अथवा कर्मांग में आदित्य दृष्टि करनी चाहिए, क्योंकि आदित्य और उद्गीथ दोनों ब्रह्मकार्य होने से अधिकरण में उक्त उत्कर्षन्याय के प्रवृत्त न होने से कोई नियामक नहीं है। इस पूर्वपक्ष के उत्तर में सिद्धान्ती कहते हैं कि आदित्य दृष्टि से कर्मांग का संस्कार करना चाहिए। ऐसा होने पर दृष्टियों से संस्कृत कर्म का फलातिशय हो सकता है। विपर्यय तो कर्मांग से आदित्य देवता संस्कार होने पर तुम्हें क्या फल देगा? क्योंकि अक्रियात्मक देवता फल के साधन नहीं बन सकते अन्यथा देवता के साधारण होने से यज्ञ करने वाले और यज्ञ न करने वाले को फल समान होगा। अत: अङ्गों में आदित्य आदि की दृष्टि करनी चाहिए।

'आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्ते: ।' इस सूत्र में बताया गया है कि पृथिवी, अग्नि, अन्तरिक्ष और द्यु नाम के लोक में हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतीहार और निधन इन अंशों से पाँच अंशों वाला साम है। इन पाँच भेदों से तथा आदि और उपद्रव इन दो सामभेदों से सात प्रकार का साम है। इसी भाव की अभिव्यक्ति श्रुति में इस प्रकार की गई है-

'य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासते'

अर्थात् जो तप रहा है, उसको उद्गीथबुद्धि से उपासे, अर्थात् उद्गीथभावना से उसकी उपासना करे। यज्ञ अथवा कर्म के अङ्गभूत इस उपासनाओं के विषय में सन्देह है, कि यहाँ कर्म के अङ्ग उद्गीथ आदि समझने का? और ऐसा क्यों है? आचार्य ने बताया है कि कर्म के अङ्ग उद्गीथ आदि में आदित्यभावना से उपासना करना इसलिये अभिप्रेत है, ऐसा करने से वह कर्म अधिक बल वाला, सम्पन्न फल वाला होता है। जैसे उद्गीथ ओंकार का उच्चारण अथवा जप हृदय के अन्धकार और भय का उच्छेद करता है, ऐसे आदित्य उदय होता हुआ बाहर के अन्धकार और भय का उन्मूलन करता है। इस प्रकार व्यष्टिजीवन के साथ समष्टिजीवन की एकता का आपादान कर्मफल को सुसम्पन्न बनाता है। इसी निमित्त से उद्गीथ आदि का कर्मांगों में आदित्यादि भावना का उपदेश है बैठकर ही उपासना करनी चाहिए-

पूर्वपक्षी कहता है 'बैठकर ही उपासना करनी चाहिए' इस प्रकार का नियम नहीं है, क्योंकि मानसव्यापारों में देहस्थिति की अपेक्षा नहीं है। इस पर सिद्धान्तपक्ष कहता है- *'आसीन: सम्भवात् ।'*[23] अर्थात् बैठकर ही उपासनाएँ हो सकती है, क्योंकि गमन आदि चित्त के विक्षेपक हैं, अत: बैठकर ही उपासनाएँ निर्विघ्न हो सकती हैं। परब्रह्म परमेश्वर का जैसा रूप सुनने और विचार करने पर समझ आया है, उसका बार-बार तैलधारा की भाँति निरन्तर चिन्तन करते रहने का नाम उपासना है। यह उपासना चलते-फिरते या अन्य शरीर सम्बन्धी काम करते समय नहीं हो सकती, क्योंकि उस समय चित्त विक्षिप्त रहता है। तथा सोते हुए करने में निद्रारूप विघ्न का आना स्वाभाविक है, अत: केवल बैठकर करने से ही निर्विघ्न उपासना हो सकती है। इसलिये उपासना का अभ्यास बैठकर ही करना चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण ने भी कहा है कि- *' उपविश्यासने युञ्जाद् योगमात्मविशुद्धये'*[24] अर्थात् आसन पर बैठकर अन्तःकरण की शुद्धि के लिए योग का अभ्यास करना चाहिए।

मरणपर्यन्त उपासना करनी चाहिए -

ब्रह्मसूत्र 'आ प्रायनात्तत्रापि हि दृष्टम्।'[25] में पूर्वपक्षी शंका उपस्थित करते हुए कहता है कि मरणपर्यन्त उपासना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि मरणकाल में उपासना करते रहने का विधान नहीं देखा जाता है। उपासना शब्द का अर्थ है- विजातीय प्रत्यय से अव्यवहित- व्यवधान रहित सजातीय प्रत्ययों का प्रवाह, इस अर्थ

की उपपत्ति अल्प काल से भी हो सकती है, तो मरण पर्यन्त उपासनाओं आवृत्ति करने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर सिद्धान्ती कहते हैं कि भावी जन्म का हेतु अन्त्य प्रत्यय मरणपर्यन्त आवृत्ति के बिना नहीं हो सकता। इसलिए मरणपर्यन्त उपासना करनी चाहिए, क्योंकि 'स यावक्रतु0' इत्यादि से उपास्य के प्रत्यय की अनुवृत्ति देखी जाती है। अत: मरणपर्यन्त अहङ्ग्रहोपासना करनी चाहिए, यह निर्विवाद है। इसी भाव की पुष्टि श्रुति भी करती है–

स यो ह वै तद्भगवन् मनुष्येषु प्रायणान्तमोंकारमभिध्यायीत।[26]

अर्थात् हे भगवन्! वह जो मनुष्यों में मरणोपर्यन्त ओंकार का ध्यान करता है। मरणपर्यन्त ध्यान एवं उपासना करने का तात्पर्य है– जब तक ब्रह्मज्ञान नहीं होता, तब तक उपासना करना चाहिए, क्योंकि ब्रह्मज्ञान हो जाने पर फिर उपासना का प्रयोजन नहीं रहता। इसलिए ब्रह्मज्ञान होने तक सत्कारपूर्वक निरन्तर निदिध्यासन का अभ्यास करते रहना अपेक्षित होता है।

निदिध्यासन के अभ्यास से परब्रह्म का साक्षात्कार –

ब्रह्मसूत्र में शिष्य जिज्ञासा करता है, निदिध्यासन का निरन्तर अभ्यास करने से ज्ञान हो जाने पर क्या होता है? आचार्य इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते है – *'तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्।'*[27] अर्थात् उस परमात्मा के प्राप्त हो जाने पर आगे होने वाले और पहले किए हुए पापों का क्रमश: असम्पर्क एवं नाश होता है, क्योंकि श्रुति में यही बात जगह–जगह कही गयी है। जब निदिध्यासन के निरन्तर अभ्यास से परब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है, तब अगले पापों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता। ब्रह्मज्ञान से मोक्ष हो जाने पर कोई पाप किये जाने की सम्भावना नहीं रहती, फिर उससे सम्बन्ध कैसा? इसलिये पास से अश्लेष–असम्बन्ध कहा गया। पिछले पाप ज्ञानरूप अग्नि से दग्ध हो जाते हैं। इन दोनों बातों को शास्त्र में बताया है। श्रुति में कहा गया है–

'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते'[28]

अर्थात् जैसे कमल के पत्ते पर जल नहीं लगता, ऐसे ब्रह्मज्ञानी को पाप नहीं लगता। यहाँ ज्ञानी का अगले पाप के साथ असम्बन्ध बताया है।

उपासनाओं का आदरपूर्वक अनुष्ठान –

ब्रह्मसूत्र *'आदरादलोप:'*[29] में बताया गया है कि उपासनाओं का आदरपूर्वक अनुष्ठान करना चाहिए, ऐसा करने से इन उपासनाओं का लोप (विच्छेद) नहीं होता है। परब्रह्म की उपासना आदर (सत्कारपूर्वक) अर्थात् पूर्ण श्रद्धा के साथ निरन्तर दीर्घकाल तक करते रहना अपेक्षित होता है। आदरपूर्वक की गई उपासना फलवती होती है। ब्रह्मज्ञान प्राप्ति का मार्ग बहुत ही दुर्गम है। इसलिये इसके साधनभूत ब्रह्मोपासनाओं में जिज्ञासु उपासक को श्रद्धापूर्वक निरन्तर प्रयत्नशील रहना आवश्यक है। इस विषय की पुष्टि श्रुति में इस प्रकार की गई है–

'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबेधत। क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति'।[30]

अर्थात् सदा सचेत अनवरत अभ्यासशील रहने पर ही इस दुर्गम पथ को पार किया जा सकता है। अध्यात्मशास्त्र ब्रह्मोपासना के विषय में उपासक के आदरातिशय का स्वयं स्पष्ट बोध कराता है।

ब्रह्मोपासना के प्रकार –

ब्रह्मोपासन दो प्रकार का स्वीकार किया जाता है, एक गति युक्त ब्रह्मोपासना और द्वितीय गतिहीन। ब्रह्मोपासन करते हुए जब कोई बाधा सामने आ जाती हैं, पूर्ण ब्रह्मज्ञान नहीं हो पाता, ब्रह्मसाक्षात्कार से पहले शरीर छूट जाता है, ऐसे ज्ञानियों की गति देवयान मार्ग से होती है। यह ब्रह्मोपासन गति वाला कहा जाता है। ब्रह्मोपासन में निरन्तर संलग्न ऐसे आत्मा लोकान्तर अर्थात् जन्मान्तर में ब्रह्मसाक्षात्कार के लिये सतत प्रयत्नशील रहते हैं। यदि तब भी ब्रह्मसाक्षात्कार में कोई अनिर्वाय बाधा आ जाती हैं, सद्य: साक्षात्कार की संभावना नहीं रहती, तो उपासना द्वारा जिस गति को आत्मा ने प्राप्त किया है, उसके फल विशेष ऐश्वर्य आदि की प्राप्ति उसे अवश्य होती है। इसलिये यह गति फलवती है, निरर्थक नहीं। यदि वहां आत्मा को ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाता है, उसमें कोई बाधा नहीं आती, तो इस अवस्था में उस गति का यही फल हो जाता है, तब भी गति निरर्थक नहीं। जब किसी एक देहपात से पूर्व ब्रह्मोपासना ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाता है, तो यह ब्रह्मोपासना गतिहीन है। तात्पर्य यह है, कि ऐसे ब्रह्मज्ञानी के लिए देवयान आदि किसी गति की अपेक्षा नहीं रहती, वह देहपात के तत्काल अनन्तर ब्रह्म को प्राप्त होता है। इस विषय की पुष्टि भी श्रुति इस प्रकार करती है–

'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'।[31]

ब्रह्मसूत्र में कामना न करने वाले पुरुष के विषय में कहा गया है कि जो अकाम, निष्काम, आप्तकाम और आत्मकाम होता है, उसके प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता, वह ब्रह्म ही रहकर ब्रह्म को प्राप्त होता है।

अत: इस प्रकार ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य में प्रतीकोपासनाओं के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहा है कि प्रतीकों में निरन्तर

ब्रह्मदृष्टि करने से साधक का चित्त (अन्त:करण) शुद्ध होता है। जब साधक का चित्त शुद्ध हो जाता है तो उसे ब्रह्मज्ञान हो जाता है। प्रतीकोपासना से यह भी ज्ञात होता है कि सब कुछ ब्रह्म का ही रूप है, ऐसी साधना से सर्वत्र एक भाव जाग्रत हो जाता है और उपनिषद् के महावाक्य 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की सिद्धि हो जाती है। ब्रह्मभाव के दृढ़ होने पर अगले जन्म में सद्गति प्राप्त होती है।

सन्दर्भ-सूची

1. अदो यद्दरु प्लवते सिन्धो: पारे अपूरुषम्।
   तदा रभस्व दुर्हणो तेन गच्छ परस्तरम् ॥ ऋग्वेद, 10/155
2. यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
   तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभाविता ॥
   श्रीमद्भगवद्गीता, 8/6
3. छान्दोग्योपनिषद्, 3/14/1
4. ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, 4/1/7
5. श्रीमद्भगवद्गीता शाङ्करभाष्य, 12/3
6. छान्दोग्योपनिषद्, 1/6/6
7. 'सगुणोपासनमपि चित्तैकाग्र्यद्वारा निर्विशेषब्रह्मसाक्षात्कारे हेतु:।' वेन्दान्तसार, पृ. 399
8. वेन्दान्तसार , पृ. 399
9. 'पुरुष: स पर: पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।'
   श्रीमद्भगवद्गीता, 8/22
10. वेदान्तपरिभाषा, पृ. 47
11. छान्दोग्योपनिषद्, 8/5/1
12. वेदान्तदर्शन, पृ. 413
13. 'अस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षु: समाहितोभूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्यति'। बृहदाण्यकोपनिषद्, 4/4/23
14. 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विज्ञातम् भवति।'
   बृहदारण्यकोपनिषद्, 4/5/6
15. ब्रह्मसूत्र, 4/1/1
16. बृहदारण्यकोपनिषद्, 4/5/6
17. ब्रह्मसूत्र, 4/1/4
18. छान्दोग्योपनिषद्, 3/18/1
19. ब्रह्मसूत्र, 4/1/5
20. छान्दोग्योपनिषद्, 3/18/1
21. वही
22. ब्रह्मसूत्र, 4/1/6
23. ब्रह्मसूत्र, 4/1/7
24. श्रीमद्भगवद्गीता, 6/12
25. ब्रह्मसूत्र, 4/1/12
26. प्रश्नोपनिषद्, 5/1
27. ब्रह्मसूत्र, 4/1/13
28. छान्दोग्योपनिषद्, 4/14/3
29. ब्रह्मसूत्र, 3/3/4
30. मुण्डकोपनिषद् , 1/3/14
31. बृहदारण्यकोपनिषद्, 4/4/6

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

- ईशादि नौ उपनिषद्, शाङ्करभाष्यार्थ, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. 2066.
- एकादशोपनिषद्, सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, विजयकृष्ण लखनपाल प्रकाशन, दिल्ली, 2010.
- कठोपनिषद्, गीताप्रेस गोरखपुर, सं0 2027.
- छान्दोग्योपनिषद्, शाङ्करभाष्यार्थ, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. 2067.
- बृहदारण्यकोपनिषद्, शाङ्करभाष्यार्थ, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. 2067.
- चतु:सूत्री ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम् (ब्रह्मतत्त्वप्रकाशिका हिन्दी व्याख्या सहित), व्या0 आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1966.
- ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम् (रत्नप्रभा टीका सहिता) अनु0 यतिवर श्री भोलेबाबा, भारतीय विद्या प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004.
- विवेकचूडामणि, (श्रीमदाद्यशङ्कराचार्यविरचित), अनु. मुनिलाल, गीताप्रेस,गोरखपुर, 2067
- वेदान्तपरिभाषा (धर्मराजाध्वरीन्द्रविरचित) व्या. श्रीगजानन शास्त्री मुसलगांवकर, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2010.
- वेदान्तसार (श्रीसदानन्दप्रणीत), व्या0 बदरीनारायण शुक्ल, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
- वैदिक अनुशीलन, शशिप्रभा कुमार, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, 1998.

ISSN 2278 - 0327

राष्ट्रीयता की भावना के विकास में हिन्दी साहित्य का योगदान

डॉ. संजय कुमार
सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग,
राम लाल आनन्द महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

प्रारूप

'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः', अथर्ववेद में वर्णित यह वैदिक उद्घोष भूमि के प्रति वहाँ के निवासियों के समर्पण भाव व अन्तःचेतना को अभिव्यक्त करता है। भूमि के किसी भी भाग में निवास करने वाले वहाँ के मूल निवासियों की मूल सभ्यता व संस्कृति, विचार-दर्शन, सामाजिक-आर्थिक एवं ऐतिहासिक परम्पराओं व मान्यताओं के प्रति स्वाभाविक अनुराग, परस्पर सहयोग व आदान-प्रदान की सहज प्रवृत्ति का ही परिणाम उनकी उस राष्ट्र सम्बन्धी चेतना है। मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह जिस स्थान पर जन्म लेता है, भूमि के जिस भाग पर उसका लालन-पालन होता है, जिन प्राकृतिक संसाधनों द्वारा उसके जीवन यापन निमित्त आवश्यकताएं पूरित होती हैं व जिस जनसमुदाय में उसके सामाजिक-सांस्कृतिक सरोकार सिद्ध होते हैं उन सभी के प्रति उसकी भावनाएं जन्म से ही जुड़ी रहती हैं।

राष्ट्रीयता : स्वरूप व संकल्पना

आदिमकाल से ही मनुष्य का स्वभाव रहा है कि वह संगठन में रहना पसन्द करता है। वह जिस भूभाग पर निवास करता है उसके प्रत्येक कण व विभिन्न आयमों के प्रति उसका प्रेम व अनुराग स्वभावतः रहता है। राष्ट्र के प्रति अपनेपन, जिसे आज के समय में राष्ट्रप्रेम, देशभक्ति, राष्ट्रभक्ति नामों से अभिभूत किया जाता है को ही राष्ट्रीयता का मूल आधार माना जाता है। राष्ट्रीयता की अवधारणा पर विमर्श करने से पूर्व 'राष्ट्र' शब्द को समझना अत्यन्त आवश्यक है।

राष्ट्र की संकल्पना

'राष्ट्र' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत की राज् धातु से औणादिक ष्ट्रन् प्रत्यय से हुई है। *'राजते दीप्यते प्रकाशते शोभते इति राष्ट्रम्'* इस व्युत्पत्ति के अनुसार राष्ट्र वह है जो विभिन्न धन-धान्य व संसाधनों से युक्त होने के कारण स्वयं देदीप्यमान है, वैभव सम्पन्न होने के कारण स्वयं प्रकाशित है, अपनी सांस्कृतिक व ऐतिहासिक आभा से सुशोभित है। वैदिक साहित्य में राष्ट्र शब्द का प्रयोग अनेक बार देखने को मिलता है, यहाँ अनेक संदर्भों में इसका प्रयोग हुआ है, यथा-

ऋग्वेद में *'राष्ट्रं क्षत्रियस्य'*[1], *राजा राष्ट्रानाम्*[2], *राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य*[3] इत्यादि प्रमाण मिलते हैं। अथर्ववेद में एक सूक्त है जिसका नाम है 'राष्ट्राभिवर्धन सूक्त', यह सूक्त राष्ट्र सम्बन्धी चिन्तन व राष्ट्र के सर्वांगीण विकास की कामना को व्यक्त करता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में राष्ट्र शब्द की व्याख्या में कहा गया है कि विश ही राष्ट्र है-*'राष्ट्राणि वै विशः'*[4], *'क्षत्रं हि राष्ट्रम्'*[5] इत्यादि।

राष्ट्र शब्द स्वयं में अत्यन्त व्यापक है, प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक राजनीतिक चिन्तन की परम्परा में यह शब्द अनेक परिवर्तनों व संशोधनों की यात्रा से गुजरते हुए अपने आप को विकसित व परिवर्धित करता आया है। राष्ट्र शब्द का अंग्रेजी समानार्थी शब्द 'नेशन' जो कि मूल रूप से लैटिन भाषा का शब्द है एवं इसका आशय 'जन्म या जाति' से है। पाश्चात्य विचारक गिलक्राइस्ट के अनुसार नेशन शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन शब्द 'नेशो' से हुई है जिसका अर्थ है जन्म अर्थात् उत्पन्न हुआ।[6]

हिन्दी में इसके समानार्थी शब्द है देश, राज्य, जाति इत्यादि अर्थात् सरल भाषा में कहें कि जो जन समुदाय एक ही देश में बसता हो, एक ही शासन या राज्य में निवास करता हुआ एकताबद्ध हो उसे राष्ट्र की संज्ञा से अभिभूत किया गया है। प्राचीन राजनीतिक विचारों में राष्ट्र की उत्पत्ति से सम्बन्धित प्रमाणों की चर्चा के क्रम में यह ज्ञात होता है कि प्रजा या राष्ट्र की सुरक्षा के लिए राजा का जन्म हुआ और प्राचीन काल में राजा ही राष्ट्र का प्रतीक था। मनुस्मृति में वर्णित है कि यदि राजा नहीं होगा तो राज्य की प्रजा में अराजकता उत्पन्न हो जाएगी।[7]

मनुष्य में उसके जन्मस्थान के प्रति अनुराग, अपनी भाषा व संस्कृति से लगाव व सामूहिकता की भावना प्राचीन काल से ही विद्यमान रही है। आधुनिक राजनीतिशास्त्र में राष्ट्र की निर्माण की

सुव्यवस्थित प्रक्रिया 17 वीं शताब्दी के आरंभ में यूरोप में नेशन शब्द से जाति, प्रजाति, मूलवंश अथवा समान भाषा-भाषी समूह का बोध होता था। उस समय नेशन शब्द एक निश्चित भूभाग, राज्य के जनसमूह का द्योतक बन गया जिसमें जातीय एकता के प्रति कोई आग्रह नहीं था। जातीय समूहों में राजनीतिक स्वतंत्रता तथा स्वशासन की भावना के जागरण से राष्ट्र जातीय आग्रह रहित राजनीतिक इकाई का बोध हुआ। 19 वीं शताब्दी में इसी बोधकता को राष्ट्र के रूप में स्थायित्व प्रदान किया गया। अनेक विचारकों व विद्वानों ने राष्ट्र शब्द को परिभाषित किया है, इन परिभाषाओं पर एक दृष्टि डालने से राष्ट्र की अवधारणा को सरलता से समझा जा सकता है।

ऑक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी के अनुसार राष्ट्र की परिभाषा इस प्रकार दी गई है-'एक पूर्वज की संतान जिसकी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परम्पराएं एक हो, जो एक विशेष भूमि भाग में निवास करती हों तथा जो सुशासन द्वारा संचालित होती हो राष्ट्र के अंतर्गत आती हैं।

पाश्चात्य राजनीतिक विचारक **बर्गेस** के अनुसार 'राष्ट्र जातीय एकता के सूत्र में बंधी हुई वह जनता है जो अखंड भौगोलिक प्रदेश में निवास करती है।'[8]

जर्मन विद्वान **ब्लूटंश्ली** के अनुसार 'राष्ट्र राज्य-संबंधी सूत्र से निरपेक्ष नाना व्यवसायों तथा सामाजिक स्तरों के मनुष्यों का समुदाय होता है, जो परंपरागत संस्कारों एवं समान भावना वाले एक समाज में रहता है तथा जिसका प्रत्येक सदस्य भाषा तथा रीति-रिवाज के आधार पर समाज के अन्य सदस्यों से अपनी एकता तथा विदेशियों से पार्थक्य का अनुभव करता है।'[9]

पाश्चात्य विद्वान् **फाउलर** के अनुसार 'जन अथवा जाति के संगठन को, जो परंपरागत समाज, भाषा, इतिहास अथवा विविध राजनीतिक भाषाओं द्वारा लक्षित होता है वह राष्ट्र है।'[10]

अनेक भारतीय राजनीतिक चिंतक एवं विचारकों ने राष्ट्र शब्द को इस प्रकार परिभाषित किया है -

पुखराज जैन के अनुसार 'राष्ट्र जन समूह में विद्यमान एकता की उस विशेष भावना का नाम है जो इस जनसमुदाय को साथ रहने और किसी भी बाहरी नियंत्रण का प्रतिरोध करने के लिए प्रेरित करती है।'[11]

डॉ. सुधींद्र के अनुसार 'भूमि, भूमिवासी और जन संस्कृति तीनों के सम्मिलित होने से राष्ट्र का स्वरूप निर्मित होता है। भूमि अर्थात् भौगोलिक एकता, जन अर्थात् जनगण की राजनीतिक एकता, जन संस्कृति अर्थात् सांस्कृतिक एकता- तीनों के समुच्चय का नाम राष्ट्र है। राष्ट्र के स्वरूप में भौगोलिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक इकाईयाँ पूँजीभूत हैं।'[12]

नंददुलारे वाजपेई के अनुसार 'राष्ट्र केवल सीमाओं और जनसंख्या के समुच्चय का नाम नहीं है, उसके साथ परिस्थितियों के एक विशिष्ट आपात और एक विशिष्ट इतिहास का भी योग होता है। राष्ट्र एक व्यक्ति के सदृश्य है।'[13]

वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार 'भूमि, भूमि पर बसने वाला जन और जन की संस्कृति, इन तीनों के सम्मिलन से राष्ट्र का स्वरूप बनता है।'[14]

रामचंद्र अग्रवाल के अनुसार 'राष्ट्र जातीय एकता के सूत्र में बंधी हुई वह जनता है, जो किसी अखण्ड भौगोलिक प्रदेश पर निवास करती है, जिसकी एक सामान्य भाषा और साहित्य, सामान्य परम्परा अथवा इतिहास, सामान्य रीति-रिवाज तथा उचित और अनुचित की सामान्य चेतना है। यह ऐसे लोगों का समूह है जो घनिष्ठता, अभिन्नता और प्रतिष्ठा की दृष्टि से संगठित है और एक मातृभूमि से संबंधित है। राष्ट्र ऐसे लोगों का समूह है, जिसने अपने आप को स्वतंत्र अथवा स्वतंत्र होने की इच्छा रखने वाली राजनीतिक संस्था के रूप में संगठित कर लिया है। राष्ट्र अर्थ की दृष्टि से राज्य के बहुत समीप है। उनके अनुसार राष्ट्रीयता तथा राज्य को मिलाकर राष्ट्र बन जाता है। राष्ट्रीयता राजनीतिक एकता तथा सत्ताधारी स्वतंत्रता को प्राप्त करके राष्ट्र बन जाता है।'[15]

भारतीय ज्ञान-परम्परा में ब्राह्मण ग्रन्थों में समृद्धि युक्त जनसमुदाय को राष्ट्र मानते हुए यह उद्घोष है- *'श्रीर्वै राष्ट्रम्'*।[16]

राष्ट्र का स्वरूप

प्राचीन काल से ही हम देखते आ रहे हैं कि मनुष्य संगठन बनाकर रहता है और समाज का एक अङ्ग है। समाज में अराजकता न हो व सामाजिक व्यवस्था सुचारू व निर्बाध रूप से चलती रहे इसके लिए कुछ निश्चित नियमों का विधान करता है। वैदिक साहित्य से लेकर वर्तमान समय तक हम देखें तो राष्ट्र या राज्य सम्बन्धित अनेक प्रमाण मिलते हैं और हमारे वाङ्मय में विस्तृत चर्चा-परिचर्चा मिलती है। अनेक विद्वानों ने चाहे वह भारतीय विद्वान् हों या पाश्चात्य विद्वान् राष्ट्र शब्द को लेकर एक विहंगम दृष्टि डाली है और इस विषय पर अनेक तरह से मंथन हुआ है। राष्ट्र शब्द की उपरोक्त परिभाषाओं पर दृष्टि डालने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि कुछ विशिष्ट तत्त्वों को राष्ट्र की परिभाषा में सम्मिलित किया गया है, वे तत्त्व हैं- भूभाग या क्षेत्र, मूलवंश, जाति या प्रजाति, भाषा, धर्म, संस्कृति, इतिहास, सभ्यता व एकसूत्रता की भावना इत्यादि।

पाश्चात्य विद्वानों की परिभाषाओं का आलोचनात्मक परीक्षण करने पर स्पष्ट होता है कि कुछ तत्त्व आधुनिक समय में महत्त्वहीन हो चुके हैं जैसे कि एक ही जाति की एकता, एक ही वंश से संबंध लोग इत्यादि। वर्तमान समय में एक ही राष्ट्र में अनेक प्रजाति, धर्म, भाषा और संस्कृति को अपनाने वाले लोग रहते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि एक ही राष्ट्र में अनेक जाति, धर्म, भाषा, संस्कृति से संबंधित लोग परस्पर साहचर्य व आत्मीयता के भाव से एक परस्पर सहयोग व समन्वय की भावना के साथ एक साथ रहते हैं। हालांकि उनमें संस्कृति गत विभिन्नता हो सकती हैं, जैसे कि भारत में अनेक तत्त्वों की विविधता है लेकिन उसके बावजूद वह एक सामूहिक अर्थात् साझा संस्कृति का विकास कर लेते हैं और एक दूसरे की संस्कृति के प्रति उदारता व आदर का भाव उत्पन्न कर एक साथ रहते हैं। वह जातीय अनेकता होने पर भी मानवता के सहज स्नेह सूत्र में बंध जाते हैं और एक राष्ट्र की चेतना के रूप में स्वयं को जोड़कर आगे बढ़ते हैं।

डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने अपने निबंध संग्रह 'पृथ्वीपुत्र' में राष्ट्र के स्वरूप को बताया है। डॉ. अग्रवाल तीन तत्त्वों को राष्ट्र के स्वरूपाधायक तत्त्व मानते हैं- भूमि, जन और जन की संस्कृति इन तीनों के समन्वय से राष्ट्र का स्वरूप निर्धारित होता है। समन्वय युक्त जीवन ही राष्ट्र का सुखदायी स्वरूप है। भूमि के भौतिक स्वरूप, सौंदर्य उपयोग और माहात्म्य की पहचान तथा उसके प्रति मातृभावना, जन-जन के प्रति भातृभावना, पारस्परिक सहिष्णुता तथा समन्वयशीलता राष्ट्रीयता की कुंजी हैं।

राष्ट्र के स्वरूप पर विभिन्न राजनीतिक विचारकों के मत पर चर्चा और परिचर्चा करने के बाद निष्कर्षत: निम्नलिखित तत्त्वों को राष्ट्र के विधायक तत्त्व बताया गया है -
(1.) भौगोलिक क्षेत्र, (2.) जनसमूह, (3.) संस्कृति, (4.) परस्पर सहयोग व समन्वयक की भावना, (5) स्वर्णिम इतिहास के प्रति गौरव की भावना, (6.) राजनीतिक आकांक्षा एवं (7.) सामान्य हितों की भावना।

राष्ट्र की तुलना मानव के शरीर के साथ की जा सकती है। जैसे हमारे शरीर का बाह्य व आन्तरिक स्वरूप है उसी प्रकार से राष्ट्र का भी स्वरूप है। राष्ट्र का बाह्य रूप अर्थात् मूर्त रूप वह है जो भौगोलिक सीमाओं से घिरे देश के रूप में प्रकट होता है जिसमें नदियां, पर्वत, जंगल इत्यादि सम्मिलित हैं। दूसरा है आत्मा (आन्तरिक स्वरूप) जो की अमूर्त तत्त्व है, जो जनसाधारण की संस्कृति, भाषा, साहित्य, दर्शन, कला, आदर्शों, आकांक्षाओं, वहाँ की ऐतिहासिक परंपराओं व मान्यताओं इत्यादि में अभिव्यक्त होता है और यह दोनों तत्त्व मिलकर राष्ट्र का निर्माण करते हैं।

राष्ट्रीयता की संकल्पना

राष्ट्रीयता की संकल्पना स्वयं में एक बहुआयामी मूल्य है व इसकी परिधि अत्यन्त व्यापक है। राष्ट्र के स्वरूप को समझने के बाद राष्ट्रीयता के विचार को ग्रहण करना सरल है। राष्ट्रीयता राष्ट्र शब्द से बनी हुई भाव वाचक संज्ञा है एवं राष्ट्र के प्रति हमारी भावनाएं ही राष्ट्रीयता है। सामान्यतया अपने राष्ट्रीय गौरव का बोध प्रत्येक व्यक्ति को होता है, ऐसा कोई शायद ही होगा जिसमें राष्ट्र के प्रति प्रेम का भाव न हो। इस सम्बन्ध में गया प्रसाद शुक्ल जी की पंक्तियाँ अत्यन्त प्रासंगिक हैं -

जो भरा नहीं है भावों से,
बहती जिसमें रसधार नहीं।
वह हृदय नहीं है पत्थर है,
जिसमें स्वदेश का प्यार नहीं।।[17]

किंतु इसका आशय कदापि यह नहीं है कि राष्ट्रीयता राष्ट्र के सदस्य होने मात्र का भाव है। शब्दकोश में राष्ट्रीयता का अर्थ किसी राष्ट्र का नागरिक होने के भाव, राष्ट्रप्रेम, देशभक्ति आदि से लिया जाता है। राष्ट्रीयता व्यापक है क्योंकि यह अनुभूति का विषय है, मनुष्य की अन्त:चेतना का विषय है।

राष्ट्रीयता की भावना को समझने के लिए कुछ आधारभूत तत्त्वों को समझना नितांत आवश्यक है -

राष्ट्रीय एकता

भूभाग, जाति, भाषा, धर्म, संस्कृति, इतिहास, आर्थिक और राजनीतिक हितों की एकता इत्यादि तत्त्वों के सम्मिश्रण से राष्ट्रीय एकता का निर्माण होता है।

भौगोलिक एकता

भौगोलिक सीमाओं से सुरक्षित एक निश्चित भूभाग राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न करता है। जिस जनसमूह का अपना स्वयं का देश या भूभाग नहीं होता उन में राष्ट्रीयता की भावना का अस्तित्वहीन या क्षीण हो जाती है। भौगोलिक परिस्थितियां व जलवायु का मनुष्यों के शारीरिक संरचना पर एक जैसा दृष्टिगोचर होता है। इससे उन के अन्दर समान शारीरिक, मानसिक और मनोवैज्ञानिक गुण उत्पन्न होते हैं जिनसे परस्पर सहयोग और सहानुभूति में मदद मिलती है।

जाति की एकता

कई राजनीति शास्त्रियों ने इस तत्त्व को अत्यंत महत्व दिया है किंतु आज किसी भी देश में एक ही जाति से सम्बन्धित लोग नहीं रहते हैं। भारत में भी जातिगत अनेकरूपता स्पष्टतया दिखाई

देती है, किंतु यहां पर विविधता में एकता की बात कही गई है –

पंजाबी, गुजरात–निवासी, बंगाली हों या बृजवासी,
राजस्थानी या मद्रासी सब के सब हैं भारतवासी।[18]

भाषा की एकता

किसी भी राष्ट्र का साहित्य, इतिहास, लोक कथाएं व दर्शन वहां की भाषा में निबद्ध होती है एवं आने वाली पीढ़ियों के लिए वह उनको एकसूत्रता में बांधे रखने का साधन होता है।

सांस्कृतिक एकता

राष्ट्रीयता के निर्माण में उस राष्ट्र की रीति–रिवाज, लोक–साहित्य, लोकगीत–संगीत, परंपराओं, कला–दर्शन इत्यादि सांस्कृतिक तत्त्वों की एकता का महत्त्वपूर्ण योगदान है। आचार–विचार, दर्शन व संस्कृति की समानता वाले लोगों में एकरूपता की भावना होना स्वाभाविक है। अत: इसे राष्ट्रीयता की भावना के लिए अपरिहार्य तत्त्व माना गया है। भारतीय राष्ट्रीयता का मूल तत्त्व सांस्कृतिक एकता ही है इसीलिए यहां सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को माना जाता है। विविधता में एकता का आदर्श भारतीय सांस्कृतिक चेतना का सार माना गया है। इस संबंध में महाकवि रामधारी सिंह दिनकर ने सांस्कृतिक एकता में ही भारत की झांकी देखी है –

जहाँ कहीं एकता अखण्डित, जहाँ प्रेम का स्वर है,
देश–देश में खड़ा वहाँ भारत जीवित भास्वर है।[19]

ऐतिहासिक घटनाओं की एकता

गौरवपूर्ण अतीत वर्तमान में प्रेरणा का संदेशवाहक होता है, गौरव पूर्ण इतिहास की स्मृति राष्ट्र को सफल बनाती है। राष्ट्रीयता की भावना के लिए अपने इतिहास का अध्ययन अवश्य करना चाहिए जिसमें राष्ट्रीय शौर्य, उदारता, सांस्कृतिक श्रेष्ठता और सत्यनिष्ठा का उल्लेख हो एवं जिससे राष्ट्रीय गौरव की भावना बलवती हो।

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर ने 'मंगल आह्वान' में इतिहास के माध्यम से वर्तमान के पुनरुद्धार के लिए देशवासियों का आह्वान इस प्रकार करते हैं –

प्रियदर्शन इतिहास कण्ठ में,
आज ध्वनित हो काव्य बने,
वर्तमान की चित्रपटी पर,
भूतकाल संभाव्य बने।[20]

एकता एवं सहयोग की सार्वजनिक इच्छा

संगठन में ही शक्ति होती है अत: किसी भी राष्ट्र के निवासियों में जब तक परस्पर प्रेम, सहयोग व एकता का भाव पैदा नहीं होगा तब तक वहाँ राष्ट्रीयता की भावना का होना असंभव है। इस सम्बन्ध में वैदिक उद्घोष– *'सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्'* भी सभी को सुसंगठित रहकर एक साथ चलने की प्रेरणा देता है। डॉ. अंबेडकर के अनुसार 'एकता की संगठित भावना के कारण ही जिन लोगों में यह भावना होती है, वह सब अपने को एक दूसरे से संबंधित समझते हैं।' इसी प्रकार पाश्चात्य विचारक मैजिनी भी सार्वजनिक इच्छाओं को राष्ट्रीयता का आधार स्वीकार करते हैं।[21] इसी प्रकार आर्थिक और राजनीतिक हितों की एकता भी राष्ट्रीयता का प्रमुख तत्त्व है।

इनके अतिरिक्त राष्ट्रीयता की भावना को विकसित करने के कुछ अन्य साधन तत्त्व भी हैं, यथा–राष्ट्रप्रेम, सांस्कृतिक चेतना, स्वाभिमान, आत्मबलिदान की भावना, स्वाधीनता, प्रेम व समन्वय की भावना इत्यादि।

राष्ट्रीयता की भावना के विकास में हिन्दी साहित्य का योगदान

वैदिककाल से ही भारतीय साहित्य में राष्ट्र व राष्ट्रीयता जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों पर एक विशद चिन्तन की परम्परा रही है। कवियों ने भारतवर्ष की भौगोलिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक श्रेष्ठता एवं विराटता का गुणगान मुक्त कण्ठ से प्रस्तुत किया है। हिन्दी साहित्य में विशेषतौर पर आधुनिककाल (1850 ई. से आरम्भ) की कविताओं में राष्ट्रवादी पुट का बाहुल्य है। यह वही समय था जब भारत अंग्रेजी शासन द्वारा परतन्त्रता की बेडियों में जकड़ा हुआ था, जनता उस क्रूर व अन्यायी शासन से त्रस्त थी। उसी समय भारतेंदु हरिश्चंद्र का जन्म होता है व अपनी रचनाओं के माध्यम से वे भारत की दुर्दशा को देखकर भारतीयों के टूटे हुए आत्मविश्वास को पुन: जाग्रत करने के उद्देश से अतीत का गुणगान कर प्राचीन गौरव की झाँकी प्रस्तुत करते हैं व वर्तमान भारत की दुर्दशा को काव्य के माध्यम से प्रकट करते हैं। भारतेंदु के काव्य में देश प्रेम की भावना कूट–कूट कर भरी हुई है –

भारत भाग सरिस कोई नाही

भारत के अतीत पर गौरवान्वित होते हुए उन्होंने लिखते हैं–

भारत के भुजबल जग रक्षित,
भारत विद्यालहि जग सिच्छित।[22]

भारतेंदु की राष्ट्रीय कविता सांस्कृतिक आधार लिए हुए हैं वह अतीत की तरफ उन्मुख है और प्राचीन तथा मध्ययुगीन वीरों के कृतियों से अनुप्राणित है।

मैथिलीशरण गुप्त ने परतंत्र भारत की दुर्दशा को देखा था और साथ ही उसको समाप्त करने का सुनहरा सपना भी संजोया था। 1912 ईस्वी में भारत भारती लिखकर देशवासियों का ध्यान वर्तमान दुर्दशा की ओर खींचा और अतीत की गौरवमयी झांकी

प्रस्तुत करके उन्हें पराधीनता की बेड़ियों से मुक्त होने के लिए प्रोत्साहित किया। उन्होंने इस कृति में भारतीयों की राष्ट्रीय चेतना को जगाने का कार्य किया –

हम कौन थे क्या हो गए हैं और क्या होंगे अभी,
आओ विचारे आज मिलकर यह समस्याएं सभी।
सुख और दुख में एक साथ सब भाइयों का भाग हो,
अंत: करण में गूंजता राष्ट्रीयता का राग हो।।[23]

आधुनिक हिन्दी साहित्य में अपनी राष्ट्रवादी रचनाओं के कारण मैथिलीशरण गुप्त को 'राष्ट्रकवि' के रूप में ख्याति मिली है। गुप्त जी ने मातृभूमि रचना में भारतमाता के प्राकृतिक सौन्दर्य का अत्यन्त मनोरम वर्णन इस प्रकार किया है –

नीलाम्बर परिधान हरित तट पर सुन्दर है,
सूर्य-चन्द्र युग मुकुट, मेखला रत्नाकर है,
नदियां प्रेम प्रवाह, फूल तारे मण्डन हैं,
बन्दीजन खग-वृन्द, शेषफन सिंहासन हैं, [24]

प्रसिद्ध कृति भारत भारती में गुप्त जी ने हमारे विश्वगुरु होने को इन शब्दों में वर्णित किया है –

यह पुण्यभूमि प्रसिद्ध है, इसके निवासी आर्य हैं,
विद्या, कला, कौशल्य सब के जो प्रथम आचार्य हैं। [25]

जयशंकर प्रसाद ने 'चन्द्रगुप्त' नाटक के पात्र कार्नेलिया नामक विदेशी बालिका के माध्यम से भारत की गौरवगाथा का मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करवायी है। कार्नेलिया चन्द्रगुप्त से कहती है, 'मुझे इस देश से जन्मभूमि के समान स्नेह होता जा रहा है।.... अन्य देश मनुष्यों की जन्मभूमि हैं, यह भारत मानवता की जन्मभूमि है।' इसी क्रम में सिकंदर ने चाणक्य से कहा है, 'धन्य हैं आप, मैं तलवार खींचे हुए भारत में आया-हृदय देकर जाता हूँ।'[26] परतन्त्रता एक विडम्बना है एवं स्वतंत्रता की प्राप्ति में वीरता के साथ जुटे रहना ही हमारा लक्ष्य है –

हिमाद्रि तुंग श्रृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती,
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला स्वतंत्रता पुकारती। [27]

राष्ट्रवादी भावना को अभिव्यक्त करती जयशंकर प्रसाद की कविताओं यहाँ प्रस्तुत हैं –

'मधुमय देश हमारा!' कविता में –

अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा। [28]

स्वतन्त्रता पुकारती एवं हमारा प्यारा भारतवर्ष में भी राष्ट्रवादी भावना से ओतप्रोत विचार निबद्ध हैं, यथा–

हिमालय के आंगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार। [29]

माखनलाल चतुर्वेदी ने अपनी लेखनी के माध्यम से देशवसियों में राष्ट्रीय चेतना का प्रचार-प्रसार किया। चतुर्वेदी जी ने स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय सन् 1922 ई0 में बिलासपुर जेल में 'पुष्प की अभिलाषा' नामक प्रसिद्ध कविता लिखी –

मुझे तोड़ लेना वनमाली! उस पथ पर देना तुम फेंक,
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक। [30]

महाकवि सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने भारत के स्वर्णिम इतिहास की स्मृतियों की पुनरावृत्ति कर देशप्रेम की भावना को व्यक्त करते हुए 'खण्डहर के प्रति' शीर्षक कविता में कहा है कि यह भारतभूमि भीष्म, भीम, अर्जुन जैसे वीरों एवं व्यास, वाल्मीकि, कालिदास जैसे कवियों की जन्मस्थली रही है।

कवयित्री सुभद्रा कुमारी चौहान की रचनाओं में से तीन कविताएँ राष्ट्रप्रेम के लिए प्रसिद्ध हैं। *'वीरों का कैसा हो वसन्त?'* कविता का एक अंश –

आ रही हिमाचल से पुकार, है उदधि गरजता बार बार,
प्राची पश्चिम भू-नभ अपार, सब पूछ रहे हैं दिग-दिगन्त,
वीरों का कैसा हो वसन्त? [31]

अपनी सर्वाधिक प्रसिद्ध कविता 'झाँसी की रानी' में महारानी लक्ष्मीबाई के शौर्य व बलिदान को जिन शब्दों में अभिव्यक्त किया है उसने जनमानस पर गहरी छाप छोड़ी है।

सिंहासन हिल उठे राजवंशों ने भृकुटी तानी थी,
बूढ़े भारत में भी आई फिर से नयी जवानी थी,
चमक उठी सन् सत्तावन में, वह तलवार पुरानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी,
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झांसी वाली रानी थी।। [32]

कवि रामधारी सिंह 'दिनकर' के साहित्य-सृजन की मूल चेतना राष्ट्रवादी है, उन्होंने अपनी काव्य-कृतियों 'कुरुक्षेत्र', 'प्रणति', 'हिमालय', 'मेरे प्यारे देश', 'मंगल मूर्ति तिरंगा प्यारा', 'परशुराम की प्रतिज्ञा' में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के माध्यम से देशप्रेम के स्वर को बुलंद किया है।

'किसको नमन करूँ मैं?' शीर्षक की कविता में उन्होंने राष्ट्र का महिमामण्डित करते हुए कहा है –

मानवता के इस ललाट-चन्दन को नमन करूँ मैं?
किसको नमन करूं मैं भारत! किसको नमन करूँ मैं? [33]

इसी प्रकार राष्ट्रवाद व देशभक्ति की भावना से ओतप्रोत प्रसिद्ध कविता 'हिमालय' में भारत के अतीत की गौरवगाथा का चित्रण करते हुए भारत को पुण्यभूमि कहा गया है।

निष्कर्ष

भारत विश्व की प्राचीनतम व श्रेष्ठतम सभ्यता है जहाँ ज्ञान-विज्ञान का सर्वप्रथम आगमन हुआ। यहाँ वैदिक काल से ही राष्ट्र व राष्ट्रीयता सम्बन्धी विशद चिन्तन प्राप्त होता है। वर्तमान समय में अनेक साहित्यकारों ने ज्ञान की इस धारा को अपने कृतित्त्व से सींचा है। इसी क्रम में कवियों ने इस राष्ट्र की सांस्कृतिक चेतना, महापुरुषों की जीवनी को आधार बनाकर माँ भारती को समर्पित राष्ट्रवादी साहित्य की रचना की जिसका क्रम सतत व अनवरत जारी है।

सन्दर्भ सूची-

1. ऋग्वेद, 4/42/1
2. वही, 7/34/11
3. वही, 10/109/3
4. ऐतरेयब्राह्मण, 8/26
5. ऐतरेयब्राह्मण, 7/22
6. हिन्दीसाहित्यकोश, भाग-1, पृ. सं. 710
7. अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात्।
   रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत् प्रभुः॥ मनुस्मृति
8. Political Science and Constitutional Law, Part-1, *J.W. Burgess, Pg. 1*
9. राष्ट्रीयता एवं हिन्दी नाटक, विभुराम मिश्र, पृ. सं. 2
10. वही
11. राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त, पुखराज जैन, द्वितीय खण्ड, पृ. सं. 21
12. हिन्दी कविता में युगान्तर, डॉ. सुधींद्र, पृ. सं. 37
13. राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध,डॉ. नंददुलारे वाजपेई, पृ. सं. 2
14. बीसवींसदी : हिन्दी के मानक निबन्ध, भाग -1, सं. डॉ.राहुल, पृ. सं. 434
15. राजनीतिशास्त्र के सिद्धान्त, पृ. सं. 83-84.
16. शतपथ ब्राह्मण, 6/7/3/7
17. गया प्रसाद शुक्ल,'स्वदेश' नामक अखबार में प्रकाशित
18. राष्ट्रीयता एवं भारतीय साहित्य, पृ. सं. 53
19. वही,पृ. सं. 56
20. दिनकर रचनावली-3, पृ. सं. 21
21. राजनीतिक सिद्धान्त और शासन, कृष्णकान्त मिश्र, पृ. सं. 227
22. भारतेंदु ग्रन्थावली, पहला खण्ड, पृ. सं. 155
23. भारत भारती, अतीतखण्ड, पृ. सं. 11
24. हिन्दी साहित्य का वस्तुपरक इतिहास, पृ. सं. 1052
25. भारत भारती, अतीत खण्ड, पृ. सं. 12
26. राष्ट्रीयता एवं भारतीय साहित्य, पृ. सं. 165
27. चन्द्रगुप्त,पृ. सं. 126
28. वही, पृ. सं. 67
29. स्कन्दगुप्त,पृ. सं. 132
30. पुष्प की अभिलाषा, पृ. सं. 101
31. सुभद्रा कुमारी चौहान मुकुल तथा अन्य कविताएं, पृ. सं. 111
32. वही, पृ. सं. 56
33. दिनकररचनावली, पृ. सं. 294

संदर्भ ग्रन्थ सूची-

1. राष्ट्रीयता, बाबू गुलाबराय, किताबघर, दिल्ली, 1996
2. राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय एकता, रामधारी सिंह दिनकर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1957
3. राजनीतिविज्ञान के सिद्धान्त, पुखाराज जैन, साहित्य भवन आगरा, 1966
4. सुभद्रा कुमारी चौहान मुकुल तथा अन्य कविताएं, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद संस्करण, 1996
5. पुष्प की अभिलाषा, माखनलाल चतुर्वेदी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1969
6. स्कन्दगुप्त, जयशंकर प्रसाद, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, 2012
7. चन्द्रगुप्त, जयशंकर प्रसाद, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, 2011
8. हिन्दी साहित्य का वस्तुपरक इतिहास, रामप्रसाद मिश्र, साहित्य भण्डार, दिल्ली, 1998
9. भारत भारती, मैथिलीशरण गुप्त, लोक भारती प्रकाशन, पहला संस्करण, इलाहाबाद, 2014
10. भारतेंदु ग्रन्थावली, शिवप्रसाद मिश्र, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणासी
11. दिनकर रचनावली-3, सम्पा. नन्दकिशोर नवल, व तरूण कुमार, लोक भारती प्रकाशन, पहला संस्करण, इलाहाबाद, 2011
12. राष्ट्रीयता एवं भारतीय साहित्य, शशि तिवारी, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, 2014
13. संस्कृत साहित्य में राष्ट्रिय भावना, हरिनारायण दीक्षित, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 2006
14. राष्ट्रीय एकता और भारतीय साहित्य, काशी अधिवेशन स्मृति ग्रन्थ, अखिल भारतीय साहित्य परिषद, सम्पा.-योगेन्द्र गोस्वामी, 2001

ISSN 2278 - 0327

विभिन्न देशों में हिन्दी साहित्यकार और उनका साहित्य

'एक परिचयात्मक अध्ययन' (प्रवासी साहित्य के संदर्भ में)

डॉ. सुरेश कुमार बैरागी

(एम.ए.) एम.एड्. एम.फिल्,, नेट, सेट

पी-एच. डी.- बरकतउल्ला विश्वविद्यालय, भोपाल, म.प्र.

पद- समन्वयक (CAC) बी. आर. सी. कार्यालय खिलचीपुर जिला- राजगढ़

E-mail :- bairagisureshkumar.sb@gmail.com

शोध सार- भारतीय मूल के लोग समस्त विश्व में फैले हुए हैं। उन्होंने विदेशों को अपनी कर्मभूमि बनाया है। बींसवी सदी में उपलब्ध प्रवासी साहित्य से आज का प्रवासी साहित्य एकदम अलग है। प्रौद्योगिकी जैसे-जैसे उन्नत होती गई वैसे-वैसे यह साहित्य भी जनप्रिय होता गया और जन-जन तक पहुंचता गया। भारतीय मूल के विदेशों के रहने वाले लेखकों के सृजनात्मक लेखन को प्रवासी साहित्य कहा जाता है, जिन्होंने 'हिन्दी' को केंद्र में रखकर, माध्यम बनाकर हिन्दी में लिखा है वह प्रवासी हिन्दी- साहित्यकार हैं। प्रवासी लेखक अनेक बार स्वदेश-परदेश के द्वन्द्व में जीता हुआ नई-नई अनुभूतियों तनावों और विसंगतियों से गुजरता है और जिसको साहित्य में नए भाव-बोध, नए दृष्टिकोण तथा नए जीवन मूल्यों के साथ सर्जन कर देता है।

प्रवासी हिन्दी साहित्य के अंतर्गत कविताएं, उपन्यास, कहानियां, नाटक, एकांकी महाकाव्य, खंडकाव्य, अनूदित साहित्य, यात्रा वर्णन, आत्मकथा आदि का सृजन हुआ है। इन साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं के द्वारा नीति मूल्य मिथक, इतिहास, सभ्यता आदि के माध्यम से भारतीयता को सुरक्षित रखा है। हिन्दी को प्रवाहित और जिंदा रखा है। विदेशी परिवेश में सामंजस्य स्थापित करने की जद्दोजहद में टूटते जीवन मूल्य, परिवर्तित होती जीवन-शैली एवं सांस्कृतिक विलगाव की यथार्थ अभिव्यक्ति इनके साहित्य में स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। प्रवासी साहित्य हिन्दी साहित्य की एक धारा है। विदेशी धरती पर भारतीय जीवन मूल्यों से सीधी टकराहट है। यह नये साहित्यिक विमर्श का प्रतीक है जिसने राजनीति, अर्थ, समाज, उद्योग, संस्कृति, कूटनीति आदि सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया है। प्रवासी हिन्दी साहित्यकारों ने ब्रिटेन, अमेरिका, कनाडा, गुयाना, मॉरिशस, सूरीनाम, त्रिनिनाद (वेस्टइंडिज) आदि स्थानों से हिन्दी में साहित्य का सृजन कर, हिन्दी साहित्य को समृद्धि की ओर अग्रसर करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

बीज शब्द - प्रवासी साहित्य, प्रवास, यथार्थ, समस्याएं, पलायन, विमर्श।

प्रस्तावना - समकालीन परिप्रेक्ष्य में विदेशों में रहने वाले भारतीय मूल के लेखकों द्वारा लिखे साहित्य (प्रवासी साहित्य) का अपना अलग ही महत्व है। हिन्दी शब्दकोषों में 'प्रवासी' का अर्थ होता है विदेशों में रहने वाले भारतीय परंतु अन्य भाषाओं में इस शब्द का अर्थ और प्रयोग भी अलग-अलग है। कुछ विद्वानों के अनुसार हिन्दी में इसका बहुत संकुचित अर्थ लिया जाता है। व्यापक अर्थ में जो लेखन अपने घर से दूर हुआ है, यानी विदेश में वह प्रवासी साहित्य है।

वाक्युबलरी डिक्शनरी में इसकी परिभाषा इस प्रकार दी गई है-

A Diaspora is a Large group of Aeople with a similar heritage or Homeland who have since moved out to Pleces all over the world.

अर्थात् 'प्रवासी ऐसे लोगों का एक बड़ा समूह है, जिनकी विरासत या मातृभूमि एक समान है और जो विश्व के अन्य स्थलों से स्थानांतरित हो गए हैं।' [1]

प्रवास शब्द का अर्थ है,- 'विदेश गमन विदेश यात्रा। अत: किसी दूसरे देश में रहने वाला व्यक्ति प्रवासी है।' [2]

डॉ. रामदरश मिश्र के अनुसार 'प्रवासी साहित्य ने हिन्दी को नई जमीन दी है और हमारे साहित्य का दायरा दलित विमर्श और स्त्री विमर्श की तरह विस्तृत किया है।' [3]

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में प्रवासी साहित्य अपने उच्चतम सोपान की ओर अग्रसर है। संवेदनशील प्रवासी भारतीयों ने अपने प्रवास के दौरान विस्थापन से संबंधित समस्याओं को अपने आस-पास

घटित घटनाओं को अपनी कलम के माध्यम से साहित्य द्वारा उजागर किया है। अपने विचारों, अपनी सोच, दृष्टिकोण चिंतन व मान्यताओं द्वारा लेखन कार्य प्रारंभ किया। अपने सामाजिक परिवेश से व परिस्थितियों से प्रभावित होकर अलग-अलग विषयों में साहित्य की रचना की यही से प्रवासी हिन्दी साहित्य का श्री गणेश हुआ।

प्रवासी साहित्य के अंतर्गत जहां व्यक्ति के मन में एक और नई जगह जाने का उत्साह उमंग व चुनौती है, नई आशाएं और कामनाएं हैं तो दूसरी ओर बिछोह की पीढ़ा है, विस्थापन का कष्ट है और भविष्य की चिंताएं व आकांक्षाएं हैं।

अपनों का बिछोह प्रवासी के मन में एक गहरी कसक व पीढ़ा उत्पन्न करता है, जिसे व्यक्ति नवीन सुखमय भविष्य की आशा में भुलाने की चेष्टा करता है।

वातावरण सुखमय और सुख-सुविधा संपन्न है तो व्यक्ति नए वातावरण में रम जाता है और बिछोह की पीढ़ा धीरे-धीरे कम हो जाती है। वहीं दूसरी और प्रवासी को वह वातावरण नहीं मिल पाता जिसके लिए वह अपना घर-बार छोड़ कर आया है, तो प्रवास बड़ा कष्टकर लगता है और उसका मन क्षोभ, ग्लानि और पीढ़ा से भर जाता है। दुविधा यह होती है कि वह न तो अपने देश को जा सकता है और न ही उसका मन यहां लगता है।[4]

प्रवासी साहित्य, संवेदना के धरातल पर पूरे वर्ग विशेष का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो विदेशों में बसा है। भारत की तुलना में विदेशी मुद्रा का अवमूल्यन अधिक होने के कारण युवा वर्ग आकर्षित होता है, लेकिन इस आकर्षण के पीछे का घोर यथार्थ कुछ और ही है। विदेश में पहुंचते ही व्यक्ति उन सब कामों को करने के लिए भी तत्पर हो जाता है, जो अपने देश में उसे बहुत छोटे व तुच्छ से प्रतीत होते हैं। 5

दोहरी मानसिकता के अन्तर्द्वन्द्व में वह ऐसा उलझ जाता है कि वह एक तरफ भारत के आध्यात्मिक अतीत पर मुग्ध होता है, उसके लिए आहें भरता है तो दूसरी तरफ भौतिकता में उलझे उसके गरीब और पिछड़े वर्तमान पर आंसू बहाता है। उसके प्रति विरक्ति भाव से प्रेम प्रदर्शित करता है। यह विभाजित मन उन प्रवासी भारतीयों का है जो न तो सही अर्थों में अपनी धर्म और संस्कृति के प्रति तटस्थ रह पाते हैं और न ही निवैक्तिक। फिर भी वे दोनों संस्कृतियों के प्रेमी आलोचक हैं। ये लोग विदेशों में भारतीय और भारत में विदेशी जीवन शैली और मूल्यों के साथ जीते हैं। उनकी जड़ें भारतीय परम्परा में नहीं होती पर साथ ही उनका पश्चिमीकरण भी बहुत सतही स्तर वाला होता है वे पश्चिमी संस्कृति के बाह्य लक्षणों का अनुकरण करते हैं पर गहराई में जाकर उसकी आत्मा से साक्षात्कार करने में कतराते हैं साथ ही पश्चिमी संस्कृति के सुख सुविधा और स्वच्छंदता तो चाहते हैं, पर उनसे होने वाला अवमूल्यन उन्हें चिंतित करते हैं।

अपने जीवन मूल्यों को वह पकड़े रहना चाहता है क्योंकि इसी मूल्य से उसकी पहचान है ये नए देश के मूल निवासी कभी भी उसे पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं कर पाते। रूप रंग और भेद ही नहीं भाषा, खान-पान, आचार-विचार, रीति-रिवाज, जीवन मूल्य का अंतर विदेश में उसे अलग बनाए रखता है। यही प्रवासी का दंश हैं।[6]

प्रवासी भारतीय विश्व के अनेक देशों में फैले हुए हैं। 48 देशों में रह रहे प्रवासियों की जनसंख्या करीब 2 करोड़ है। इनमें से 11 देशों में 5 लाख से ज्यादा प्रवासी भारतीय वहां की औसत जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करते हैं और वहां की आर्थिक व राजनीतिक दशा व दिशा को तय करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।[7] इन प्रवासियों को दो वर्गों में रख कर देखा जा सकता है- पहला वर्ग ऐसा वर्ग है, जिन्हें अंग्रेज, फ्रांसीसी शासक व डच अपने-अपने गुलाम देशों से गिरमिटिया मजदूर बनाकर ले गए थे। भारत से फीजी, सूरीनाम, मॉरिशस, त्रिनिदाद गए। इन गिरमिटिया मजदूरों ने हिम्मत नहीं हारी। तमाम कष्टों तिरस्कारों परेशानियों और अन्याय तथा शोषण होने पर भी परायी भूमि में अपनी पहचान को बनाए रखा। यही कारण है कि देश से दूर विदेशों में भारतीय भाषा व संस्कृति अक्षुष्ण रही।[8]

दूसरे वर्ग में वे भारतीय शामिल है जो अपनी इच्छा से देश छोड़कर विदेशों में बस गए हैं। देश की आजादी से बहुत पहले ही भारतीयों ने विदेशों में जाकर बसना शुरू कर दिया था। बेशक वे विदेशों में जाकर बस गए हो, पर अपनी जड़ों से नहीं कटे हैं। विदेशों में रहने वाले प्रवासी लेखकों ने अपनी लेखनी को माध्यम बनाकर न केवल भारतीय परिवेश संस्कारों यहां की मिट्टी की गंध, पर्व-त्यौहारों को जीवित रखा वरन विदेशों के परिवेश, संस्कारों, समस्याओं, परिस्थितियों एवं भाषा से भी हिन्दी पाठकों को रूबरू करा कर हिन्दीक का अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप विकसित किया है।

प्रवासी साहित्यकार और उनका साहित्य - वैश्विक धरातल पर प्रवासी हिन्दी साहित्य की चर्चा में सर्वप्रथम नाम मॉरीशस का आता है जहां पर अभिमन्युन अनत, ब्रजेन्द्र कुमार भगत, मधुकर, सोमदत्तर बखोरी, हरिनारायण सीता, ठाकुरदत्ती पाण्डेय, मुनीश्वरलाल चिन्तामणी, बीरसेन, जागसिंह, पूजानन्द नेमा, हेमराज सुन्दर, धनराज शम्भु, राज हीरामन, सुमति सन्धु, कालीचरण, जनार्दन

कालीचरण, परमेश्वर बिहारी, देवानन हेमराज, रामजीयावन, सूर्यप्रसाद मंगर आदि ने हिन्दी भाषा को विदेशों में स्थाापित करने का प्रयास किया। इन्हीं में मॉरिशस के प्रेमचंद के नाम से विख्यात हिन्दी कथा साहित्य के सम्राट अभिमन्युर अनत अपने उच्च स्तरीय उपन्यास और कहानियों द्वारा मॉरीशस को हिन्दी साहित्य के मंच पर प्रतिष्ठित किया। अभिमन्यु अनत की कविताओं में शोषण दमन और अव्याचार के खिलाफ आवाज बुलंद की गई है। बेरोजगारी की समस्या पर भी दृष्टांकन किया है।

कैक्टस के दांत, नागफनी में उलझी सांसे, एक डायरी बयान, गुलमोहर खौल उठा आदि प्रमुख कविता संकलन है। लहरों की बेटी, मार्कट्वेन का स्वर्ग, फैसला आपका, मुड़िया पहाड़ बोल उठा और नदी बहती रही, आंदोलन, एक बीघा प्यार आपके लघु उपन्यास है। लाल पसीना कालजयी महाकाव्यात्मक उपन्यास है। अभिमन्यु अनत आर्थिक कठिनाईयों के कारण सुचारू रूप से औपचारिक शिक्षा ग्रहण नहीं कर पाए लेकिन अपने श्रम से प्रसिद्ध लेखकों की रचनाओं को पढ़कर अपनी लेखन की कला का प्रमाण दिया। वे एक सजग, प्रतिबद्ध और कर्मठ रचनाकार हैं। [9]

प्रथम प्रवासी कवि के रूप में पंडित लक्ष्मी नारायण चतुर्वेदी का नाम उल्लेखनीय है जिन्होंने प्रथम रचना रसपुंज कुंडलियां की रचना की। इसके अतिरिक्त चतुर्वेदी ने अनेक रचनाओं के माध्यम से साहित्य को विकास की ओर उन्मुख किया।

अमेरिका के प्रवासी हिन्दी साहित्य में जो तीन सबसे सशक्त हस्ताक्षर हैं और जिनके उल्लेख के बिना हिन्दी साहित्य का इतिहास पूरा नहीं होता वे हैं उषा प्रियंवदा, सुनीता जैन और सोमा वीरा।

साठ के दशक में प्रकाश में आए इन तीनों ने ही साहित्य की कई उल्लेखनीय कृतियां दी हैं। जीवन शैली की भिन्नता सोच का वैभिन्य और भाषागत भिन्नता एक किस्म का कल्चरल शॉक देती रही।[10]

अन्य रचनाकारों में कमला दत्त, वेदप्रकाश बटूक और इंदुकांत शुक्ला क्रमश: उमेश अग्निहोत्री, अनिल प्रभात कुमार आदि ने साहित्य लेखन किया।

सत्तर और अस्सी के दशक में सुदर्शन प्रियदर्शिनी, अनिल प्रभा कुमार, मधु माहेश्वरी, उषा देवी, विजय कोल्हंटकर, स्वर्गीय रामेश्वकर अशान्त, कमलेश कपूर, श्याम नारायण शुक्ला, ओम ढींगरा, ललित आहलूवालिया, आर्य भूषण, डॉक्टर भूदेव शर्मा, डॉ. वेदप्रकाश सिंह और अरुण और सुषमा वेदी प्रकाश में आए ।

सुषमा वेदी का हवन उपन्यास काफी चर्चित रहा। सरस्वती की धार, चिड़िया और चील, दरबान आदि कहानियां इन्होंने लिखी है। रामेश्वर अशांत का पत्रिकाओं, वेब पत्रिकाओं का योगदान सराहनीय है। उषा देवी कोल्हुटकर ने हिन्दीं के साथ ही मराठी में भी लिखा हैं । स्वदेश राणा ने कोठे वाली उपन्यास लिखा था जो कि काफी चर्चित रहा है।

कनाडा में मधु वार्ष्णेई, सुमन घई, श्री नरेंद्र भागी, आचार्य शिवराकर द्विवेदी, राज शर्मा, श्री श्याम त्रिपाठी, श्रीनाथ द्विवेदी, श्री समीर लाला, जसवीर कलखी, हरदेव सोढ़ी, डॉक्टर भूपेंद्र सिंह, श्री भुवनेश्वरी पांडेय, श्री अमर सिंह जैन एवं अर्चना पैब्युली (डेनमार्क) ने प्रवासी साहित्य को विकास की दिशा प्रदान कर साहित्य का समुन्नत किया है।

फीजी में श्री दिवाकर प्रसाद और श्री भास्कर मिश्र ने फीजी रेडियो में हिन्दी को प्रतिष्ठित किया है।

डॉ. मणिलाल ने मॉरीशस एवं फिजी में दलित प्रवासी भारतीयों को सम्मान दिलाने के लिए लंबा संघर्ष किया। 'द सेटलर' के नाम से वर्ष 1913 में समाचार पत्र प्रकाशित किया जिसका उद्देश्य मजदूरों को संगठित करना था। इसी का हिन्दी संस्करण पंडित शिवराम शर्मा ने निकाला जिसे फीजी का पहला हिन्दी समाचार पत्र माना जाता है।

बाबू राम सिंह ने फीजी समाचार, वैदिक संदेश, शताब्दी दूत आदि का प्रकाशन और संपादन किया। इसके अतिरिक्त कमला प्रसाद मिश्र, विवेकानंद शर्मा, महावीर मिश्र, ज्ञानी सिंह सुब्रमणी, काशीराम कुमुद आदि ने भारी संख्या में रचनात्मक लेखन किया है। इसके अतिरिक्त सुरजन परोही, ममता लक्ष्मना (त्रिनिदाद), हरिशरि आदेश, गुयाना के रउल बूटी सिंह, रामलाल, दक्षिण अफ्रीका के पंडित तुलसी, भुवनेश्वरी पांडेय, अमर सिंह जैन, अर्चना पैन्युली (डेनमार्क) आदि साहित्यकारों ने प्रवासी साहित्य को समृद्ध कर हिन्दी का मान बढ़ाया है। ग्रेटब्रिटेन के हिस्से इंग्लैंण्ड को अनेक साहित्यकारों ने अपनी कर्मभूमि बनाया है। इन साहित्यकारों में तेजेंद्र शर्मा, डॉक्टर सत्येंद्र श्रीवास्तव, उषा राज सक्सेना, डॉ. कृष्णा कुमार, तेजिन्द्र शर्मा, डॉ. कविता वाचक्नवी, डॉक्टर निखिल कौशिक, मोहन राणा, श्रीमती दिव्या माथुर, डॉ. गौतम सचदेव, श्रीमती उषा व्यास, सोहन राही, रमा जोशी, चंचल जैन, अचला शर्मा, मोहला, नीना पॉल, डॉक्टर इंदिरा आनंद, वेद मिश्र मोहला, कीर्ति चौधरी, अरुणा सभरवाल, कादंबरी मेहरा, पुष्पा भार्गव, विद्या नायर, उषा वर्मा, रमेश पटेल, शैल अग्रवाल, प्रियंवदा मिश्र, पदमेश गुप्ता, महेंद्र दवेसर, दीपक व्यास, दिव्या

माथुर, डॉक्टर गौतम सचदेव, डॉक्टर निखिल कौशिक, मोहन राणा आदि नाम शामिल किया जाता है। इन्ही साहित्यकारों में एक नाम आता है तेजेंद्र शर्मा। प्रवासी हिन्दी साहित्य के सशक्त हस्ताक्षर तेजेंद्र शर्मा ने गद्य एवं पद्य दोनों ही विधाओं में अपनी लेखनी चलाई है। अब तक आपके सात कहानी संग्रह प्रकाशित हुए है। आपने अनेक उत्कृष्ट कहानियों की रचना की है जिनमें अधिकांश कहानियों के परिवेश का आधार विदेशी परिवेश ही रहा है।

तेजेंद्र शर्मा हिन्दी के ऐसे प्रवासी कहानीकार हैं जो दो देशों के बीच वैश्विक दुनिया में आ रहे परिवर्तनों के भी मानवीय संबंधों की अंतर तहों तक पहुंचकर उसे मनोवैज्ञानिक ढंग से अभिव्यक्त करते हैं।[11]

तेजेंद्र शर्मा विसंगतियों के शिल्पी हैं उनकी कहानियां सामाजिक, पारिवारिक, राजनीतिक विसंगतियों को जिस तरह सामने लाती है और जैसा वातावरण निर्मित करती है, वैसा कम ही देखा जाता है। दूसरी बात यह है कि तेजेंद्र शर्मा बहुत सरलता और सहजता से गहराई में उतरते हैं और अपने सार्थक कमेंट करने के बाद जितनी सरलता से नीचे उतरते थे उतनी ही सरलता से ऊपर आ जाते हैं। वे केवल विमर्श के कहानीकार नहीं हैं, उनमें संवेदना का जो बहाव है, वह पाठकों को अपनी गिरफ्त में ले लेता है। [12]

इन रचनाकारों ने अपने समय एवं समाज का यथार्थ अंकन कर प्रवासी साहित्य को समृद्ध कर मानवीयता की स्थापना की है। करूणा शंकर उपाध्याय के अनुसार- 'यह सच है कि वर्तमान वैश्विक परिवेश में भारत की बढ़ती उपस्थिति हिन्दी की हैसीयत का भी उन्नयन कर रही है। आज हिन्दी राष्ट्रभाषा की गंगा से विश्वभाषा का गंगासागर बनने की प्रक्रिया में है।[13]

इस प्रकार मॉरिशस, फीजी, इंग्लैंण्ड, अमेरिका, त्रिनिदाद, दक्षिण अफ्रीका आदि देशों में प्रवासी भारतीयों ने एक नई धरा पर, नये भाव बोधों के साथ हिन्दी साहित्य को उन्नत कर एक उदाहरण प्रस्तुत किया है।

परिणाम - प्रवासी साहित्य समस्त प्रवासी भारतीय समाज का प्रतिनिधित्व करता है विदेशों में अपने लिए हजार सपनों को लेकर गए हुए भारतीयों की मानसिक स्थिति का यह यथार्थ आईना प्रस्तुत करता है। प्रवासी साहित्यकारों द्वारा अनेक कठिनाइयों एवं परिस्थितियों के बाद भी साहित्य में नए भाव-बोध नये दृष्टिकोण तथा नए जीवन-मूल्यों की सर्जना की गयी है। हिन्दी साहित्य को समृद्ध और विकसित बनाने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करते हुए विदेशी धरती पर अपनी संस्कृति, भाषा और संस्कारों को कायम रखा है। उसी फलस्वरूप आज प्रवासी साहित्य हिन्दी के विकास में एक नवीन दिशा का दिग्दर्शन भी कर रहा हैं।

निष्कर्ष - प्रवासी साहित्यकारों ने विगत दो दशकों में अपनी विशिष्ट पहचान बनाई है। प्रवासी साहित्य हिन्दी भाषा के साहित्य का प्रमुख व महत्वपूर्ण अंग है। प्रवासी साहित्यकारों की रचनाओं में समाविष्ट संवेदनशीलता साहित्य में स्पष्ट परिलक्षित होती है। भारतीयों के पलायन, मुश्किलों में जीवन संघर्ष, मानसिक द्वंद आदि के साथ-साथ वह नित नए भाव-बोध नए जीवन मूल्य, नए दृष्टिकोण का सृजन कर प्रवासी भारतीय लेखकों ने अपनी सृजनात्मक लेखनी से हिन्दी साहित्य को एक अंतरराष्ट्रीय स्वरूप प्रदान कर इसको एक नई पहचान दिलाई है।

सन्दर्भ सूची -

1 https://www.vocabulary.com/dictionary/diaspora

2 वही

3 अक्षरम, संगोष्ठी, अप्रैल-जून 2006, प्र-6

4 संध्या गर्ग (संपा) प्रवासी साहित्य भाव और विचार, हिन्दी साहित्य संचय, प्रथम संस्करण 2017, पृ-76

5 रमा (संपा) प्रवासी हिन्दी साहित्य विविध आयाम दिल्ली : साहित्य संचय प्रथम संस्करण 2017, पृ-59

6 संध्या गर्ग (संपा) प्रवासी साहित्यि भाव और विचार, दिल्ली : साहित्य संचय प्रथम संस्करण 2017, पृ-76

7 इंडिया india and its dia 18 ministry of ujerseas indian Affairs मूल से- 4 मार्च 2016 को पुनर्लिखित, अभिगमन तिथि- 12.09.2012 8

8 संध्या गर्ग (संपा) प्रवासी साहित्य भाव और विचार दिल्ली : साहित्य संचय प्रथम संस्करण 2017, पृ-118

9 पांडेय, राकेश (जनवरी+अक्टूबर+दिसम्बर) 2005, मॉरीशस में हिन्दी, एक सिंहावलोकन- गीता कालोनी नई दिल्ली - प्रवासी संसार, पृ-13 से 19

10 रमा (संपा) संपादकीय प्रवासी हिन्दी साहित्य विविध आयाम दिल्ली : साहित्य संचय प्रथम संस्करण 2017,

11 ब्रजनारायण शर्मा (2009), वक्त के आइने में, हरि भटनागर (सं) रचना समय, भोपाल।

12 वजाहत असगर (2009), आवरण पृष्ठ 8, सीधी रेखा की परतें, तेजेन्द्र शर्मा, वाणी प्रकाशन, दिल्ली0, पृ.सं- 273

13 करूणा शंकर उपाध्याय, हिन्दी का विश्व संदर्भ- पृ- 11

ISSN 2278 - 0327

भाषा द्वारा मानव-विकास के उच्चतम आयाम-मोक्ष की प्राप्ति

(अद्वैताचार्य सर्वज्ञात्मन् के कृतित्त्व के विशेष सन्दर्भ में)

डॉ. ममता स्नेही
(असिस्टैण्ट प्रोफेसर)
विश्वविद्यालय स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग,
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा, बिहार
ईमेल- mamtasnehi111@gmail.com

कूट शब्द - *बन्धन, मोक्ष, भाषादर्शन, महावाक्य, लक्षणा, जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, जहदजहल्लक्षणा।*

अब्राहम हैराल्ड मास्लो (1908-1970) एक अमेरिकी मानवतावादी मनोवैज्ञानिक थे। मनोविज्ञान के क्षेत्र में इनका सबसे प्रसिद्ध सिद्धान्त आवश्यकता पदानुक्रम का सिद्धान्त मानव-विकास के सन्दर्भ में मानक माना गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार निम्नतम स्तर से उच्चतम स्तर की ओर मनुष्य की आवश्यकताओं एवं मानव के विकास के क्रम को क्रमश: दिखाया गया है-

(5) शारीरिक आवश्यकता-शारीरिक रूप से बुनियादी आवश्यकताएँ जैसे- खाना, पानी, श्वास, आराम, निद्रा आदि।

(4) सुरक्षा की आवश्यकता - शारीरिक सुरक्षा, स्वास्थ्य, आवास, रोजगार आदि।

(3) सामाजिक आवश्यकता- परिवार, दोस्त, रिश्ते इत्यादि।

(2) सम्मान की आवश्यकता- सम्मानित, प्रतिष्ठित, प्रशंसनीय होने की आकांक्षा।

(1) आत्म-प्राप्ति की आवश्यकता - आध्यात्मिक स्तर पर स्वयं को पाने की आकांक्षा। प्रस्तुत पत्र में मानव विकास के उच्चतम स्तर की आवश्यकता आत्म-प्राप्ति या मोक्ष है जो कि अद्वैत वेदान्त का परम् प्रयोजन ही माना गया है, उसकी प्राप्ति में भाषादर्शन के योगदान का वर्णन है।

अद्वैत वेदान्त में बन्धन एवं मोक्ष को भाषादर्शन के क्षेत्र से बाहर नहीं रखा जा सकता। बन्धन और मोक्ष दोनों भाषाजन्य ही हैं। वास्तव में संसार का कोई भी सत् या असत् तत्त्व प्रत्यक्षत: वा परोक्षत: भाषा या वाणी का विषय होता ही है। व्यक्ति का दैनिक अनुभव भी इसमें प्रमाण कहा जा सकता है। जिस प्रकार महावाक्यार्थजन्य सम्यक् ज्ञान ब्रह्मसम्बन्धी अज्ञान की निवृत्ति एवं ब्रह्मस्वरूप के प्रतिपादन में अनिवार्य साधन माना गया है, उसी प्रकार इसी के विपरीत परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो असम्यक् भ्रान्तिजन्य ज्ञान की उत्पत्ति भी भाषा द्वारा ही होती है, जो कि बन्धन का कारण बनता है, जिसके वशीभूत होकर व्यक्ति असत् को भी सद्रूप मान बैठता है और असद् के प्रति सद्वस्तु विषयक व्यवहार करने लगता है। जैसे- धन व्यक्ति के जीवन यापन का साधन मात्र है परन्तु धन के विषय में लोगों के कथन, उनके व्यवहार और भाषाप्रयोग धन को सत्य परिभाषित करते हुए दिखायी देते हैं और इन्हीं वचनों से व्यक्ति अज्ञानग्रस्त हो धन को स्थायी तत्त्व समझने लगता है। जबकि धन तो सर्वाधिक क्षणिक असत् तत्त्व है जो कि कब आए और कब चला जाए, इसकी कोई निश्चितता नहीं है। धन का तीनों कालों में सत् रहना तो असम्भव है, इसकी तो वर्तमान में क्षणभर की भी निश्चितता भी नहीं कही जा सकती। त्रिकालाबाधित तत्त्व तो एकमात्र ब्रह्म ही है जो कि सत्स्वरूप होने से व्यक्ति के जीवन का प्रथम लक्ष्य माना गया है। किन्तु धनादि के प्रति भी व्यक्ति का व्यवहार ऐसा दिखायी देता है जैसे कि धन संग्रह ही उसके जीवन का एकमात्र अन्तिम ध्येय हो, वह सम्पूर्ण जीवन बिना सोचे समझे धन संग्रह ही करता चला जाता है। इससे अतिरिक्त बन्धन का सर्वलोकसिद्ध उदाहरण और क्या होगा? अज्ञाननिवृत्ति के पूर्व की अवस्था बन्धन और अज्ञाननिवृत्ति के बाद की अवस्था ही मोक्ष कहलाती है। अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान द्वारा होती है। ज्ञान और अज्ञान दोनों का ज्ञान भाषा द्वारा ही पोषित और पल्लवित होता है। अत: मोक्ष की भाँति बन्धन भी भाषादर्शन के क्षेत्र से परे नहीं कहा जा सकता। बन्धन-मोक्ष के विषय में सर्वज्ञात्मन् कहते हैं कि अर्थ का मूल छल और सहिष्णुता, काम का मूल रूप-यौवन और सुन्दर शरीर, धर्म का मूल यागादि, दया और दम हैं किन्तु मोक्ष के लिए एक ही मार्ग है, वह है- समस्त क्रियाओं से निवृत्ति[1] और वह

अखण्ड ब्रह्मज्ञान द्वारा ही सम्भव है जो कि महावाक्यों के अर्थनिर्धारण के फलस्वरूप प्राप्त किया जाता है। अत: बन्धन से लेकर मोक्ष तक का मार्ग भाषा द्वारा ही तय किया जाता है। इसी तथ्य को सर्वज्ञात्ममुनि ने पञ्चप्रकिया में भी उद्धृत किया है- *'शब्दज्ञानं निदानं भवति हि जगत: श्रेयस: प्रेयसश्च'।*

उक्तार्थ के स्पष्टीकरण हेतु बन्धन एवं मोक्ष के स्वरूप को समझना आवश्यक है।

औपाधिक बह्म (आत्मा) में बन्धन

अविद्या से उपहित होने पर अज्ञान और उसके कार्य भेदात्मक जगत् के द्वारा शुद्ध ब्रह्म में उपादान और निमित्त कारणत्व, ईश्वरत्व, साक्षित्व, समस्त कार्य प्रपञ्च, नियन्त्रित अनेक जीव और दृश्य जगत् एक दूसरे की अपेक्षा से होते हैं अर्थात् सभी आपस में सम्बद्ध हैं क्योंकि सभी को आपस में एक-दूसरे की अपेक्षा होती है। ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति होने से वह कारण कहलाता है। जगत् पर शासन करने और जगत् का स्वामी होने के कारण ईश्वर कहलाता है, नियन्त्रित होने से जीव ईशितव्य कहलाता है, जगत् का तटस्थ द्रष्टा होने से साक्षीभाव उत्पन्न होता है, देखने योग्य होने से जगत् को दृश्य कहा जाता है। इस प्रकार सभी कारणत्व, साक्षित्व ईश्वरत्वादि उपाधियाँ एक-दूसरे की अपेक्षा से कही गयी हैं। जिस प्रकार व्यष्टि स्तर पर अज्ञान दशा में शुद्ध प्रत्यगात्मा में अज्ञान और उसके कार्य जगत् प्रपञ्च के द्वारा नियोज्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, प्रमातृत्व आदि सम्बन्ध भी अपेक्षा से होते हैं अर्थात् प्रत्यगात्मा (प्रत्येक शरीर के अन्दर स्थित आत्मा) में उपाधिभेद के कारण नियोज्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, प्रमातृत्व आदि की सत्ता होती है और ये सभी आपस में एक-दूसरे की अपेक्षा से जुड़े होते हैं। परन्तु ब्रह्म और प्रत्यगात्मा में अज्ञान दशा में होने वाला परिवर्तन जीव में होने वाले परिवर्तनों के समान नहीं होता क्योंकि जीव शरीर, इन्द्रियसंघात और अज्ञान से विशिष्ट होता है और इसमें होने वाले परिवर्तन जैसे कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि परिवर्तन तत्त्वत: (वास्तविक) होते हैं। कर्ता जीव, भोक्ता जीव से पृथक् होता है और प्रमाता जीव इन दोनों से अलग होता है। कोई भी विशिष्ट तत्त्व दूसरे विशिष्ट तत्त्व से हमेशा अलग ही होता है। जैसे- शुक्लत्व विशिष्ट पट, कृष्णत्व विशिष्ट पट से अलग होता है। जैसे ही विशिष्ट तत्त्व का विशेषण बदलता है, वह विशिष्ट तत्त्व भी बदल जाता है। जीव भी विशिष्ट तत्त्व है और विशेषण बदलने के साथ-साथ यह जीव भी बदलता जाता है। जबकि प्रत्यगात्मा और ब्रह्म ये दोनों तत्त्व विशिष्ट न होकर उपहित कहे जाते हैं, इनके स्वरूप में तत्त्वत: कभी भी परिवर्तन नहीं होता, अज्ञान से उपहित होने के कारण केवल इनकी उपाधि में परिवर्तन होता है, यह परिवर्तन ही बन्धन की अवस्था कहलाता है। ये उपाधियाँ आरोपित ही होती है अर्थात् नियोज्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, प्रमातृत्व आदि सभी आरोपित की जाती है, अत: उपाधियाँ कहलाती हैं। इनके आरोपित होने से आत्मा के वास्तविक स्वरूप में कोई भी परिवर्तन नहीं होता है। अत: ब्रह्म और आत्मा के आरोपित धर्म आपस में सापेक्ष होते हैं परन्तु जीव के समान नहीं, क्योंकि जीव में परिवर्तन तत्त्वत: होते हैं, जो एक-दूसरे से पूर्णत: अलग होने के कारण एक-दूसरे से सापेक्ष भी नहीं होते हैं।[2]

एक ही आत्मा में इन सभी धर्मों की संगति इनमें अपेक्षा भाव होने के कारण ही सम्भव हो पाती है। इस समस्त कार्य जगत् को ब्रह्म ही नियन्त्रित रखता है और इस पर शासन करता है। इसलिए इस जगत् को ईशितव्य कहा गया है। ब्रह्म साक्षिभाव से इस जगत् का द्रष्टा भी है और द्रष्टा, दृश्य की अपेक्षा से ही होता है। यदि यह दृश्य जगत् नहीं हो तो साक्षी किसको देखेगा और बिना देखे वह द्रष्टा (साक्षी) भी नहीं कहलायेगा। अत: साक्षी (द्रष्टा) के लिए ही यह ईशितव्य जगत् (दृश्य) है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि तत्त्वत: ब्रह्म ही शासक और शासित दोनों है। ब्रह्म ही कार्य और कारण दोनों है। इसलिए सर्वज्ञात्ममुनि कहते हैं कि ब्रह्म ही अपनी अविद्या से कार्य जगत् के रूप में संसरण करता है और अपनी विद्या से ब्रह्म ही मुक्त भी होता है।[3] यहाँ अविद्या से तात्पर्य है- अभेद में भेद की बोधिका शक्ति और विद्या से तात्पर्य है- भेद में अभेद को बताने वाली शक्ति। जब ब्रह्म अविद्या से उपहित होता है, तब ही उससे इस समस्त जगत् की सृष्टि होती है और वह साभास (प्रतिबिम्ब) रूप में संसरण करता है। यह संसरण की अवस्था ही बन्धन कहलाती है।

उक्त तथ्य को समझने के लिए आभासवाद को भी जानना आवश्यक है। सर्वज्ञात्ममुनि के गुरु आचार्य सुरेश्वर आभासवाद को स्वीकार करते हैं। इस मत के अनुसार एक आत्मा ही सत्य है। आत्मा से भिन्न कोई वस्तु सत्य नहीं है। अत: स्वरूपत: आत्मा न अन्तर्यामी है, न साक्षी और न जगत्कारण। तथापि अज्ञान रूप उपाधि से युक्त हुआ आत्मा अज्ञान के साथ तादात्म्य प्राप्त कर उसमें पड़े चिदाभास के कारण अन्तर्यामी, साक्षी, ईश्वर आदि कहलाता है। इस प्रकार वह संसार रूप में भी भासित होता है। इसको ही ब्रह्म का आभास रूप में संसरण करना कहा गया है, जो कि अज्ञान के कारण होता है। यहाँ संसरण से तात्पर्य त्रिविध दु:खों से है।[4] इसके विपरीत जब ब्रह्म अपनी विद्या दशा में अर्थात् अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है तो अज्ञान और तज्जन्य

आभास के नष्ट होने से वह मुक्त कहलाता है। यह ध्यातव्य है कि अद्वैत वेदान्त में वस्तुत: मुक्ति न तो उत्पन्न होती है और न ही पहले से अप्राप्त है। वह तो प्राप्त ही की प्राप्ति है। बन्धन की अवस्था में जो सत्य, अज्ञात रूप से विद्यमान रहता है, उसका साक्षात् अनुभव ही मुक्ति है। जैसे कण्ठस्थित मुक्ताहार को विस्मरणवश इधर-उधर ढूँढते फिरते हैं और अन्त में अपनी ओर देखने पर कण्ठहार मिल जाता है। उसी प्रकार मोक्ष प्राप्ति के लिए इधर-उधर भटकने की आवश्यकता नहीं होती। बन्धन अज्ञान कृत है। उस अज्ञान रूप आवरण को दूर कर देना ही मुक्ति है और यही ज्ञानावस्था है। अत: ब्रह्म या आत्मा ही अज्ञान से बन्धनग्रस्त होता है और वही ज्ञान से मुक्त होता है, यह कहना उचित ही है।

बन्धन एवं मोक्ष दोनों भाषा द्वारा ही निष्पादित होते हैं। इसी सन्दर्भ में भाषा के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए सर्वज्ञात्मन् कहते हैं कि '*शब्दज्ञानं निदानं भवति हि जगत: श्रेयस: प्रेयसश्च*' अर्थात् प्रेयस् और श्रेयस् की प्राप्ति भी शब्दज्ञान से ही होती है।[5] कठोपनिषद् में यम-नचिकेता संवाद के प्रसंग में 'प्रेयस् और श्रेयस्' को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि श्रेयस् नि:श्रेयस् ही है तथा अन्यों से एकदम भिन्न है तथा प्रेयस् प्रियतर वस्तुओं की प्राप्ति है।[6] नि:श्रेयस् से तात्पर्य मोक्ष से है तथा प्रेयस् (अभ्युदय) की श्रेणी में धर्म, अर्थ तथा काम को रखा जाता है। व्यक्ति आजीवन इन चारों धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की प्राप्ति हेतु ही प्रयत्नरत रहता है। इसीलिए इन्हें पुरुषार्थ भी कहा जाता है। प्रेयस् की प्राप्ति कर जहाँ व्यक्ति लौकिक उन्नति (अभ्युदय) को प्राप्त करता है, वहीं श्रेयस् से उसे पारलौकिक कूटस्थ नित्य[7] मोक्ष की प्राप्ति होती है और विवेकी मनुष्य ही इनके भेद को समझ पाता है कि प्रेयस् अनित्य फल वाला होने के कारण बन्धन की श्रेणी में रखा गया है जबकि श्रेयस् नित्य फल प्रदायक है, अत: मोक्ष कहलाता है। प्रेयस् को अविद्यारूप तथा श्रेयस् को विद्यारूप कहा गया है। इनमें से श्रेयस् को ग्रहण करने वाले का शुभ होता है जबकि प्रेयस् की प्राप्ति नश्वर होने से सदैव दु:खद कही गयी है और यह दु:खावस्था ही बन्धन है जिसके वशीभूत व्यक्ति त्रिविध दु:खों को भोगता है, इसी अवस्था को जीव का संसरण करना कहा जाता है। संसरण बन्धन की अवस्था ही है। इसी कारण अन्तत: नचिकेता ने तृतीय वर के रूप में मोक्ष प्रदायक श्रेयस् का ही वरण किया।[8] जबकि यमराज ने नचिकेता के समक्ष पुत्र-वित्तादि प्रिय और अप्सरादि प्रियरूप भोगों तथा स्वर्गसुख प्राप्ति का प्रस्ताव रखा परन्तु नचिकेता ने तृतीय वर के रूप में मोक्ष (श्रेयस्) का वरण किया। ध्यातव्य है कि स्वर्ग सुख लौकिक सुखों की पराकाष्ठा है तथा नचिकेता ने इसे भी मोक्ष के समक्ष तुच्छ ही समझा। अब प्रश्न यही है कि इन श्रेयस् और प्रेयस् की प्राप्ति कैसे होती है? इसी का उत्तर देते हुए सर्वज्ञात्मन् कहते हैं कि दोनों की प्राप्ति में शब्दज्ञान ही कारण है क्योंकि जिस व्यक्ति को शब्द का अच्छा ज्ञान होता है, उसके विषय में यह माना जाता है कि वह सत्ता को यथार्थ रूप में जानता है क्योंकि भाषा, ज्ञान पर निर्भर करती है तथा ज्ञान सत्ता (वस्तु) पर निर्भर करता है। अत: जो वस्तु के वास्तविक स्वरूप को जानता है, वही अपने ज्ञान को भाषा के द्वारा अन्यों तक पहुँचा पाता है और उसे लोक में यश, व्यवसाय, धन-धान्य तथा रिश्तेदारों की प्राप्ति होती है। भाषा द्वारा ही व्यक्ति का आन्तरिक ज्ञान बाह्य हो पाता है, अत: भाषा सम्प्रेषण का साधन तो है ही, साथ ही व्यक्ति की चिन्तन प्रक्रिया भी भाषा के द्वारा ही सम्पन्न हो पाती है। सभी शास्त्र तथा उपदेश भाषारूप ही होते हैं जिन्हें पढ़कर व्यक्ति लोक में ख्याति प्राप्त करता है। शब्दज्ञान यदि न हो तो व्यक्ति किसी से एक वस्तु भी नहीं माँग सकता। अत: विनिमय पर आश्रित व्यक्ति का दैनिक व्यवहार भी शब्दज्ञान द्वारा ही सम्भव होता है, जिसके विना जीवन की कल्पना भी सम्भव नहीं। इसीलिए तो काव्यादर्शकार दण्डी कहते हैं कि शब्द के अभाव में तीनों लोक अन्धकार निमग्न हो जाएगें।[9] शब्द के बिना लोकयात्रा सम्भव ही नहीं हो सकती।[10] साथ ही यह भी कहा गया कि श्रेयस् (मोक्ष) की प्राप्ति भी शब्दज्ञान द्वारा ही सम्भव है और यह शब्दज्ञान कोई साधारण भाषाज्ञान नहीं है बल्कि महावाक्यार्थजन्य अखण्डार्थ का ज्ञान ही कूटस्थ मोक्ष को प्रदान करता है। यह अखण्ड महावाक्यार्थ ज्ञान महावाक्यों के अर्थनिर्धारण के फलस्वरूप प्राप्त किया जाता है और इस हेतु महावाक्यों का अर्थनिर्धारण शब्दशक्तियों द्वारा किया जाता है। महावाक्यों के अभीष्ट अर्थ को प्रस्तुत करने का सामर्थ्य मात्र भागत्यागलक्षणा या जहदजहल्लक्षणा में ही अद्वैताचार्यों द्वारा स्वीकृत है। अत: सर्वज्ञात्ममुनि ने शब्दवृत्तियों के सन्दर्भ में कहा है कि सन्यासियों के मन में ज्ञान की निर्मलता की सिद्धि के लिए शब्दवृत्ति भेदों की व्याख्या आवश्यक है।[11] '*ज्ञान की निर्मलता की सिद्धि के लिए*' यह इसलिए कहा गया है क्योंकि शब्दवृत्तियों के द्वारा यथासम्भव ब्रह्म के स्वरूप को जान कर ही संन्यासीगण ब्रह्म के भ्रामक अज्ञानाच्छादित स्वरूप से शुद्ध ब्रह्म का भेद स्थापित कर पाएगें, जिससे अज्ञान निवृत्ति होते ही उनका चित्त निर्मल होगा और उनकी दृष्टि पर पड़े अज्ञान रूपी आवरण का नाश होते ही स्वप्रकाशस्वरूप ब्रह्म प्रकाशित होगा। साथ ही मोक्ष की प्राप्ति में प्रमाणक शास्त्र-मोक्षशास्त्र उपनिषदादि भी भाषा में

ही निबद्ध हैं तथा इनका ज्ञान भी गुरु के उपदेश द्वारा ही सम्भव है। अत: गुरु का ज्ञान उपदेश के रूप में शिष्य तक किसी न किसी भाषा के माध्यम से ही पहुँच पाता है और वेदान्त के प्राण स्वरूप महावाक्य भी शब्दज्ञान के द्वारा ही मुमुक्षु को अपना अखण्डार्थ प्रस्तुत करने में सक्षम होते हैं। इस अखण्डार्थ से ही ब्रह्मबोध अर्थात् ब्रह्मसम्बन्धी अज्ञान की निवृत्ति होती है तथा स्वयं प्रकाशस्वरूप चैतन्य का साक्षात्कार होता है। यही अवस्था मोक्ष कहलाती है। अत: यह सिद्ध होता है कि बन्धन (प्रेयस्) और मोक्ष (श्रेयस्) दोनों की प्राप्ति भाषा द्वारा ही सम्भव है अर्थात् शब्दज्ञान ही श्रेयस् और प्रेयस् की प्राप्ति में निदानस्वरूप है।[12] बन्धन से मोक्ष तक की सम्पूर्ण प्रक्रिया को भाषादर्शन के क्षेत्र से कथमपि अलग नहीं रखा जा सकता।

सन्दर्भ सूची -

1. अर्थस्य मूलं निकृति: क्षमा च कामस्य रूपं च वयो वपुश्च। धर्मस्य यागादि दया दमश्च मोक्षस्य सर्वोपरम: क्रियाभ्य: ॥ 3/366 ॥ सं.शा., पृ.633
2. अविद्यावस्थायां तु साभासाज्ञानद्वारेण शुद्धस्यैव ब्रह्मण: प्रकृतिनिमित्तकारणत्वं ईश्वरत्वं साक्षित्वं च कार्यप्रपञ्चमी-शितव्यजीवभेदं दृश्यं चापेक्ष्य भवति, यथा शुद्धस्यैव प्रत्यगात्मनस्साभासकार्यकरण-संबन्धद्वारेण नियोज्यत्व-कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रमातृत्वसंबन्ध:, न कार्यकरणसंघातादि-विशिष्टस्य, तद्वत्। 'ऐश्वर्यं कारणत्वं च साक्षित्वमपि चात्मन:। सदेशितव्यकार्या- र्थसाक्ष्यार्थेनास्य संगते'। प.प.हि.अनु.वि., पृ.129
3. तस्माद् ब्रह्मैव संसरति साभासस्वाविद्यया स्वविद्यया च ब्रह्मैवमुच्यते। प.प.हि.अनु.वि., पृ.130
4. पुर्युष्टकं भवति तस्य परस्य मोहात् तेनान्वितस्य तु नभोमलवद्वयलीकम्।
   दु:खं त्रिधा भवति संसरणाभिधानं नान्य: पराद्धिकरूपभृदस्ति जीव: ॥ 3/9 ॥ सं.शा., पृ.268
5. शब्दज्ञानं निदानं भवति हि जगत: श्रेयस: प्रेयसश्च। प.प.हि.अनु.वि., पृ.68
6. (अ) श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीर:। श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते॥ 2/2 ॥ कठ.उ., पृ.207
   (ब) अन्यत्पृथगेव श्रेयो नि:श्रेयसं तथान्यदुताप्येव प्रेय: प्रियतरमपि। 2/1, कठ.उ.भा., पृ.206
7. इदं तु पारमार्थिकं, कूटस्थनित्यं, व्योमवत्सर्वव्यापि, सर्वविक्रियारहितम्, नित्यतृप्तम्, निरवयवम्, स्वयंज्योति: स्वभावम्, यत्र धर्माधर्मौ सह कार्येण कालत्रयञ्च नोपावर्तते। तदेतदशरीरत्वं मोक्षाख्यम् ॥ 1/1/4 ॥ ब्र.सू., पृ.58
8. दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता। विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त॥ 2/4 ॥ कठ.उ., पृ. 209
9. इदमन्धतमं कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
   यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते॥ 1/1 ॥
   काव्या., पृ.1
10. इह शिष्टानुशिष्टानां शिष्टानामपि सर्वथा।
    वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते ॥1/3 ॥ वहीं, पृ.5
11. सर्वज्ञात्मासमस्तश्रुतिपथकुशल: शब्दवृत्तिप्रभेदनम्।
    व्याचख्यावेतमेवं यतिजनमनसि ज्ञानवैमल्यसिद्धयै।
    प.प.हि.अनु.वि., पृ.68
12. शब्दज्ञानं निदानं भवति हि जगत: श्रेयस: प्रेयसश्च। वहीं, पृ.68

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. ईशादि नौ उपनिषद्, शांकरभाष्यार्थ सहित, गीताप्रेस, गोरखपुर।
2. सर्वज्ञात्ममुनि, संक्षेपशारीरकम्, श्रीस्वामीरामानन्दकृत भावदीपिका हिन्दीव्याख्या सहितम्, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1987
3. रमेश भारद्वाज, प्रमाणमीमांसा को सर्वज्ञात्ममुनि का योगदान, प्रमाणलक्षणं मूलपाठसहित, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2006
4. दण्डी, काव्यादर्श, चौखम्भा संस्कृत सीरिज, वारणसी, 1966
5. लेग्वैज एण्ड रीलीज (आँग्लानुवादसहित पञ्चप्रक्रिया), इवान कोमरेक, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, 1985

ISSN 2278 - 0327

वर्तमान समाज की चुनौतियाँ एवं महर्षि पतंजलिकृत योगसूत्र

डॉ. मलिक राजेन्द्र प्रताप
प्रवक्ता, योग विभाग
एम0 बी0 राज0 स्ना0 महाविद्यालय, हल्द्वानी (नैनीताल)

वर्तमान काल में मनुष्य भौतिक उन्नति के शिखर को प्राप्त करने में तेजी से अग्रसर हो रहा है। आज के मानव ने यातायात और दूरसंचार के क्षेत्र में विकास करते हुए सम्पूर्ण विश्व को एक छोटे से परिवार का रूप दे दिया है। कला- विज्ञान और वाणिज्य के क्षेत्र में दिन-प्रतिदिन नये-नये शोध अनुसंधानों ने मनुष्य की मुश्किलों को आसान बनाने की राह खोली है। चिकित्सा के क्षेत्र में तो आज के मनुष्य ने शरीर के भीतर के अंग प्रत्यगों का प्रत्यक्ष करते हुए उनकी क्रिया विधि का ज्ञान प्राप्त कर लिया है। इस विकास की कड़ियों के संदर्भ में आधुनिक मानव का योगदान निसंदेह अति प्रशंसनीय एवं अभूतपूर्व है। भौतिक स्तर पर हुए अनुसंधानों ने आज के मानव के जीवन को बहुत आसान सा बना दिया है, किन्तु भौतिकवाद के विकास की इस आँधी ने सम्पूर्ण मानव समाज के सम्मुख कुछ चुनौतियां भी प्रकट की हैं जिनका उत्तर ढूँढ़ना आज के समय में अत्यन्त अनिवार्य एवं महत्वपूर्ण है।

वर्तमान समय में एक ओर जहाँ उपरोक्त तथ्य मानव की बुद्धि, कार्यक्षमता एवं उपलब्धियों का गुणगान करते हैं तो वहीं दूसरी ओर आधुनिक समाज का दृश्य मनुष्य की अत्यन्त दीन-हीन स्थिति पर प्रकाश डालता है। बाहरी दिखावटों को छोड़कर अध्ययन करें तो स्पष्ट होता है कि वर्तमान समय में मनुष्य आन्तरिक तपन और घुटन के ऐसे दौर से गुजर रहा है कि नकारात्मकता की पराकाष्ठा में होने वाली आत्महत्या तक की घटनाओं का ग्राफ दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। आंकड़ों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि वर्तमान समय में दुनिया भर में 8,00,000 लोग प्रतिवर्ष आत्महत्या कर रहें हैं।[1] वर्तमान समय में 15 से 39 आयुवर्ग के मनुष्यों में मृत्यु का सबसे बड़ा कारण आत्महत्या बना हुआ है।[2] इस अध्ययन से स्पष्ट होता है कि मनुष्य के जीवन की सुख-शान्ति एवं खुशियों को तो जैसे आधुनिकता ने ग्रहण सा लगा दिया है। आज समाज में असन्तुष्टता का भाव लेकर जीवन जीने वाले मनुष्यों की संख्या दिन-प्रतिदिन बहुत तेजी से बढ़ती जा रही है। भौतिकवादिता की चकाचौंध ने मनुष्य के जीवन में जो अशान्ति उत्पन्न की है उससे बचने के लिए आज का मानव चारों और संभावनाओं को ढूँढने में लगा हुआ है। आज शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक एवं सामाजिक व्याधियों ने समाज में अपनी जडें काफी गहराई तक जमा ली है। अंग्रेजी दवाईयों, रसायनिक पदार्थों के सेवन ने जहाँ शारीरिक क्षमता पर प्रहार करते हुए शारीरिक रोगों को जन्म दिया है तो वहीं टी0 वी0 एवं इन्टरनेट आदि साधनों ने मनुष्य के मन में नकारात्मकता का जहर घोलते हुए मानसिक एवं आध्यात्मिक रोगों को बढ़ाया है। आज के मनुष्य की सामाजिक कार्यों में भाग लेने की अभिरुचि पर भी आधुनिकता की अंधी दौड़ ने एक लगाम सी लगा दी है जिसके फलस्वरूप आज के मनुष्य का सामाजिक स्वास्थ्य का स्तर भी कमजोर होता जा रहा है एवं सामाजिक झगड़े, तनाव तथा अशान्ति की स्थिति उत्पन्न हो रही है। इसके साथ-साथ आज के समाज के सामने आतंकवाद की समस्या एक ऐसी बड़ी चुनौति के रूप में उपस्थित हुई है जिसका उत्तर पूरा विश्व पाना चाहता है।

इन चुनौतियों को अत्यन्त सरल एवं सहज रूप में सुलझाने के लिए अष्टांग योग एक श्रेष्ठतम् मार्ग है। योग के माध्यम से मनुष्य का शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक एवं सामाजिक विकास होता है एवं मनुष्य का आहार- विहार, आचार एवं विचार शुद्ध सात्विक बनते हैं। महर्षि पतंजलि द्वारा प्रतिपादित योगसूत्रों का अध्ययन एवं आचरण करने से मनुष्य का जीवन सकारात्मक ऊर्जा के साथ जुड़ता है, मनुष्य के शरीर, मन एवं आत्मा में सकारात्मक ऊर्जा का विस्तार होता है जिसके फलस्वरूप नकारात्मकता का अंधकार एवं रोगों के कष्ट दूर होते हैं।

योगाङ्गाऽनुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्याते:।।

योग के अंगों के अनुष्ठान(पालन) करने से अशुद्धियों के नाश होने पर ज्ञान का प्रकाश विवेकख्याति-पर्यन्त हो जाता है।[3] वस्तुत: योग विद्या का निरूपण करने वाला यह प्रयोगात्मक शास्त्र

महर्षि पतंजलि के योगसूत्र हैं। महर्षि पतंजलि ने योग सूत्रों को निम्न चार पादों अर्थात भागों में विभाजित किया है-

(1) समाधिपाद

इस पाद का आरम्भ करते हुए प्रथम सूत्र में योग के साथ अनुशासन पद का प्रयोग करके योग की अनादिता सिद्ध की गई है। साथ ही योग से अनुशासन का गहन सम्बन्ध भी परिलक्षित होता है क्योंकि बिना अनुशासन में रहे आगे आने वाले योग नियमों का पालन भली प्रकार नहीं हो सकता। अथ शब्द से ग्रंथ प्रारम्भ करने की प्रतिज्ञा है। यहां पर योग को परिभाषित करते हुए कहा गया है- *योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:।।*[4] चित्त की वृत्तियों का रोकना योग की परिभाषा है इसका संकेत दूसरे सूत्रों में परिलक्षित होता है। महर्षि पतंजलि ने समाधि पाद में आत्म-स्वरूप की स्थिति का वर्णन करते हुए कहा है कि आत्म-स्वरूप की सिद्धि होने पर अथवा उस अवस्था में तदाकार होने की भूमि को समाधि अवस्था कहा जाता है। पाँच से ग्यारह सूत्रों में चित्त की वृत्तियों के पाँच भेदों और उनके लक्षण का वर्णन है। प्रत्यक्ष, अनुमान व आगम आदि प्रमाणों का वर्णन तथा चित्त की आगे बारह से सोलह तक उन वृत्तियों के निरोध का उपाय-अभ्यास और वैराग्य को बताया है। इस तरह से बाईस तक समाधि विषय का प्रतिपादन अर्थात् सम्प्रज्ञात, असम्प्रज्ञात समाधि का स्वरूप तथा समाधि लाभ शीघ्र कैसे हो। तेईस से उन्तीस तक समाधि लाभ के अन्य उपाय ईश्वर प्राणिधान का वर्णन किया गया है। पुरुष विशेष ईश्वर की व्याख्या करते हुए उस ईश्वर के मुख्य वाचक प्रणव ओउम् का उल्लेख कर उसके ही जप करने का विधान बतलाते हैं। तीस से बत्तीस सूत्रों में अन्तराल और उनके निवारण का उपाय तथा तैंतीस से चालीस में चित्त को प्रसाद्यन के उपायों का उल्लेख किया गया है। यहाँ से आगे समाधि के स्वरूप तथा कैवल्य अवस्था का वर्णन करते हुए इस पाद की समाप्ति होती है। इस प्रकार प्रथम अध्याय में योग के शीर्ष सोपान समाधि के स्वरूप को समझाया गया है।

2 साधन पाद

पहले पाद में योग के स्वरूप आदि का संक्षेप में वर्णन करने के पश्चात् इस पाद में समाधि प्राप्ति के साधनों का विस्तृत वर्णन हुआ है। इस पाद के आरम्भ में क्रियायोग का उपदेश करते हुए कहा गया है- *तप:स्वाध्यायेश्वरप्राणिधानानि क्रियायोग:।* [5] यहीं पर योगसूत्र में क्रिया योग के स्वरूप और उसके फल को बताया गया है। इसी प्रकार 3 से 9 सूत्रों में अविद्यादि पाँच क्लेशों को समस्त दु:खों का कारण बताते हुए, उनके उच्छेद के उपायों का वर्णन भी किया गया है। 12-14 कलेशमूल कर्माशय और उनके फल, 15-16 में विवेकी के लिए दु:ख और इनकी हेयता में दु:ख का हेतु द्रष्टा और दृश्य का संयोग 18-19 में दृश्य का स्वरूप और उसके भेद 20-21 सूत्रों में दृष्टा का स्वरूप और उसी के लिए दृश्य का उभरना 22 में दृश्य कब और किसके लिए उभरता तथा ओझल होता है। 23-26 सूत्रों में द्रष्टा-दृश्य का संयोग उसका हेतु, हेतु का हान और उसका उपाय 27 में सात प्रकार की प्रान्त भूमि प्रज्ञा 28 से 32 सूत्रों में विवेक ज्ञान की प्राप्ति के लिए योगाङ्गों के अनुष्ठान की आवश्यकता व फल एवं योग के आठ अंगों का महत्व निर्देशपूर्वक नामोल्लेख। 33-34 सूत्रों में वितर्क और उनमें रोकने की पद्धति तथा 35 से 45 तक यम-नियम नामक योगाङ्गों के अनुष्ठान तथा उनकी पूर्णता पर प्राप्त होने वाले फल 46 से 48 सूत्रों में आसन का लक्षण, उसकी सिद्धि व फल बताया गया है। 49 से 53 सूत्रों में प्राणायाम का लक्षण उसके भेद व फल बताये गए हैं। 54 से 55 सूत्रों में प्रत्याहार का लक्षण और उसकी सिद्धि से प्राप्त होने वाले फल का वर्णन हुआ है।

3. विभूति पाद

दूसरे पाद में बर्हिरंग योग का वर्णन करने के पश्चात् इस तीसरे पाद में धारणा, ध्यान और समाधि, इन अन्तरंग साधनों का वर्णन करते हुए उपदेश करते हुए कहा गया है- *त्रयमेकत्र संयम:।*[6] इन्हें ही संयम नाम दिया गया है। योग की विभूतियाँ प्राप्ति हेतु संयम की महती आवश्यकता होती है। अत: साधनों के अनुष्ठान से प्राप्त विविध प्रकार की सिद्धियों का विवरण संक्षेप में इस प्रकार किया गया है। इसीलिए इस पाद का नाम विभूतिपाद रखा गया है। विषय वस्तु की दृष्टि से इस पाद का अवलोकन इस प्रकार किया जा सकता है। यथा -1 से 4 सूत्रों में धारणा, ध्यान समाधि का वर्णन किया गया है। आगे 5 व 6 सूत्र में उनकी सिद्धि का फल तथा विभिन्न स्तरों में विनियोग को समझाया गया है ।7 व 8 सूत्र में आठ योगांगों की बहिरंग व अन्तरंग स्थिति तथा 9 से 13 में चित्त परिणामों के भेद और उनका विवरण 14 से 15 सूत्रों में धर्मादि परिणामों का धर्मी तथा परिणाम भेद का कारण बताया गया है। 16 से 35 तक धर्मादि तीन परिणाम तथा अन्य विविध आधारों में संयम करने एवं उसके फलस्वरूप प्राप्त विभूतियों का वर्णन हुआ है। 36वें सूत्र में बताया है कि ये सिद्धियाँ व्युत्थान दशा की दृष्टि से सिद्धियाँ समझी जा सकती है, पर समाधि की दृष्टि से ये बाधक हैं। 37 से 48 तक संयम के अनुष्ठान की सफलता से शुद्ध चित्त में रहस्यमय शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है उससे योगी, विभिन्न पदार्थों व स्थितियों पर विजय प्राप्त कर लेता है, इस

प्रकार की विविध विभूतियों का वर्णन 49वें सूत्र में कैवल्य स्थिति प्राप्त होने के अवसर विषय का उल्लेख है। 50वें में इस प्रकार की दशा होने पर आसक्ति व अहंकार का सर्वात्मना अपवारण कहा गया है। 51 से 53वें योगसूत्रों में विवेक ज्ञान का प्रादुर्भाव उसके परम फलस्वरूप कैवल्य का निरूपण किया गया है।

4. कैवल्य पाद

योग दर्शन के चतुर्थ पाद अर्थात् कैवल्य पाद में विभूतियों से भी ऊपर कैवल्य सुख, परमात्म दर्शन एवं कैवल्य स्थिति का वर्णन किया गया है। कैवल्य पद प्राप्त करने के लिए चित्त के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। साथ ही योग दर्शन के सिद्धान्त में जो शंकायें हो सकती हैं उनका समाधान भी किया गया है। अन्त में धर्ममेध समाधि का वर्णन करके उसका फल क्लेश और कर्मों का सर्वथा अभाव तथा गुणों के परिणाम क्रम की समाप्ति अर्थात् पुनर्जन्म का अभाव बताया गया है एवं पुरुष को मुक्ति प्रदान करके अपना कर्त्तव्य पूरा कर चुकने के कारण गुणों के कार्य का अपने कारण में लीन हो जाना चाहिए अर्थात् पुरुष से सर्वथा अलग हो जाना गुणों की कैवल्य स्थिति और उन गुणों से सर्वथा अलग होकर अपने रूप में प्रतिष्ठित हो जाना पुरुष की कैवल्य के स्वरूप पर का वर्णन करते हुए कहा गया है-

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति।

पुरुषार्थ से शुन्य हुए गुणों का अपने कारण में लीन हो जाना कैवल्य (मुक्ति) है अथवा चितिशक्ति (जीवात्मा) का अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाना कैवल्य है।[7]

इस प्रकार महर्षि पतंजलिकृत योग सूत्रों में जीवात्मा के आनन्द स्वरूप अवस्था के रूप में कैवल्यावस्था का उपदेश किया गया है। जिसे जानना एवं समझना आधुनिक समय के मानव के लिए बहुत उपयोगी एवं आवश्यक है। वास्तव में भारतीय दर्शन शास्त्र मनुष्य को त्याग पूर्वक भोग का उपदेश करता है। इसके साथ-साथ पातंजल योगसूत्रों में वर्णित अष्टांग योग में प्रत्याहार पालन करते हुए इन्द्रियों पर संयम का उपदेश किया गया है। वर्तमान समय में मनुष्यों के द्वारा दर्शन शास्त्र के इस सिद्धान्त का अनुकरण करने से भौतिक उन्नति के साथ आध्यात्मिक विकास की यात्रा में समन्वय स्थापित होता है। मन स्थिर व एकाग्र होने के साथ मनुष्य की इच्छाएं एवं विषय-वासनाएं शान्त होती है। महर्षि पतंजलिकृत योगसूत्रों का जीवन में अनुकरण करने से शरीर, मन और आत्मा सदैव सकारात्मक एवं ऊर्जावान बने रहते हैं और मनुष्य तन-मन से स्वस्थ एवं सकारात्मक रहता हुआ मानव जीवन के परम लक्ष्य मुक्ति अर्थात् कैवल्य की अवस्था को प्राप्त करने दिशा में अग्रसर होता है।

सन्दर्भसूची -

1. http://www.who.int/mental_health/prevention/suicide/suicideprevent/en/
2. https://www.thelancet.com/journals/lanpub/article/PIIS2468-2667(18)30138-5/fulltext
3. स्वामी ओमानन्द तीर्थ- पातंजल योग प्रदीप, पृष्ठ संख्या 354
4. स्वामी ओमानन्द तीर्थ- पातंजल योग प्रदीप, पृष्ठ संख्या 146
5. स्वामी ओमानन्द तीर्थ- पातंजल योग प्रदीप, पृष्ठ संख्या 275
6. स्वामी ओमानन्द तीर्थ- पातंजल योग प्रदीप, पृष्ठ संख्या 480
7. स्वामी ओमानन्द तीर्थ- पातंजल योग प्रदीप, पृष्ठ संख्या 593

ISSN 2278 - 0327

पर्यावरण समस्या और हमारा नैतिक दायित्व

डॉ. हरेती लाल मीना
असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग
करोड़ीमल महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सारांश– आज के दौर में मानव विकास की दौड़ में इतना आगे बढ़ गया है कि उसे अपने पर्यावरण की ओर देखने का समय नहीं है। वह यह भूलता जा रहा है कि उसे पृथ्वी पर रहना है। विश्व में प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह बच्चा हो या वृद्ध अपने पर्यावरण के प्रति सजगता, जागरूकता, चेतना और पर्यावरण अनुकूलन को विकसित करने की आवश्यकता है और तभी इस गंभीर समस्या का समाधान किया जा सकता है। वर्तमान समय में आवश्यकता इस बात की भी है की मनुष्यों द्वारा पर्यावरण के साथ समन्वयात्मक, सहयोगात्मकता और सामंजस्य पूर्ण सम्बन्ध को अपनाया जाये। पर्यावरण को केंद्र बिंदु बनाकर राष्ट्रीय स्तर पर विकास कार्यक्रम चलाये जाने चाहिए। इन सबका ईमानदारीपूर्वक प्रयास आज से ही किया जाये, तब जाकर कहीं 20 –30 वर्षों के पश्चात् ग्लोबल वार्मिंग के कहर से बचा जा सकेगा, वरना आने वाले दिनों में बहुत जल्दी पेट्रोल पंप और गैस रेफिलींग केन्द्रों की तरह मानव को शुद्ध प्राणवायु के लिए जगह–जगह पर बने ऑक्सीजन बूथों पर जाना होगा।

आज आवश्यकता है कि बेटी और बेटे के जन्मदिवस को वृक्षारोपण से जोड़ने की शासकीय पहल होनी चाहिए। बेटी के पैदा होने पर पांच इमारती वृक्ष यथा–सागौन, शीशम, साल आदि का वृक्षारोपण खुद की जमीन में अथवा वृक्षारोपण हेतु संरक्षित शासकीय जमीन में कर उसकी देखभाल पालक की ओर से हो लड़की के विवाह योग्य होने पर 20 वर्षों के उक्त इमारती वृक्ष को शासन–अधीन कर देने पर कन्या के विवाह के लिए शासन की ओर से 2 लाख रूपए देय हों। बेटे के जन्म पर पांच फलदार पौधे लगाए जाने चाहिए। इसके लिए शासकीय नौकरी के समय साक्षात्कार में पांच अंक उसे बोनस के रूप में दिए जाने की व्यवस्था हो।

कूट शब्द –

पर्यावरण, प्रकृति, वृक्षारोपण, ग्लोबल वार्मिंग, कार्बन, डाइऑकसाईड, ऑक्सीजन, औद्योगीकरण।

विषय–प्रवेश – मानवीय जीवन के आरम्भ से ही मनुष्य एवं पर्यावरण में आपसी संबंध बना हुआ है। मनुष्य का जीवन प्रकृति पर निर्भर करता है। अत: उसके अस्तित्व के लिये प्राकृतिक परिवेश अनिवार्य है। भारतीय संस्कृति में 'पृथ्वी' को माँ कहा गया है। *'माता भूमि: पुत्रो अहं पृथिव्या'*[1] अर्थात् पृथ्वी हमारी माँ है और हम पृथ्वी के पुत्र हैं। चूँकि पृथ्वी माता रूप में संपूर्ण ब्रह्मांड के जीवों का पालन पोषण करती है। अत: इसका संरक्षण करना हमारा नैतिक कर्तव्य है। भारतीय समाज आदिकाल से पर्यावरण संरक्षक की भूमिका निभाता रहा है। हमने प्रकृति प्रेम को सर्वोपरि रखा इसका कारण यह है कि हमारे वेदों, उपनिषदों, पुराणों एवं धार्मिक ग्रंथों में पेड़–पौधों एवं अन्य जीव–जंतुओं के सामाजिक महत्त्व को बताते हुए उनको पारिस्थितिकी से जोड़ा जाता है। प्राचीन युग में विभिन्न दार्शनिकों, शासकों और राजनेताओं ने प्रकृति के प्रति जागरूकता दिखाई है। प्राचीन युग के विद्वान् कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में वन संरक्षण का उल्लेख किया है तथा पशुओं के शिकार के संबंध में अनेकों जटिल नियम प्रस्तुत किए हैं। अधुनातन परिभाषा के अनुसार चाणक्य भारत के प्रथम वन एवं वन्य जीव संरक्षक थे।[2] पर्यावरण संरक्षण के लिये वैदिक युग में नदियों के देवत्व वाला स्वरूप उभरकर हमारे समक्ष उपस्थि हुआ था। नदी सूक्त में कहा गया है–

गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वती।
नर्मदे सिंधु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु।।[3]

हे गंगा, हे यमुना, आदि नदियों तुम मेरे स्रोत सुनो! गंगा के प्रति विशेष आदर अवश्य रहा, किंतु एक समय था, जब स्वयं गंगा नदी शब्द नदी मात्र का द्योतक था– सभी नदियाँ गंगा थी। नदी मात्र के प्रति जो आत्मीयता थी वह आज भी सुरक्षित है। यही कारण है कि आज वर्तमान सरकार ने गंगा नदी को माँ माना है और उसे प्रदूषण से रहित करने के लिये पूरे देश में राष्ट्रीय स्तर पर मुहिम चला रही है। अत: यही कहा जा सकता है कि पर्यावरण के संरक्षण के लिये न केवल वर्तमान में बल्कि प्राचीन

समय से जागरूकता विद्यमान थी। इस परिप्रेक्ष्य में हमें पर्यावरण के अर्थ को जानना होगा।

पर्यावरण-प्रदूषण- इन सब के पीछे उद्योगवादी संस्कृति और उपभोगवादी संस्कृति का ही प्रमुख कारण माना जाता है। प्रकृति को विकृत करने का दोष हमारी अतिभौतिकवादी व अदूरदर्शी सभ्यता को है, जिसने पूरे विश्व को प्रभावित किया है। कारण की अतिभौतिकता की चाह ने प्रकृति के नियमों के विरुद्ध अप्रत्यक्ष रूप से अभियान छेड़ दिया है। वनों का विनाश, कल-कारखानों का अंधाधुंध स्थापना, मनुष्य द्वारा जंगलों में अतिक्रमण, मोटर मोटरगाड़ी में वृद्धि आदि ऐसे औद्योगिक कारण बने जिससे प्रदूषण गुणोत्तर वृद्धि हुई।

उद्योगों/हवाई जहाजों से निकलते धुओं ने वायु, जल में जहर घोल दिया है। भूमंडल का तापमान भी धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा है। यदि तापमान में 3 से 5 डिग्री की वृद्धि हो गई तो ध्रुवों की बर्फ के पिघलने से कोई नहीं रोक सकता। तब महासागर अपनी मर्यादा छोड़ देंगे। जल-प्लावन की भयावह स्थिति निर्मित हो जाएगी सभी को उर्जा व सुंदर स्वास्थ्य देने वाली प्रकृति बढ़ते प्रदूषण के कारण उसी प्रकार असहाय हो जाएगी, जैसे किसी अनाड़ी बालक ने मां को दूध पीते स्तन को इतना काट लिया कि वहां फोड़े निकल आएं और मां ही बीमार हो गई। इस प्रकार अनाड़ी बालक रूपी वर्तमान मानव को अपनी सीमाएं समझनी होंगी अन्यथा निरंतर उपेक्षा व राक्षसी दोहन से समूल पर्यावरण व प्रकृति का सर्वनाश अवश्यंभावी है।

आज अमेरिका की जनसंख्या विश्व की जनसंख्या की 7 प्रतिशत है, किंतु ऊर्जा खपत 32 प्रतिशत है वहीं भारत की जनसंख्या विश्व की जनसंख्या का 20 प्रतिशत है, किंतु ऊर्जा खपत मात्र 1 प्रतिशत है। इस प्रकार का असंतुलन हर क्षेत्र में विद्यमान है। कल-कारखानों के वृद्धि से वायुमंडल में कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा में तेजी से बढ़ोतरी हुई है, किंतु वृक्ष नहीं रहेंगे तो कार्बन डाइऑक्साइड का शोषण कैसे संभव है? माना कि उद्योग लगाना हमारी प्राथमिकताओं में होना चाहिए था, किंतु उसके साथ उद्योगों से निकलने वाले धुएं, राख से बचने के लिए पौधा-रोपण कर हरित पट्टी की अनिवार्यता को तिलांजली क्यों दे दी गई? इसी उद्योगवादी संस्कृति के कारण पर्यावरण में असंतुलन बढ़ने लगा।

आपको जानकर आश्चर्य होगा कि हवाई जहाज से सर्वाधिक प्रदूषण होता है। 46 हजार हेक्टेयर के वनिकरण से जितना ऑक्सीजन निकलता है, उतना एक दिन में एक हवाई जहाज द्वारा कार्बन डाइऑक्साइड का फैलाव वायुमंडल में हो जाता है। कोयला, डीजल, पेट्रोल के जलने से कार्बनडाइऑक्साइड की मात्रा में दिनोंदिन वृद्धि हो रही है, जिसके कारण रोज एक प्रजाती लुप्त हो रही है।

कार्बन डाइऑक्साइड को पौधे अवशोषित करते है और ऑक्सीजन को विमुक्त करते हैं। पर विनाश व औद्योगीकरण तथा शहरीकरण ने प्रकृति की व्यवस्था में बाधा डाल दी है। बढ़ रहे प्रदूषण के कारकों में अन्न उत्पादन की अत्यधिक ललक ने रासायनिक उर्वरकों के, जीवननाशी दवाइयां (पेस्टीसाइड) के, अंधाधुंध उपयोग से भी मृदा-प्रदूषण बढ़ने के कारण धरती कहीं क्षारीय, कहीं अम्लीय होती जा रही है, जिससे जल धारण क्षमता का ह्रास धरती में हो रहा है। जल स्तर शनैः शनैः नीचे खिसकता जा रहा है, परिणाम कम वर्षा, ग्लोबलवार्मिंग का होना।

पर्यावरण संरक्षण में हमारा दायित्व -पर्यावरण को बिगाड़ने का काम वनों की कटाई से हुआ है तो पर्यावरण का संरक्षण हम पौधा-रोपण से कर सकते हैं। यह सच है कि सन् 1980 में भी बिगड़ते पर्यावरण पर चिंता कर इससे संबंधित विभाग केंद्र में खोले गए। तीस साल के लंबे अंतराल में वृक्षारोपण पर ध्यान कम धन ज्यादा खर्च किया गया। पर्यावरण को बचाने में आशातीत सफलता इसीलिए नहीं मिली कि सामाजिक वानीकि विभाग कागजी वृक्षारोपण और औपचारिक खानापूर्ती का अड्डा बन गया।

वन कटते गए, धरा संतुलन में खड़े पहाड़ों का अस्तित्व समाप्त होता गया रत्नगर्भा कहलाने वाली धरती के अंदर हजारों मीटर गहरे गड्ढे खोदकर लोभियों ने उपभोगवादी व अति भौतिकवादी सभ्यता के चलते लोभ संवरण तो कर लिया, किंतु सधःप्रसूता जननीरूपी धरती को उसके हाल पे क्यों छोड़ दिया गया? उन सैकड़ों वर्ग किलोमीटर गड्ढों को भरने का दायित्व क्या हमारा नहीं बनता। हमने एक साथ एक समय में लाखों पौधे रोपण कर गिनीज बुक मे नाम दर्ज कराने का भरसक प्रयास किया, किंतु उनके संरक्षण में हमने लापरवाही बरती जिसका दुष्परिणाम है कि तीस साल में वृक्षारोपण से जहां पुनः नया जंगल खड़ा हो जाना था, वहां कटे हुए वृक्षों के ठूंठ भी नजर नहीं आते। आज वृक्षारोपण के नाम पर सूबबूल, कनेर, छातिम, यूकिलिप्टस जैसे कम कद काठी वाले वृक्षों का रोपण किया जा रहा है, जबकी पहले बरगद, पीपल, आम, महुवा, कौहा, करंज जैसे दीर्घजीवी वृक्ष बिना विशेष देखभाल के ही शतायु पूरी करते थे। ऐसे वृक्षों से प्रत्यक्ष रूप से फल व ईंधन तो मिलता ही है, वहीं

अप्रत्यक्ष रूप से वे कार्बन डाइऑकसाईड का शोषण कर हमें ऑक्सीजन प्रदान करते हैं।

पर्यावरण को प्रदूषण से मुक्त रखना अब हमारी अनिवार्यता हो गई है। पहले हम प्रकृति में दैवीय स्वरूप देखते थे। प्रकृति को अपना स्वामी मानकर आंवला नवमी, वट सावित्री जैसे पर्वों पर पूजा अर्चना कर नीम में माता का वास, पीपल मे वासुदेव, तुलसी को साक्षात् देवी, रूद्राक्ष में शिव, बिल्व-पत्र यहां तक की मदार व धतुरा जैसे जहरीले पौधों के फल व फूल को भी शिव अर्चना में चढ़ाए जाने के कारण हम स्वप्न में भी इन्हें काटने की कल्पना नहीं करते हैं, किंतु आज हम प्रकृति को भोग्या समझ बैठे हैं। उनकी संतान नहीं, बल्की अपने आप को प्रकृति का स्वामी समझ बैठे हैं।

हमें आने वाली पीढ़ी को पीने के लिए स्वच्छ जल और जीने के लिए स्वच्छ वायु मुहैया कराना सबसे बड़ी चुनौती होगी। इसके लिए हमें एक मात्र उपाय वृक्षारोपण व वन-महोत्सव को शासकीय स्तर पर ही नहीं, बल्कि अपनी तिथि त्योहारों की तरह समाज की मान्यताओं का हिस्सा बनाना चाहिए वृक्षारोपण स्वस्फूर्त अभियान होना चाहिए, किंतु आज भागती-दौड़ती जिंदगी में कल की किसे चिंता? इसलिए आने वाली पीढ़ी को प्रदूषण मुक्त प्राणवायु देने के लिए तथा प्रकृति के संरक्षण हेतु अब आवश्यक हो गया है कि वृक्षारोपण अभियान शासन-प्रशासन की ओर से जनता-जनार्दन का अभियान बने।

आज आवश्यकता है कि बेटी और बेटे के जन्मदिवस को वृक्षारोपण से जोड़ने की शासकीय पहल होनी चाहिए। बेटी के पैदा होने पर पांच इमारती वृक्ष यथा-सागौन, शीशम, साल आदि का वृक्षारोपण खुद कि ज़मीन में अथवा वृक्षारोपण हेतु संरक्षित शासकीय ज़मीन में कर उसकी देखभाल व परवरिश पालक की ओर से हो। लड़की के विवाह योग्य होने पर 20 वर्षों के उक्त इमारती वृक्ष को शासन-अधीन कर देने पर कन्या के विवाह के लिए शासन की ओर से 2 लाख रूपए देय हों। बेटे के जन्म पर पांच फलदार पौधे लगाए जाने चाहिए। इसके लिए शासकीय नौकरी के समय साक्षात्कार में पांच अंक उसे बोनस के रूप में दिए जाने की व्यवस्था हो।

हमें प्रदूषण के दुष्परिणामों से बचने के लिए आज से ही नई नीति बनानी होगी, वरन् ओजोन की रक्षा कवच में छेद, अपक्षय के कारण पराबैंगनी किरणों से तेजाबी वर्षा और काली वर्षा का होना प्राय: हर जगह देखा जाने लगेगा। इन चुनौतियों का सामना करने के लिए प्रदूषण रहित टेक्नोलॉजी का निर्माण करना होगा। पौधा-रोपण के साथ-साथ पौधा संरक्षण करना भी निहायत जरूरी है। राष्ट्रीय पर्यावरण नीति पर नए सिरे से विचार करने की जरूरत है।

उपरोक्त शोध के उपरांत हम कह सकते हैं कि आज के दौर में मानव विकास की दौड़ में इतना आगे बढ़ गया है कि उसे अपने पर्यावरण की ओर देखने का समय नहीं है। वह यह भूलता जा रहा है कि उसे पृथ्वी पर रहना है। विश्व में प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह बच्चा हो या वृद्ध अपने पर्यावरण के प्रति सजगता, जागरूकता, चेतना और पर्यावरण अनुकूलन को विकसित करने की आवश्यकता है और तभी इस गंभीर समस्या का समाधान किया जा सकता है। वर्तमान समय में आवश्यकता इस बात की भी है कि मनुष्यों द्वारा पर्यावरण के साथ समन्वयात्मक, सहयोगात्मकता और सामंजस्य पूर्ण संबंध को अपनाया जाए। पर्यावरण को केंद्र बिंदु बनाकर राष्ट्रीय स्तर पर विकास कार्यक्रम चलाए जाने चाहिए। इन सबका ईमानदारीपूर्वक प्रयास आज से हीं किया जाए, तब जाकर कहीं 20-30 वर्षों के पश्चात् ग्लोबल वार्मिंग के कहर से बचा जा सकेगा, वरना आने वाले दिनों में बहुत जल्दी पेट्रोल पंप और गैस रिफिलींग केंद्रों की तरह मानव को शुद्ध प्राणवायु के लिए जगह-जगह पर बने ऑक्सीजन बूथों पर जाना होगा।

सन्दर्भसूची -

1. अथर्ववेद 12/1/12
2. डॉ. भार्गव रणजीत, 'भारतीय पर्यावरण इतिहास', पृ.8
3. ऋग्वेद का नदी सूक्त 10/75/5

संदर्भ ग्रन्थ-

1. अथर्ववेदसंहिता, सम्पादक वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पण्डित श्रीराम शर्मा, ब्रह्मवर्चस् शांतिकुंज, हरिद्वार, 2002
2. अरुण, रघुवंशी एवं चन्द्रलेखा, पर्यावरण और प्रदूषण, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल,1987
3. अस्थान,डी.के. एंड मीरा, इनवायरमेन्ट प्राब्लम एंड सालुशन, एलसेवियर पब्लिकेशंस, दिल्ली, 2006
4. कोली, हरिनारायण, पर्यावरण एवं मानव संसाधन, पोइन्टर पब्लिशर्स हाईव, जयपुर, 1996
5. दवे दया, वेदों में पर्यावरण, सुरभि पब्लिकेशन्स, जयपुर, 2000
6. नेगी, पी.एस.,परिस्थितिकीय विकास एवं पर्यावरण भूगोल, रस्तोगी एण्ड कं. नई दिल्ली,1994
7. श्रीवास्तव, वी. के.एवं राव वी.पी., पर्यावरण एवं पारिस्थितिकी, वसुंधरा प्रकाशन, गोरखपुर, 2001

ISSN 2278 - 0327

कविकुलगुरु कालिदास की सारस्वतश्रीः का मकरन्द 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्'

डॉ. कृपाशंकर शर्मा
सहायकाचार्य, साहित्यविभाग
केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय
श्रीरघुनाथकीर्ति परिसर, देवप्रयाग (उ.ख)

सारांश

काव्यशास्त्र के तात्पर्य को आचार्यमम्मट ने काव्य के मर्म तथा गुणादोष को अपने ग्रन्थ में विवेचित किया है। मम्मट ने काव्यप्रकाश में, आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में, विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में, काव्यार्थभावना के मूल तत्त्व को प्रकाशित किया है कालिदास के पद्यों को उदाहरण में लिया है। उस ध्येय को आधार कर कालिदास के अभिज्ञशाकुन्तलम् सारस्वतश्रीः का मकरन्द को लेख का मुख्य तत्त्व स्वीकार किया है कालिदास के शाकुन्तल का प्रतिपद मकरन्द है। यहाँ मकरन्द से तात्पर्य यह है कि कालिदास के शाकुन्तल का प्रत्येक शब्द उस नवनीत के सदृश है जो उपभोग के पश्चात् तृप्ति का कारक बन प्रसन्नता रूपी चमत्कार उत्पन्न कर देता है, यही विचार शाकुन्तल के प्रत्येक पद्य और शब्द के सम्बन्ध में है, जो सचेतस के अन्तःकरण में काव्यार्थ बन रसरूपी आनन्द का संचरण करते हैं। प्रस्तुत आलेख में यही निष्यन्दरूप निष्कर्ष है कविकुलगुरु का अभिज्ञानशाकुन्तल नितनूतन उर्जा और स्नेह वात्सल्य दयादाक्षिण्यादि गुण तत्त्वों का उद्घाटक है।

संस्कृतसाहित्य की विशाल कविपरम्परा में महाकवियों की सारस्वत सरिताएँ सतत् प्रवहमान है। आदिकवि वाल्मीकि ने लौकिक संस्कृतसाहित्य के निकष पर करुणा के क्रन्दनस्वर से रामकथा का महिमा गान किया था। उसी धारा में कविकुलगुरु कालिदास ने अपनी सारस्वतरचनाओं के पुष्प भगवती सरस्वती के पादपद्मों में समर्पित किये हैं। कालिदास स्वयं भरतवाक्य के माध्यम से सूचित करते हैं –

प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः सरस्वतीश्रुति महती महीयताम्।
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः॥[1]

उन्हीं पुष्पों में से एक अद्भुत् नवोन्मेष का प्रतीक सारस्वतश्रीः का मकरन्द अभिज्ञानशाकुन्तल है। अभिज्ञानशाकुन्तल की कथा का उपजीव्य पद्मपुराण तथा महाभारत का आख्यान माना जाता जाता है। कालिदास की इस अमर रचना का आस्वादन भारतीय ही नहीं अपितु पाश्चात्य विद्वानों ने भी किया है। अभिज्ञानशाकुन्तल रस–छन्द–अलंकार–गुण–रीति–ध्वनि–वक्रोक्ति–औचित्य का समन्वित पुष्पगुच्छ है। कवि की कल्पना शकुन्तला राजादुष्यन्त की प्रेयसी है जिसे आद्या सृष्टि से सम्बोधित कर अष्टमूर्तिशिव का संस्तवन किया है–

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्यविश्वम्।
यामाहु सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः॥[2]

यहाँ कवि का काव्यसौरभ जलमयसृष्टि को मकरन्द घोषित करता है। कालिदास की इस रचना में सप्ताङ्क है जो धर्माचरण में सप्तपदी और संगीत के सप्तस्वर का प्रतिरूप अभिज्ञानशाकुन्तल के सप्ताङ्क हैं। प्रत्येक शब्द लावण्य से परिपूर्ण है सहृदय के अन्तस को झंकृत कर देने वाली सप्तस्वरतन्त्री का स्वरमाधुर्य है। भगवान् शिव कला के देवता माने जाते हैं। कला के अधिष्ठातादेव इसीलिये शिवतत्त्व का संस्तवन कवि ने अपनी सारस्वतश्रीः का आदिवचन स्वीकार किया है। शकुन्तला का शापवशात् अपने प्रिय से वियोग और पुनः भाग्यवशात् सम्मिलन कथा का मुख्य तत्वार्थ है। कथावस्तु में सूत्रधार जब प्रयोगविज्ञान की चर्चा करता है तो वह स्वयं अपने को संशय में पड़ा हुआ प्रदर्शित करता है–

आ परितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः॥[3]

अर्थात् जब तक सुधीविद्वान् लोग हमारे अभिनय से सन्तुष्ट न हो जाय तब तक मैं अपने अभिनय सम्बन्धी विशेष ज्ञान को

उचित नहीं मानता हूँ। शिक्षितव्यक्तियों का चित्त दृढ़ होने पर भी अपने विषय में संशययुक्त होता है। ठीक उसी प्रकार कालिदास की सारस्वतश्री: का मन्थन कर लेने पर भी विज्ञ लोग संशय में होते हैं। प्रकृति के साथ मानव का गहरा सम्बन्ध रहा है। प्रकृति से प्राप्त पत्र- पुष्प-फलादि प्राकृतिकपदार्थ आभूषण का कार्य करते हैं। शाकुन्तल में इसी तत्त्व को रेखांकित किया गया है-

ईषदीषच्चुम्बितानि भ्रमरै: सुकुमारकेसरशिखानि।
अवतंसयन्ति दयमाना: प्रमदा: शिरीषकुसुमानि॥[4]

दयालु ललनाएँ भ्रमरों द्वारा कुछ-कुछ चुम्बित कोमल केसरों के अग्रभाग वाले शिरीष के फूल को कर्ण-आभूषण बना रही है। अभिज्ञानशाकुन्तल का यह मनोरमणीय श्लोक मृग के अभिराम स्वरूप को अभिव्यक्त करता है-

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बध्ददृष्टि:
पश्चाद्धर्धेन प्रविष्ट: शरपतनभयाद्भूयसा पूर्वकायम्।
दर्भैरर्द्धावलीढै: स्रमविवृतमुखभ्रंशिभि: कीर्णवर्त्मा
पश्योग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्वां प्रयाति॥[5]

राजा कहता है सारथि! यह हरिण तो हम लोगों को बहुत दूर ले आया है। यह अभी पीछे दौड़ते हुए रथ पर बार-बार गर्दन मोड़कर मनोहर दृष्टि डालता हुआ बाण लगने के भय से अपने पृष्टभाग को अधिकता से शरीर के अगले भाग में समेटता हुआ और श्रम के कारण खुले हुए मुँह से गिरने वाले अर्धचर्वित कुशों से मार्ग को व्याप्त करता हुआ लम्बी छलांगे भरने के कारण आकाश में अधिक और पृथ्वी पर कम चल रहा है। राजा सारथि को रज्जु शिथिल करने को कहता है सारथि लगाम शिथिल करते हुए कहता है कि-

मुक्तेषु रश्मिषु निरायतपूर्वकाया
निष्कम्पचामरशिखाश्रुतकर्मभङ्गा:।
आत्मोध्दतैरपि रजोभिरलंघनीया
धावन्त्यमी मृगजवाक्षमयेव रथ्या:॥[6]

चतुर्थाङ्क तो प्रकृति के साहचर्य का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत करता हुआ प्रतीत है। मनुष्य का प्रकृति के साथ तादात्म्य होना अत्यन्त आवश्यक है जब तक प्रकृति के प्रति साहचर्यभाव सम्बन्ध स्थापित नहीं होगा तब तक जीवजगत् और प्रकृति सुरक्षित नहीं हो सकेगी। आज प्रकृति के साथ तादात्म्य भंग हुआ वैसे हि विकास का पथ विनाश के पथ पर निरन्तर बढ़ते हुए सृष्टि के लय का हेतु बनता जा रहा है। अत: महाकविकालिदास सृष्टि के संरक्षण की दिशा में ग्रन्थनिर्माण से पूर्व विचार कर अभिज्ञानशाकुन्तल के प्रत्येक शब्द और उसका अर्थबोध करने का संकल्प किये थे। जिससे यह संसार *सत्यं शिवं सुन्दरम्* के स्वरूप को चरितार्थ कर सकने में समर्थ हो। चतुर्थाङ्क के कतिपय पद्य यहाँ उदाहृत है-

अमी वेदिं पारित: क्लृप्तधिष्ण्या: समिद्धन्त: प्रान्तसंस्तीर्णदर्भा:।
अपघ्नन्तो दुरितं हव्यगन्धै: वैतानास्त्वां वह्नय: पावयन्तु॥[7]

महर्षिकण्व शकुन्तला को अपनी माङ्गलिकवाचा में शुभाशीष देते हुए कहते है कि यज्ञकाष्ठों से युक्त, वेदी के चारों ओर स्थान बनाए हुए और इतस्तत: बिखरे हुए है। इसके बाद कहते है कि तुमको बिना सोचे जो पहले जल पीने को उद्यत् नहीं होती थी, तुम्हारे प्रति स्नेह के कारण जो आभूषण प्रिय होने पर भी पल्लव नहीं तोड़ती थी और तुम्हारें फलने फूलने के समय जिसका उत्सव होता था, वही यह शकुन्तला पतिगृह को जा रही है। तुम सब जाने की आज्ञा दे दो—

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वसिक्तेषु
या नादत्ते प्रियमण्डनापि भवता स्नेहेन जा पल्लवम्।
आदौ व: कुसुम्प्रवृत्तिसमये यस्या भवत्युत्सव:
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैर्नुज्ञायताम्॥[8]

अपि च-

रम्यान्तर: कमलिनीहरितै: सरोभि: श्छायाद्रुमैर्नियमितार्कमरीचिताप:।
भूयात्कुशेरशयरजोमृदुरेणुरस्या: शान्तानुकूलश्चपवनश्च शिवश्च पन्था:॥[9]

इस शकुन्तला का पथ कमलिनियों से हरे भरे सरोवरों के द्वारा रमणीय मध्यभाग वाला, छायादार वृक्षों के द्वारा सूर्य किरणों के सन्ताप से रहित, कमलपुष्पों के पराग के द्वारा कोमल धूलि से युक्त शान्त एवं अनुकूल वायु वाला मंगलकारक हो। तत्पश्चात् शार्ङ्गरव कहता है कि-

अनुमतगमना शकुन्तला तरुभिरियं वनवासबन्धुभि:।
परभृतविरुतं कलं यत: प्रतिवचनीकृतमेभिरात्मन:॥[10]

शकुन्तला को वनवास के बन्धु वृक्षों ने जाने की अनुमति दे दी है; क्योंकि कोयल की मधुरध्वनि को अपना प्रत्युत्तर बनाया है।

उदगीर्णदर्भकवला मृगी परित्यक्तनर्तना मयूरी।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्ति अश्रु इव लता:॥[11]

हरिणियाँ अपने मुख से ग्रास उगल दे रही है, मोरनी ने नाचना त्याग दिया और लताए पीतवर्ण के पत्रों को जमीन पर गिरा कर मानों अश्रुपात कर रही है।

महाकवि के इस सारस्वत उपक्रम में प्रकृति और जीव का अन्त:सम्बन्ध प्रकाशित हुआ है। इसी प्रकार अन्य पद्य में कवि लिखता है कि-

संकल्पितं प्रथममेव मया तवार्थे भर्तारमात्मसदृशं सुकृतैर्गता त्वम्।

चूतेन संश्रितवती नवमालिकेयस्यामहं त्वयि च संप्रति वीतचिन्तः ॥[12]

कण्व कहते हैं कि वत्से! पहले तुम्हारे लिये योग्यवर की मुझे चिन्ता थी सो स्वयं योग्यवर के साथ अपने ही रूपलावण्य आदि गुणों से चली ही गई। अतः तुमने अब मुझे चिन्तामुक्त कर दिया बहुत अच्छा हुआ। अब इस वासन्तीलता का भी मैं इस पार्श्ववर्ती आम्र के वृक्षों के साथ शीघ्र ही विवाहसंस्कार कर दूँगा।

इसीतरह आगे कण्व शकुन्तला को पतिगृह में जाने पर परिजनों के प्रति माङ्गल्यभाव रखने के लिये सूचित करते हैं–

शुश्रून गुरून कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः ॥[13]

कण्व कहते हैं कि बेटी सास–ससुर आदि अपने जेष्ठों वृद्ध परिजनों की सेवा करना, अपनी सौतों से अपनी प्रियसखियों के समान व्यवहार करना, पति द्वारा किसी कारणवश तिरस्कृत होने पर भी क्रोध के वश में होकर अप्रसन्न न होना और विपरीत आचरण नहीं करना, अपने नौकर–चाकर परिसेवकजन या पति के बन्धुबान्धव जनों के प्रति सर्वदा उदार रहना, राज्योचित सुखभोगों को पाकर भी कभी अभिमान न करना। इस प्रकार व्यवहार करने से स्त्रियाँ गृहस्वामिनी बन जाती है और इसके विरुद्ध चलने वाली स्त्रियाँ कुल के विपरीत और मानसी पीड़ा देने वाली होती है। कण्वऋषि शकुन्तला को कहते हैं, कि –

अभिजनवतो भर्तुः श्लाघ्ये स्थिता गृहिणीपदे
विभवगुरुभिः कृत्यैस्तस्य प्रतिक्षणमाकुला।
तनयमाचिरात् प्राचीवार्कं प्रसूय च पावनं
मम विरहजां न त्वं वत्से शुचं गणयिष्यसि ॥[14]

अर्थात् वत्से शकुन्तले तुम इतनी भयग्रस्त क्यों हो रही हो ? घबराने की बात नहीं है देख तू उच्चकुल में उत्पन्न अपने पति से सम्मानित गृहस्वामिनीपद पर आरूढ़ होकर धनसम्पत्ति और राजवैभव के अनुकूल अपने पति के नानाविध गृहकार्यों में प्रतिक्षण व्यग्र रहती हुई जैसे पूर्वदिशा से भगवन्त भास्कर का उदय होता है, ठीक उसी प्रकार सर्वगुणसम्पन्न पुत्ररत्न को प्रसव करके मेरे विरह से उत्पन्न हुए शोक को तू बिल्कुल भूल जायेगी। तात्पर्य यह है कि दुःखदग्ध शकुन्तला को कण्वऋषि सान्त्वना देते हुए आर्शीर्वाद देते हैं कि तुम वीरप्रसवा सर्वगुणसम्पन्न पुत्र को उत्पन्न कर कुल का मान बढ़ाना। सूर्य समान तेजस्वीपुत्र को पैदा करना। शकुन्तला के सौप्रस्थानिक के समय कण्व का वचन है कि–

भूत्वा चिराय चतुरन्तमहीसपत्नी दौष्यन्तिमप्रतिरथं तनयं निवेश्य।
भर्त्रा तदर्पितकुटुम्बभरेण सार्धं सान्ते करिष्यसि पदं पुनराश्रमेऽस्मिन् ॥[15]

अर्थात् अधिक समय तक चतुर्दिक समुद्रपर्यन्त घिरि हुई पृथिवी की सपत्नी होकर तथा आसमान योद्धा अपने अजेय पुत्र को दौष्यन्ति भरत को जन्म देकर उसके ऊपर राज्यभार समर्पित कर अपने पति के साथ वृद्धावस्था में इस तपोवन में पुनः आवेगी। अग्रिम पद्य के माध्यम से कविकुलगुरुकालिदास कण्व के वचन को ही उजागर करते हुए लिखते है कि–

शममेष्यति मम शोकः कथं नु वत्से त्वया रचितपूर्वम्।
उटजद्वारविरूढं नीवारबलिं विलोकयतः ॥[16]

अर्थात् वत्से तेरे द्वारा बलिसपर्या के रूप में दिये गये नीवार, जो कुटी के द्वार के सम्मुख उग आये हैं उन्हें देख तुझे स्मरण करके मेरा शोक विस्तार को प्राप्त कर रहा है। इतना कहते हुए आर्शीर्वाद देते हैं कि *'गच्छ शिवास्ते पन्थानः सन्तु'* तुम्हारा मार्ग कल्याणप्रद हो तत्पश्चात् शकुन्तला प्रस्थान की ओर बढ़ती है।

अर्थो हि कन्या परकीय एव तामद्य सम्प्रेष्य परिगृहीतुः।
जातो ममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा ॥[17]

कन्यारूपी धन तो दूसरे का ही है। आज उसके पाणिग्रहीता पति के पास भेजकर मैं उसी प्रकार प्रसन्नचित्त तथा चिन्तामुक्त हो गया हूँ जिस प्रकार बहुत दिनों से अपने पास रखे हुए दूसरे की धरोहर को उसके स्वामी के पास प्रत्यर्पित कर मनुष्य प्रसन्नता तथा चिन्तामुक्त हो जाता है। इसी के साथ चतुर्थाङ्क समाप्त होता है। इसी प्रकार पञ्चमाङ्क में राजा और विदूषक का प्रवेश होता है और विदूषक कान लगाकर स्वरध्वनि को श्रवणकर कहता है कि हे मित्र! सङ्गीतशाला की ओर किञ्चित् ध्यान देने योग्य है मधुर और अस्फुट ध्वनि वाले शुद्ध संगीत का स्वरसंयोग श्रुतिगोचर पढ़ता है। मालूम होता है कि आदरणीय महारानी हंसपदिका गेय स्वरसंगम सीख रही है। राजा तूष्णी धारण स्वरास्वादन करता है–

अभिनवमधुलोलुपो भवांस्तथा परिचुम्ब्य चूतमञ्जरीम्।
कमलवसतिमात्रनिर्वृत्तो मधुकर! विस्मृतोऽस्येनां कथम् ॥[18]

हे मधुकर! आप तो नव–नवीन पुष्पों के रस के ही लोभी हो, आपने आम की नूतन मञ्जरी का प्रेम से रस का उपयोग करके अब कमल को प्राप्त कर उसके आनन्द में विभोर होकर इस सरस आम्रमञ्जरी को अब भूल गये हो? हे भ्रमर! कभी तो इसकी भी कुछ सुध लिया करो। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार भ्रमर आम्रमञ्जरी का उपभोग कर कमल पर जाकर मन्त्रमुग्ध हो जाता है, उसी प्रकार आपने मेरे नवयौवन का उपभोग कर अन्य नारियों में विभोर है। वस्तुतः इस पथ से शकुन्तला का आपने स्मरण दिलाया गया है। यहँ राजा दुष्यन्त भ्रमर के रूप में उपमित किये

गये हैं और शकुन्तला को आम्रमञ्जरी के रूप में परिकल्पित किया गया है। अन्त:पुर की रानियाँ कमल के समान मानी गई है। राजा दुष्यन्त ने कण्व के आश्रम में शकुन्तला से प्रेम कर राजधानी आकर उसे विस्मृत कर दिया गया है। शकुन्तला का विस्मरण करना यह सूचित करता है कि महर्षि दुर्वासा का शाप राजा पर पूर्ण रूप से प्रभावी है जिसका प्रभाव शकुन्तला का विस्मृत कर देना है। राजा दुष्यन्त सुमधुर गीत का श्रवण कर कहता है कि 'अहो रागपरिवाहिनी गीति:' पुन: राजा हंसपदिका के विरह सूचक गीत को सुनकर कहते है कि-

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तु:।
ताच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि॥[19]

राजा दुष्यन्त कहता है कि अपने इष्टजन के वियोग के बिना भी मैं क्यों उत्कण्ठित सा हो रहा हूँ अथवा रमणीय वस्तुओं को देखकर श्रवणमधुर शब्दों को सुनकर सुखीजन भी यदा-कदा उत्कण्ठित सा हो जाता है। इससे सिद्ध है कि मनुष्य बिना जाने हुए वासना रूप से अत्यन्त सुदृढ़ जन्मान्तरीय सौहार्द्र का ही स्मरण करता है। राजा के इस वचन को सुनकर कञ्चुकी कहती है कि- अहो नु खल्वीदृशीमवस्थां प्रतिपन्नोऽस्मि-

आचार इत्यवहितेन मया गृहीता या वेत्रयष्टिरवबोधगृहेषु राज्ञ:।
काले गते बहुतिथे मम सैव जाता प्रस्थानविक्लवगतेरवलम्बनार्था॥[20]

मैंने राजप्रासाद में सावधानपूर्वक जिस छड़ी को केवल नियम पालन करने के लिये धारण किया था, वही छड़ी अधिक दिवस व्यतीत हो जाने पर अब तो सहायिका के रूप में सहायकवस्तु हो गई है। आगे राजा कहता है कि लोक के समस्त प्राणीजन अपने अभीष्ट वस्तु को पाकर सुखी हो जाते है, किन्तु राजाओं को तो अभीष्टवस्तु की प्राप्ति भी दु:खप्रद ही होती है। क्योंकि-

औत्सुक्यमात्रमवसादयति प्रतिष्ठा क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेनम्।
नातिश्रमापनयनाय न च श्रमाय राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम्॥[21]

राज्य की प्राप्ति से जो प्रतिष्ठा प्राप्त होती है, वह तो केवल मनुष्य की उच्च आकांक्षामात्र को ही शान्त करती है, किन्तु राज्य की रक्षा करना तो बड़ा ही कठिन एवं कष्टप्रद है। जैसे मनुष्य को छतरी से जितना सुख नहीं प्राप्त होता उससे अधिक कष्ट उसके दण्ड को धारण किये रहने में होता है। उसी प्रकार राज्य भी जितना सुख नहीं देता उससे अधिक परिश्रम और कष्ट ही देता है। इस पद्य में दण्ड शब्द के दो अर्थ ग्रहण किये जाते है 1. न्यायव्यवस्था 2 छतरी का दण्ड। कर्तव्यपालन में कठिनता का अनुभव होता है और सुख दुर्लभ होता है। अग्रिम पद्य में कालिदास अत्यन्तभाव विभोरता से काव्यसुरभि की मादकता को प्रकाशित करता है-

स्वसुखनिरभिलाष: खिद्यते लोकहेतो:
प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव।
ह्यनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं
शमयति परितापं छायया संश्रितानाम्॥[22]

अपि च-

नियमसि कुमार्गप्रस्थितानात्तदण्ड:
प्रशमयसि विवादं कल्पसे रक्षणाय।
अतनुषु विभवेषु ज्ञातय: सन्तु नाम
त्वयि तु परिसमाप्तं बन्धुकृत्यं प्रजानाम्॥[23]

कवि ने इस स्थान पर वैतालिक के माध्यम से यह कहता है कि राजन् आप तो अपने सुख कामना के बिना ही केवल लोकोपकार के लिये हि प्रतिदिन परिश्रम एवम् दु:ख सहते हैं आपका जन्म ही इस कार्य के लिये है क्योंकि पेड़ पौधे अपने मस्तक पर सूर्य के प्रखर प्रताप सन्ताप को सहन करके अपने आश्रयजनों को सर्वदा शीतल छाया के द्वारा सन्ताप दूर कर सुख प्रदान करते हैं। इसके बाद दूसरे वैतालिक के माध्यम से यह कहता है कि राजन आप अपने हाथ में राजदण्ड धारण कर कुमार्ग पर चलने वाले दुराशयी जन को नियमन करता है सदाशयी जनों के लिये सुरक्षा करता है। इस प्रकार कविकुलगुरु के इस अनुपम ग्रन्थ में प्रत्येक पद मकरन्द को उद्घाटित करता है। साहित्यसरिता के इस पावन पथ में कवि का रचनावैभव सारस्वतश्री: का मकरन्द है जो सचेतस के अन्तस में चमत्कार को उत्पन्न करने वाला है। इसीलिए ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनिप्रसंगों में शाकुन्तल के पद्यों को उदाहृत किया है और काव्यप्रकाशकार आचार्यमम्मट भी कालिदास के शाब्दिकभाव को अपने शास्त्रीयविधान में उदाहरणस्वरूप स्थापित कर काव्यशास्त्रीय धरातल को शृङ्गारित करते हैं, आचार्य क्षेमेन्द्र भी कालिदास की सारस्वतवेदिका के सौरभ से प्रभावित होकर औचित्यविचार में कालिदास के काव्यबन्ध को प्रसङ्गानुकूल उदाहृत कर सिद्धान्त की प्रतिष्ठा को परिपुष्ट किये हैं। कुल मिलाकर यह कालिदास की सप्तग्रन्थों की सारस्वत्सरिता संस्कृतलोक में मकरन्दरूपी प्रवाहिका है विशेषरूप से अभिज्ञानशाकुन्तल सारस्वतश्री: का मकरन्द ही है इसमें किसी प्रकार से अतिशयोक्ति नहीं है अपितु यह केवल अनुभवगम्यता का विषय है न कि व्याख्यान और विवेचना का ।

(शेष पृष्ठ - 63 पर..)

ISSN 2278 - 0327

आधुनिक जीवन में क्रियायोग का महत्व

आरती चौधरी
अतिथि प्रवक्ता, योग विभाग
एम0 बी0 राज0 स्ना0 महाविद्यालय, हल्द्वानी (नैनीताल)

आधुनिक जीवन में हमारा समाज दिन-प्रतिदिन कृत्रिम एवं अप्राकृतिक चीजों पर निर्भर होता जा रहा हैं। वर्तमान समय में जन-समान्य की इलैक्ट्रॉनिक उपकरणों पर निर्भरता बहुत तेजी से बढ़ती जा रही है और भोग विलासिता के अन्य उपकरण हमारी दिनचर्या का अंग बनते जा रहे हैं। यद्यपि कुछ विद्वान् इसे विज्ञान की उन्नति का मार्ग मानते हुए इसे समय की आवश्यकता बतलाते हैं। कुछ स्तरों पर यह तथ्य सही भी प्रतीक होता है कि विज्ञान के आविष्कारों ने मनुष्य जीवन की राह को काफी सरल एवं सुगम बनाने का कार्य किया है किन्तु भारतीय संस्कृति में केवल भौतिक उन्नति को ही मानव जीवन का उद्देश्य नहीं माना गया है अपितु दार्शनिक पक्ष में स्पष्ट किया गया है कि भौतिक सुखों के मूल में सदैव दु:ख और क्लेश छिपा होता है। सुख प्राप्त करने के उपरान्त मनुष्य उसका आदि बन जाता है जिसे दर्शन शास्त्र में 'राग' क्लेश कहा गया है[1] किन्तु यह भौतिक सुख सदैव स्थिर रहने वाला नहीं होता है अपितु क्षणिक होता है और इस सुख के अभाव में स्वत: ही दु:ख और शोक की उत्पत्ति होती है, यह दर्शन शास्त्र की मान्यता है।

आधुनिक समय की भौतिक सुख-साधनों की दौड़ में ऋषि भतृहरि का श्लोक बहुत प्रेरणा प्रदान करता है। ऋषि उपदेश करते हुए कहते हैं कि पानी की तरंग और बुलबुले के समान चंचल और नश्वर जीवन में प्राणियों को भला सुख कहां मिल सकता है। ऋषि उपदेश करते हैं-

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता: तपो न तप्तं वयमेव तप्ता:।
कालो न यातो वयमेव याता: तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा:।।
(वैराग्य शतकम्)

भोगों को हमने नहीं भोगा, बल्कि भोगों ने ही हमें भोग लिया। तपस्या हमने नहीं की, बल्कि हम खुद तप गये। काल कहीं नही गया बल्कि हम स्वयं चले गये। इस सभी के बाद भी मेरी कुछ पाने की तृष्णा नहीं गयी बल्कि हम स्वयं जीर्ण हो गये।[2]

उन सभी बाह्य चीजों को जिन्हें हम सुविधाऐं कहते हैं, उन पर आश्रित होकर दिन पर दिन आलसी और रोगी बनते जा रहे हैं। नए रोग नई बिमारियाँ नई परेशानियाँ उत्पन्न हो रहीं है। आधुनिक समय में अधिकांश मनुष्य तनाव और चिन्ता से ग्रस्त जीवन व्यतीत कर रहें हैं। किन्तु चिंता से *Acidity, Cholostrol* बढना, *Asthma, Hypo-Hypertension* और कैन्सर आदि रोग समाज में बहुत तेजी से बढ़ते जा रहे हैं। क्रिया योग के माध्यम से हम आधुनिक जीवन की इन गंभीर समस्याओं का समूल निवारण कर सकते हैं।

महर्षि पतंजलिकृत योगसूत्र परम्परा में तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान के सम्मिलित अभ्यास को क्रिया योग की संज्ञा दी गयी है। यह मध्यम कोटि के योग साधकों के लिए समाधि की अवस्था को प्राप्त करने का महत्वपूर्ण साधन है। इसका उपदेश महर्षि पतंजलि साधन पाद के प्रारम्भ में ही करते हैं-

तप:स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोग:।

तप स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान क्रियायोग है।[3]

1. तप का स्वरूप एवं फल

जीवन में आने वाले द्वंद्वो को सहन करना तप कहलाता है। मानव जीवन दो विरोधी क्रियाओं के साथ सदैव जुड़ा रहता है और इन दोनों अवस्थाओं में मन को एक समान भाव में बनाए रखना तप कहलाता है। उदाहरण के लिए मान-अपमान दोनों को एक समान रूप से सहन करने की क्षमता प्राप्त कर लेना ही तप है। सामान्य अवस्था में अपमान होने पर मन व्यथित हो जाता है और बहुत अधिक मान प्राप्त होने पर मन अहंकार से ग्रस्त हो जाता है परन्तु इन दोनों अवस्थाओं में मन को एक समान भाव में बनाए रखना तप कहलाता है। इसी प्रकार से सर्दी-गर्मी, किसी को सर्दी अच्छी लगती है गर्मी नहीं, किसी को गर्मी अच्छी लगती है सर्दी नहीं, दोनों में जो समान रहे, हानि-लाभ जो विरोधी जोड़े हैं, उनमें जो पूर्णतया समत्व स्थिति को प्राप्त हो जाये, वही तप है। इसके साथ-साथ इच्छाओं का निरोध करना, इन्द्रियों को विषय-भोगों की और आकृष्ट होने से रोकना और

मन पर संयम बनाए रखना तप कहलाता है। इस तप को धारण करने के फल पर प्रकाश डालते हुए महर्षि पतंजलि उपदेश करते हैं–

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।।

तप से अशुद्धियों के क्षय होने से शरीर और इन्द्रियों की शुद्धि होती है।[4] इस प्रकार तप का पालन करने से शरीर और इन्द्रियों में स्वच्छता एवं निर्मलता उत्पन्न होती है। मनुस्मृति नामक ग्रन्थ में महर्षि मनु उपदेश करते हैं कि जल से शरीर के बाहर के अवयव, सत्य आचरण से मन, विद्या और तप से ज्ञान (बुद्धि) पवित्र होता है।[5]

जिस प्रकार से बहुत तेज अग्नि के अंदर धातुओं को तपा करके उनके जो मल हैं, वे निकल जाते हैं, जल जाते हैं भस्मीभूत हो जाते हैं, शुद्ध धातु बन जाती है, सोना, चांदी, लोहा आदि जो कोई भी धातु हो उसके मल मैल उतर जाते हैं, उसी प्रकार विद्या और तप के प्रभाव से बुद्धि शुद्ध और निर्मल बनती है। बुद्धि के निर्मल होने से विचार शुद्ध होते हैं और शुद्ध विचारों से कर्मों में पवित्रता आती है और निष्काम भाव से किए कर्तव्य कर्म ही मनुष्य को मुक्ति के द्वार पर लेकर जाते हैं। इस प्रकार तप के पालन से मनुष्य सांसारिक दुखों से मुक्त होकर मुक्ति की और अग्रसर होता है।

2. स्वाध्याय का स्वरूप एवं फल

स्वाध्याय का अर्थ होता है– स्वयं का अध्ययन करना। स्वयं का अध्ययन करने से अभिप्राय है कि अपनी समस्त शारीरिक और मानसिक क्रियाओं को सही और गलत का चिन्तन करने के उपरान्त करना। इस प्रकार स्वाध्याय का अर्थ अपने आप को समझना, जानना और पढ़ना है। स्वाध्याय का अर्थ श्रेष्ठ ग्रन्थों का अध्ययन करने से भी होता है। ऐसे ग्रन्थ जो हमें मुक्ति की राह का दर्शन कराते हैं, उनका अध्ययन करना स्वाध्याय कहलाता है। इन ग्रन्थों का अध्ययन करने से बार–बार हम स्वयं को, अपने कार्यों को और अपने विचारों का सूक्ष्मतापूर्वक अध्ययन करने में सक्षम बनते हैं। ऐसा करने से हमारा जीवन बदलता चला जाता है, क्योंकि मनुष्य जैसा चिन्तन करता है, उसकी वैसी ही प्रवृत्ति बनती है और वैसा ही जीवन बन जाता है। इस प्रकार स्वाध्याय मानव जीवन को श्रेष्ठ बनाने का सबसे महत्वपूर्ण साधन है। स्वाध्याय के फल पर प्रकाश डालते हुए योगसूत्रों के रचनाकार महर्षि पतंजलि उपदेश करते हैं–

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः।

स्वाध्याय से इष्ट देवता का साक्षात् होता है।[6] अर्थात् स्वाध्याय करने से ईश्वर के पावन सानिध्य की प्राप्ति होती है।

3. ईश्वर प्रणिधान का स्वरूप

क्रियायोग के तीसरे महत्वपूर्ण अंग के रूप में ईश्वर प्रणिधान का वर्णन आता है। ईश्वर प्रणिधान का अर्थ है– ईश्वर में अटूट श्रद्धा रखते हुए उसकी शरण में रहना अथवा प्रतिक्षण एवं सर्वत्र ईश्वरीय सत्ता में विश्वास करते हुए अपनी प्रत्येक क्रिया ईश्वर को समर्पित करना। स्वयं में कर्तापन का अभाव आने से मनुष्य अपनी प्रत्येक क्रिया ईश्वर को सर्मपण भाव के साथ करता है। इससे मनुष्य में अहम् भाव समाप्त हो जाता है। यहां पर यदि हम वर्तमान समय पर दृष्टिपात करें तो आधुनिक समय की अधिकांश समस्याओं के मूल में मनुष्य का स्वयं को कर्ता मानना छिपा होता है। इस भाव के कारण ही चिन्ता और तनाव जैसी गंभीर महामारी जन्म लेती हैं। इस समस्या का सबसे उपयुक्त समाधान ईश्वर प्रणिधान को अपनाना होता है। ईश्वर प्रणिधान के फल पर प्रकाश डालते हुए महर्षि पतंजलि उपदेश करते हैं–

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।

समाधि की सिद्धि ईश्वर प्रणिधान से होती है।[7] अर्थात् ईश्वर प्रणिधान से साधक समाधि की उच्चतम् अवस्था को प्राप्त करने में सक्षम बनता है।

इस प्रकार साररूप में स्पष्ट होता है कि तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान क्रियायोग के तीन अंग होते हैं। आधुनिक समय में इन अंगों का पालन करते हुए मनुष्य स्वयं को जान लेता है और अपनी समस्त क्रियाएं ज्ञानपूर्वक करने लगता है। इसके साथ–साथ क्रियायोग में स्थित होने पर मनुष्य का इन्द्रियों, वाणी पर अधिकार एवं मन पर नियंत्रण स्थापित हो जाता है। वाणी में ओज एवं इन्द्रियों पर नियंत्रण के साथ मन पर अधिकार स्थापित हो जाता है। मनुष्य क्रियायोग का पालन करते हुए मनुष्य में स्वाध्याय एवं तप का स्तर उन्नत बन जाता है। क्रियायोग में लीन साधक के आहार में सात्विकता एवं सदाचारण का समावेश स्वतः ही हो जाता है। वहीं दूसरी और वर्तमान परिस्थितियों का अध्ययन करने पर ज्ञान होता है कि आधुनिक समय में मनुष्य का अपने आहार, वाणी, इन्द्रियों और मन पर नियंत्रण कम होता जा रहा है जिस कारण आधुनिक समय में मनुष्य का जीवन अनेक समस्याओं से घिर रहा है। ऐसी अवस्था में क्रियायोग का पालन करते हुए मनुष्य स्वयं का अध्ययन करने में सक्षम बनता है। स्वयं का अध्ययन करने से मनुष्य को अपनी शारीरिक क्षमताओं और बौद्धिक व मानसिक योग्यताओं का सही ज्ञान प्राप्त करता है। क्रियायोग के पालन से बुद्धि निर्मल और पवित्र बनती है जिससे

मनुष्य आहार, इन्द्रियों और मन पर नियंत्रण स्थापित करते हुए सर्वशक्तिमान ईश्वर में आस्था को दृढ़ बनाता है जिससे मनुष्य की समस्याओं का समूल निवारण होता हुआ उसका जीवन सकारात्मक एवं सुखद बनता है।

सन्दर्भसूची -

1. सुखानुशयी रागः। पातंजल योगसूत्र 2/7
2. https://www.wikiwand.com/hi/%E0%A4%B5%E0%A5%88%E0%A4%B0%E0%A4%BE%E0%A4%97%E0%A5%8D%E 0%A4%AF%E0%A4%B6%E0%A4%A4%E0%A4%95%E0%A4%AE%E0%A5%8D
3. स्वामी ओमानन्द तीर्थ- पातंजल योग प्रदीप, पृष्ठ संख्या 275
4. स्वामी ओमानन्द तीर्थ- पातंजल योग प्रदीप, पृष्ठ संख्या 419
5. प्रो0 सुरेन्द्र कुमार- विशुद्ध मनुस्मृति, पृष्ठ संख्या 248
6. स्वामी ओमानन्द तीर्थ- पातंजल योग प्रदीप, पृष्ठ संख्या 420
7. स्वामी ओमानन्द तीर्थ- पातंजल योग प्रदीप, पृष्ठ संख्या 420

(पृष्ठ 60 का शेष.....)

1. अभि.शा. 7 / 35
2. अभि.शा. 1 / 1
3. अभि.शा. 1 / 2
4. अभि.शा. 1 / 4
5. अभि.शा. 1 / 7
6. अभि.शा. 1 / 8
7. अभि.शा. 4/10
8. अभि.शा. 4/11
9. अभि.शा. 4/12
10. अभि.शा. 4/13
11. अभि.शा.4/11
12. अभि.शा.4/12
13. अभि.शा. 4/17
14. अभि.शा. 4/18
15. अभि.शा.4/19
16. अभि.शा. 4/20
17. अभि.शा.4/21
18. अभि.शा. 5/1
19. अभि.शा. 5/2
20. अभि.शा. 5/3
21. अभि.शा. 5/6
22. अभि.शा.5/7
23. अभि.शा. 5/8

सन्दर्भग्रन्थ-

1. अभि.शाकुन्तल- हिन्दीव्याख्याकार- श्रीकृष्णमणि त्रिपाठि, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन. वाराणसी सन- 2017
2. काव्यशास्त्र का इतिहास, चौखम्बा विद्याभवन, बनारस
3. संस्कृतसाहित्य का इतिहास ,बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा संस्कृत भवन वाराणसी

ISSN 2278 - 0327

श्रीगुरुग्रन्थसाहिब में संस्कृतमूलक शब्दों का प्रयोग

डॉ. दलबीर सिंह चाहल
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
संस्कृत विभाग, गुरु नानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर

श्रीगुरुग्रन्थसाहिब सिक्खों का मूल धर्मग्रन्थ है। इसका सम्पादन पंचमगुरु अर्जुनदेव जी ने 1604 ई. में किया था। प्रारम्भ में इसे 'आदिग्रन्थ' कहा जाता था। दशमगुरु गोविन्द सिंह जी द्वारा 'आदिग्रन्थ' को 'गुरु' की पदवी दिये जाने पर यह 'श्रीगुरुग्रन्थ-साहिब' के नाम से सुप्रसिद्ध हुआ।

श्रीगुरुग्रन्थसाहिब गुरुमुखी लिपि में लिखित है। भाषा इसकी पंजाबी है, परन्तु साथ ही इसमें अन्य कई भाषाओं की शब्दावली का भी प्रयोग है। विशेषत: संस्कृतशब्द श्रीगुरुग्रन्थसाहिब में बहुत बड़ी मात्रा में हैं। यदि इसे पढ़ते समय संस्कृत के केवल तत्सम शब्दप्रयोग पर ही ध्यान केन्द्रित रहे तब भी वह पाठ संस्कृतमय लगता है। यदि एक कदम आगे जाकर संस्कृत के अर्धतत्सम तथा तद्भव शब्दप्रयोग को भी ध्यान में रख लिया जाए तब तो श्रीगुरुग्रन्थसाहिब के तीन-चौथाई से भी अधिक शब्द संस्कृतमूलक मिलते हैं।

इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि श्रीगुरुग्रन्थसाहिब में संस्कृत शब्दप्रयोग को समग्र रूप से समझने के लिए संस्कृत के तत्सम शब्दप्रयोग का अध्ययन तो आवश्यक है ही, उस से भी अधिक आवश्यक है अर्धतत्सम तथा तद्भव शब्दों का विश्लेषण।

अत: श्रीगुरुग्रन्थसाहिब में संस्कृतमूलक शब्दप्रयोग को समझने के लिये शब्दों को तत्सम, अर्धतत्सम एवं तद्भव कोटियों के दृष्टिकोण से देखना होगा।

तत्सम शब्द:-

श्रीगुरुग्रन्थसाहिब में संस्कृत के जो शब्द तत्सम रूप में प्रयुक्त हैं वे अपनी पहचान स्वत: कराते है क्योंकि उनका स्वरूप यथावत् बना हुआ है। जैसे -

संस्कृत	श्रीगुरुग्रन्थसाहिब
मुख	मुख
काम	काम
क्रोध	क्रोध
माता	माता
पिता	पिता
लोभ	लोभ
मोह	मोह
ग्रन्थ	ग्रन्थ
गुरु	गुरु
जल	जल
सरोवर	सरोवर
पतित	पतित
रोग	रोग
प्रीति	प्रीति
कमल	कमल
सागर	सागर
चंचल	चंचल
गुण	गुण
रस	रस
मरण	मरण

इस प्रकार के असंख्य संस्कृत शब्द तत्सम रूप में श्रीगुरुग्रन्थसाहिब में विद्यमान हैं। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि श्रीगुरुग्रन्थसाहिब में संस्कृत के कुछ वे तत्सम शब्द भी हैं जो पंजाबी के सामान्य वाग्व्यवहार में अधिक प्रचलित नहीं हैं, परन्तु गुरुवाणी के माध्यम से वे व्यवहार में लाये जा रहे हैं। जैसे -

संस्कृत	श्रीगुरुग्रन्थसाहिब	पंजाबी में अधिक प्रचलित
सुत	सुत	पुत्त
पावक	पावक	अग्ग
उदक	उदक	पाणी
गज	गज	हाथी
कर	कर	हत्थ
मीन	मीन	मच्छी
रसना	रसना	जबान, जीभ

अर्धतत्सम शब्दः-

संस्कृत के वे शब्द जिनका स्वरूप श्रीगुरुग्रन्थसाहिब में यथावत् नहीं रहा, स्वरूप में थोड़ा सा परिवर्तन आया है वे अर्धतत्सम शब्द इस प्रकार हैं -

संस्कृत	**श्रीगुरुग्रन्थसाहिब**
विषम	बिखम
कष्मल	कसमल
वृथा	बिरथा
शृंगार	सीगार
वैर	बैर
पवन	पउण
द्वीप	दीप
कोटि	कोड़ि
अलक्ष्य	अलख
वायु	वाऊ
जीव	जीउ
हंस	हंझ
काक	काग
किल्विष	किलविख
कृपा	किरपा
धूलि	धूरि
निश्चल	निहचल
कुटुम्ब	कुटंब
वियोग	बिओग
अनेक	अनिक
सलिल	सलल
अपर	अवर
तृप्ति	तिपति
प्रसारण	पसारणा
तत्त्व वेत्ता	तत बेता

अर्धतत्सम शब्दों की अवस्था तत्सम शब्दों से आगे की होती है क्योंकि इनमें कुछ न कुछ परिवर्तन हुआ होता है, अतः इनकी पहचान के लिये पाठक को भाषा परिवर्तन की सामान्य समझ होनी चाहिये।

तद्भव शब्दः-

तृतीय कोटि में तद्भव शब्द आते हैं। श्रीगुरुग्रन्थसाहिब में संस्कृत के वे शब्द जिनके स्वरूप में बहुत अन्तर आ गया है, वे तद्भव शब्द उदाहरणतया ये हैं -

संस्कृत	**श्रीगुरुग्रन्थसाहिब**
अक्षौहिणी	खूहणि
अमृत	अमिउ
वैश्वानर	बैसन्तर
भुजंगम	भुइअंगम
सम्पद्	संपै
अन्य	आन
निश्चिन्त	निचिंदा
पयोधरी	पैओहरी
चंचु	चिंजु
व्याधि	बादि
वैश्या	बेसुआ
द्रोह	धोहु
शर्करा	साकर
लोचन	लोइण
श्वास	सास
वस्तु	वथु
स्वादु	सुआउ
पार्श्व	पास
रजनी	रैणि
गगन	गैण

तद्भव शब्दों की इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि ध्वनिपरिवर्तन की दृष्टि से ये शब्द अर्धतत्सम शब्दों से कहीं आगे हैं। यही कारण है कि तद्भव शब्दों का ज्ञान अर्धतत्सम शब्दों की अपेक्षा कठिनतर होता है। इसके लिये भाषापरिवर्तन की विशेष सूझ-बूझ पाठक के काम आती है।

श्रीगुरुग्रन्थसाहिब में संस्कृत शब्दों की अर्धतत्सम तथा तद्भव अवस्था में शब्दों में जो परिवर्तन दिखाई देता है वह भाषाविज्ञान के नियमों के अनुरूप आया है। भाषाविज्ञान के अनुसार कई कारणों से शब्दों में परिवर्तन आ जाता है। शब्द में ध्वनि-आगम, लोप, मात्रा भेद, समीकरण, विषमीकरण, सम्प्रसारण आदि होता रहता है। जैसे -

संस्कृत	**श्रीगुरुग्रन्थसाहिब**
स्तुति	उसतति (उ ध्वनि का विपर्यय)
भुजंगम	भुइअंगम (इ ध्वनि का आगम)
द्वीप	दीप (व् ध्वनि का लोप)
अलक्ष्य	अलख (य् ध्वनि का लोप)
दुस्तर	दुतर (स् ध्वनि का लोप)

धरा	धर	(मात्रा भेद)
पवन	पउण	(सम्प्रसारण)
वर्ण	वन्नु	(समीकरण)
किल्विष	किलविख (ष् को ख् वर्ण परिवर्तन)	

संस्कृत व्याकरण के अंश:-

तत्सम, अर्धतत्सम तथा तद्भव शब्द कोटियों से तो श्रीगुरुग्रन्थसाहिब में संस्कृत शब्दों का प्रयोग स्पष्ट होता ही है, साथ ही संस्कृतव्याकरण के अंश भी श्रीगुरुग्रन्थसाहिब में स्थान स्थान पर देखे जा सकते हैं। जैसे -

'मनसा बाचा करमना मै देखे दोजक जात' - 1105

इस पंक्ति में मनसा, बाचा, करमना संस्कृत पद तो हैं ही, साथ ही ये संस्कृतव्याकरण अनुसार तृतीया विभक्ति में भी प्रयुक्त हुए हैं। इसी प्रकार -

आदि गुरए नमह। जुगादि गुरए नमह । - 262

से संस्कृतव्याकरण के नियम 'नम: के योग में चतुर्थी विभक्ति' का स्मरण होता है।

संस्कृत सर्वनाम 'तद्' के स्त्रीलिंग प्रथमा एक वचन 'सा' पद का प्रयोग श्रीगुरुग्रन्थसाहिब में विशेषण-विशेष्य नियम से हुआ मिलता है। जैसे -

'सा मति' 'सा बुधि' 'सा सापनि'

इन पदों में संस्कृत के विशेष्य मति, बुद्धि तथा सर्पिणी के स्त्रीलिंग में होने से उनका विशेष्य भी स्त्रीलिंग का रखा गया है।

श्रीगुरुग्रन्थसाहिब में संस्कृतक्रिया रूपों का प्रयोग भी दृष्टिगोचर होता है। जैसे -

संस्कृत	श्रीगुरुग्रन्थसाहिब
भणति	भनति
वदति	बदति
स्मरंति	सिमरंति
जानति	जाणंति

अनेक संस्कृतक्रियारूपों में कई प्रकार के ध्वनि परिवर्तन आ गये हैं। जैसे -

संस्कृत	श्रीगुरुग्रन्थसाहिब
त्यजति	तजै
वसति	वसै
भुंक्ते	भुंचै
वांछति	बांछै
भविष्यति	होसी
वर्षतु	वरसउ
विस्मरतु	बसरउ

कई पद संस्कृतसन्धिनियमों के अनुसार हैं। जैसे -

संस्कृत	श्रीगुरुग्रन्थसाहिब	सन्धि
मुखारविन्द	मुखारबिंद	दीर्घ
चरणारविन्द	चरनारबिंद	दीर्घ
आवागमन	आवागउण	दीर्घ
लोकाचार	लोकाचारु	दीर्घ
परमेश्वर:	परमेसरह	गुण

श्रीगुरुग्रन्थसाहिब में कई ऐसी पंक्तियां हैं जो लिंग, विभक्ति, वचन, पुरुष, काल आदि की दृष्टि से संस्कृतवाक्य संरचना के अनुसार हैं। उनके पठन अथवा श्रवण से लगता ही नहीं कि वे संस्कृतेतर हैं। जैसे -

संस्कृत	श्रीगुरुग्रन्थसाहिब
येन सेवित: तेन प्राप्त: मान:।	जिनि सेविआ तिनि पाइआ मानु।
कायनगरे वसति हरिस्वामी।	काइआ नगरि बसत हरि सुआमी।
हरिरत्नपदार्थो लब्ध:।	हरि रतनु पदारथु लाधा।
अपरो नास्ति।	अवरु नास्ति।
त्वं सर्वजीवप्रतिपाल:।	तू सरब जीआ प्रतिपाला।

इस प्रकार स्पष्ट है कि श्रीगुरुग्रन्थसाहिब में संस्कृतमूलक शब्दों की भरमार है।

ISSN 2278 - 0327

वैदिक प्रार्थनायें : आर्यावर्त के मानवीय-जीवन-प्रबन्धन के परिप्रेक्ष्य में

डॉ. सलोनी
असिस्टैण्ट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग,
गुरु नानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर

वैदिक ऋषियों, महर्षियों, मनीषियों द्वारा वेदों, पुराणों, धर्मशास्त्रों, काव्यग्रन्थों के माध्यम से समृद्ध भारतीय चिन्तन को देववाणी के रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है, जो कि भारतीय संस्कृति की आधारशिला है। भारतीय संस्कृति के सन्दर्भ में *'संस्कृतिः संस्कृतमाश्रिता'*-यह कथन पूर्णतया सार्थक है। वैदिक ऋषि ने इस संस्कृति को *'सबके द्वारा वरणीय प्रथम संस्कृति'* स्वीकार किया है -

''सा प्रथमा संस्कृतिविश्ववारा..... ।।''[1]

इसी सन्दर्भ में धर्मशास्त्रकार महर्षि मनु ने इस सम्पूर्ण पृथ्वी के मनुष्यों को इस भारत वर्ष में जन्म प्राप्त द्विजों से चरित्र-निर्माण सीखने की बात की है, जो कि भारतीय जीवन-प्रबन्धन-नीति की श्रेष्ठता को प्रतिपादित करती है -

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः।।[2]

वेदों से प्रादुर्भूत संस्कृत साहित्य विश्व का प्राचीनतम साहित्य है। यह सनातन वेदशास्त्र सम्पूर्ण भूतों का धारक तथा जीवन का उत्तम पुरुषार्थ साधक माना गया है -

बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम्।
तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोऽरस्य साधनम्।।[3]

वैदिक मन्त्रों में देवी-देवताओं से की गयीं प्रार्थनाओं का अध्ययन इनमें निहित आर्यावर्त की जीवन-प्रबन्धन-नीति को हमारे सम्मुख द्योतित करता है, जो कि वर्तमान परिप्रेक्ष्य में अत्यन्त लाभदायक है तथा आर्यवर्त के लिये एक महान् देन है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में मानवीय आचरण शास्त्रोपदिष्ट कर्मों के परित्याग, निन्दित कर्मों में प्रवृत्ति तथा इन्द्रियों के निग्रह न होने से पतनोन्मुख है-

विहितस्यानुष्ठानान्निन्दितस्य च सेवनात्।
अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति।।[4]

आज समाज में चोरी, तस्करी, लूट-पाट आदि घटनाओं की बहुलता दृष्टिगोचर होती है। वैदिक प्रार्थना उल्लू जैसे अज्ञानी, भेड़िये समान हिंसक, कुत्ते जैसे ईर्ष्यालु, चकवे समान कामी, गरुड़ की तरह मदयुक्त तथा गिद्ध जैसे लोभी व्यक्तियों से रहित समाज की कल्पना करती है, क्योंकि ऐसी प्रवृत्तियों के लोग ही समाज को दूषित एवं विकृत करते हैं -

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र।।[5]

यजुर्वेद में जल देवता से प्रार्थना की गयी है कि मनुष्य जो कुछ दूसरों के प्रति द्वेष, घात, वैर, असत्य भाषण, निर्भयतापूर्वक दूसरों को कोसना आदि की गणना मलिन कार्यों के अन्तर्गत करते हुये इनसे निवृत्ति की कामना करता है -

इदमापः प्र वहतावद्यं च मलं च यत्।
यच्चाभिदुद्रोहानृतं यच्च शेपे अभीरुणम्।।
आपो मा तस्मादेनसः पवमानश्च मुंचतु।।[6]

उपर्युक्त वैदिक प्रार्थना में प्रतिपादित किया गया है कि श्रेष्ठ मानवीय जीवन प्रबन्धन तभी सम्भव है, यदि निन्दित एवं मलिन कार्यों का मनुष्य सर्वथा परित्याग करे।

अग्नि देवता से मलिन कार्य करने वालों, तस्करों तथा चोरों एवं हिंसकों को सब प्रकार से नष्ट करने की प्रार्थना की गयी है -

...ये स्तेना ये च तस्करास्तांस्ते अग्नेऽपि दधाम्यास्ये।।
दंष्ट्राभ्यां मलिम्लूंजम्भ्यैस्तस्करौं उत।
हनुभ्यां स्तेनान् भगवस्ताँस्त्वं खाद सुखादितान्।।
ये जनिषु मलिम्लव स्तेनासस्तस्करा वने।
ये कक्षेश्वघायवस्तांस्ते दधामि जम्भयोः।।[7]

वैदिक प्राथनाओं में पाप-निवृत्ति का वर्णन तथा कुकर्मी लोगों के नाश की कामना इस बात की परिचायक है कि ये प्रार्थनायें दुष्कृत्यों के परित्याग की ओर संकेत करते हुये आर्यावर्त

के लिये ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण मानव जाति के लिये श्रेष्ठ मानवीय जीवन-प्रबन्धन-नीति को निर्देषित करती हैं।

भारतीय संस्कृति वाणी-माधुर्य की विषिष्टता से सम्पन्न है। किन्तु वर्तमान परिप्रेक्ष्य में मनुष्य की वाणी कड़वाहट से भरी पड़ी है। मनुष्य अपनी उलझनों में इतना अधिक उलझा हुआ है कि उसके पास न तो किसी के साथ प्रेमपूर्वक वार्तालाप करने का समय है तथा न ही वह अपने दुर्भावों से दूसरों को हानि पहुंचाने में ही संकोच करता है। मानवीय जीवन में वाणी माधुर्य की प्रधानता को प्रदर्शित करते हुये वैदिक ऋषि प्रार्थना करता है कि दिवस-रात्रि, शुक्ल तथा कृष्ण पक्ष, चैत्रादि माह जिस प्रकार मनुष्य की आयु को निरन्तर क्षीण कर रहे हैं, उसी प्रकार मरुत देवता शान्ति स्थापन हेतु मनुष्य की कठोर वाणी का नाश तथा मानवीय दुष्टभावों को दूर करें -

अर्धमासाः परुंषि ते मासा आ च्छ्यन्तु षम्यन्तः।
अहोरात्राणि मरुतो विलिष्टं सूदयन्तु ते।।[8]

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में श्रेष्ठ मानवीय जीवन-प्रबन्धन-नीति हेतु अथर्ववेद में पृथ्वी देवी से प्रार्थना की गयी है कि वे हमारी वाणी को मधुरता प्रदान करें एवं यजुर्वेद में वाणी के स्वामी रूपी देवता से हम सभी की वाणी को मिठास युक्त बनाने की प्रार्थना वर्णित है-

ता नः प्रजाः सं दुहतां समग्रा,
वाचो मधु पृथिवि धेहि मह्यम्।।[9]
...नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु।।[10]

वर्तमान परिवेष में मानवीय जीवन अत्यधिक तनावयुक्त हो गया है। इस तनाव का सर्वप्रमुख कारण अनियन्त्रित मन है। न्याय एवं वैशेषिक दर्शन के सिद्धान्तों से समन्वित ग्रन्थ 'तर्कसंग्रह' में सुख, दुःख, आदि की उपलब्धि की साधनभूत इन्द्रिय को मन कहा गया है, जो कि प्रत्येक आत्मा में नियत होने के कारण अनन्त, परमाणुरूप तथा नित्य है -

सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः।
तच्च प्रत्यात्मनियतत्वादनन्तं परमाणुरूपं नित्यंच।।[11]

आचार्य चाणक्य का कथन '*मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः*'[12] भी स्पष्ट करता है कि मन ही मनुष्य के सांसारिक बन्धन का कारण है तथा यह मन ही सांसारिक पाशों का विच्छेद करते हुये मुक्ति-प्राप्ति का प्रमुख साधन है।

मनुष्य यदि अपने विचारों को परिष्कृत रखे तथा अशुभ विचारों को मन में कदापि स्थान प्रदान न करे तो मानवीय जीवन सर्वदा तनावमुक्त रहेगा। इसीलिये श्रेष्ठ जीवन प्रबन्धन हेतु यजुर्वेद मानवीय मन में शुभ संकल्पों की स्थिति अर्थात् उचित सोचना, उचित निर्णय लेना एवं शुभ क्रियाओं में प्रवृत्ति की प्रार्थना करता है -

...तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।।[13]

नैतिक मूल्यों को उभारते हुये वैदिक साहित्य का कथन है कि मनुष्य अपने कानों से अच्छी बातें ही सुने, भाव किसी की निन्दा-चुगली से अपने को दूर रखे और अपनी आंखों से अच्छे दृश्यों का ही अवलोकन करे, न कि बुरे, श्रेष्ठ जीवन प्रबन्धन हेतु अत्यन्त लाभदायक है-

भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम् देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।[14]

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में विश्व-कल्याण के लिये समाज एवं राष्ट्रों में समानता के भाव की अनिवार्यता अत्यन्त अपेक्षित है। समाज में फैली हुयी असमानता राष्ट्र एवं विश्व के लिये घातक सिद्ध होती है। भारतीय संस्कृति तो अपने-पराये की भावना से दूर समस्त पृथ्वी वासियों को एक परिवार की संज्ञा प्रदान करती है -

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।।[15]

मानवीय जीवन प्रबन्धन की श्रेष्ठता हेतु वैष्विक समता को निर्देशित करते हुये वेद का कथन है कि हममें न तो कोई बड़ा है तथा न ही कोई छोटा। हम सभी एक ही मातृभूमि की सन्तान हैं तथा परस्पर भाई-भाई हैं। अतः हमें छोटे-बड़े का भेदभाव भुलाकर उत्थान के लिये प्रयत्नशील रहना चाहिये -

ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽमध्यमासो।
महसा वि वावृधुः सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो।
दिवो मर्त्या आ नो अच्छा जिगातन।।[16]
अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते।
सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय।।[17]
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये।[18]

विश्व साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ 'ऋग्वेद' समानता के अधिकार की परिकल्पना करते हुये प्रार्थना करता है, ''आप परस्पर एक होकर रहें, परस्पर साथ-साथ मिलकर वार्तालाप करें। समान मन होकर ज्ञान प्राप्त करें '' -

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।।
समानो मन्त्रः समितिः समानी, समानं मनः सह चिश्रमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि।।[19]

ऋग्वेद के ही एक सूक्त में प्रार्थना की गयी है कि हमारे हृदय एक समान हों, हमारे मन एवं संकल्प एक समान हों, ताकि

हम संगठित होकर अपने समस्त कार्य सम्पूर्ण कर सकें –

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।[20]

अथर्ववेद में समानता की भावना की परिकल्पना करते हुये प्रार्थना उपलब्ध है कि हे समानता की कामना करने वाले मनुष्यो! आपके जल को पीने के स्थान एक समान हों तथा अन्न का भाग भी समान हो। हम आपको एक ही प्रेम पाश में बांधते हैं। जिस प्रकार पहियों के अरे नाभि के आश्रित होकर रहते हैं, उसी प्रकार आप सब भी एक ही फल की कामना करते हुये अग्निदेव की समान रूप से उपासना करें –

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यंचोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः।।[21]

इसी सन्दर्भ में यजुर्वेद का भी कथन है कि मनुष्य तेज, जल, दृढ़ शरीरों एवं कल्याणकारी शुद्ध मन से भली–भान्ति संयुक्त रहते हुये जीवन–यापन करे। यह वैदिक मूल्य समानता की दृष्टि से समाज–निर्मिति में अत्यन्त सहायक सिद्ध होगा –

'सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सं शिवेन।'[22]

एकता के गूढ़ सन्देश को अभिव्यक्त करते हुये वैदिक ऋषि प्रार्थना करता है कि मनुष्य सहस्त्रों, सैंकड़ों की संख्या में परस्पर मिलकर अपने कार्यों को सम्पन्न करें –

सहस्रं साकमर्चत परिष्टोभत विंशतिः।
शतैनमन्वनोनवुरिन्द्राय ब्रह्मोद्यतमर्चन्नतु स्वराज्यम्।।[23]

मानवीय जीवन प्रबन्धन में श्रेष्ठ मार्गावलम्बन की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुये सदाचार की नीति अपनाने की अत्यधिक आवश्यकता है। इसी सन्दर्भ में वरुण देवता से प्रार्थना की गयी है कि वे मनुष्य को सदैव 'उश्रम मार्ग' अर्थात् सदाचार में प्रवृत्त करें–

स नो विश्वाहा सुक्रतुरादित्यः सुपथा करत्।
प्र ण आयूंषि तारिषत्।।[24]

अतः स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति के आधार स्तम्भ वेदों में निहित प्रार्थनायें वर्तमान परिप्रेक्ष्य में श्रेष्ठ मानवीय जीवन–प्रबन्धन हेतु एक उत्तम नीति की भूमिका निभाती हैं।

सन्दर्भ –

1. यजुर्वेद, 7/14
2. मनुस्मृति, 2/20
3. मनुस्मृति, 12/99
4. याज्ञवल्क्यस्मृति, 3/219
5. ऋग्वेद, 7/104/22
6. यजुर्वेद, 6/17
7. यजुर्वेद, 11/77–79
8. यजुर्वेद, 23/41
9. अथर्ववेद, 12/1/16
10. यजुर्वेद, 30/1
11. तर्कसंग्रह, पृष्ठ संख्या–59
12. चाणक्यनीति, 13/12
13. यजुर्वेद, 34/1
14. मुण्डकोपनिषद् (शान्तिपाठ), प्रश्नोपनिषद् (शान्तिपाठ)
15. पंचतन्त्र, 5/38
16. ऋग्वेद, 5/59/6
17. वही, 5/60/5
18. अथर्ववेद, 19/62/1
19. ऋग्वेद, 10.191.2–3
20. वही, 10.191.4
21. अथर्ववेद, 3.30.6
22. यजुर्वेद, 8.16
23. ऋग्वेद, 1/80/9
24. वही, 1/25/12

ISSN 2278 - 0327

भारतीय संस्कृति में आश्रम व्यवस्था

यशोदा सिंह
सहायक प्राध्यापक (संस्कृत)
शा.महाराजा छत्रसाल महा. महाराजपुर, छतरपुर (म.प्र.)

प्राचीन भारतीय ऋषियों ने सामाजिक व्यवस्था एवं मानव जीवन को सुव्यवस्थित, सुगठित, सुसंस्कृत एवं सुदृढ़ बनाने के लिए आश्रम चतुष्टय सिद्धांत की कल्पना की है। हमारा समस्त शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास इसी आश्रम व्यवस्था के चतुष्टय सिद्धांत पर आधारित है। इस आश्रम व्यवस्था के अनुसार मनुष्य की सौ वर्ष की आयु को चार आश्रमों में (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास) विभाजित किया गया है तथा भारतीय संस्कृति के पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम, तथा मोक्ष) के साथ समन्वय स्थापित करते हुए *'जीवेम शरदः शतम्, श्रुणुयाम शरदः शतम्'* का आदर्श स्थापित किया गया है।

'आश्रम' शब्द का अर्थ –

'आश्रम' शब्द आ उपसर्गपूर्वक 'श्रम्' धातु से घञ् प्रत्यय करने से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है- उद्योग अथवा प्रयत्न करना।[1] आश्रम शब्द के अनेक अर्थ किए गए हैं, जैसे- गुरुकुल, कुटिया, पर्णशाला, झोपड़ी, संन्यासियों के आवास एवं संन्यासियों का धर्मसंघ आदि। 'पी. वी. काणे' के अनुसार आश्रम एक ऐसा जीवन स्तर है जिसमें व्यक्ति बहुत परिश्रम करता है। आश्रम को व्युत्पादित करते हुए आपस्तब कहते है कि *'आश्रम्यान्त्येषु श्रेयोऽर्थिनः पुरुषा इत्याश्रमाः'* [2] अर्थात् एक ऐसा जीवन स्तर जिसमें व्यक्ति आजीवन श्रम करे वह आश्रम कहलाता है। आश्रम व्यवस्था का निर्देश करते हुए आपस्तम्ब ने कहा है कि आश्रम व्यवस्था के आधार संस्कार हैं-

'यथौषधिवनस्पतीनां बीजस्य क्षेत्रकर्मविशेषे फलपरिवृद्धिरेवम्'।[3]

अर्थात् जिस प्रकार उत्तम और अच्छी प्रकार जुते हुए खेत में पौधों और वनस्पतियों के बीज अनेक प्रकार के फल उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार गर्भाधान आदि संस्कारों से युक्त मनुष्य भी पुण्य फल का कर्मानुसार भागी होता है।

आश्रमों की संख्या, क्रम एवं नामकरण –

आश्रमों की संख्या के विषय में प्रायः सभी स्मृतिकारों का मतैक्य है, किन्तु क्रम और नामकरण को लेकर आचार्यों ने भिन्न-भिन्न पदों का व्यवहार किया है। सर्वप्रथम मनु ने आश्रमों की संख्या, क्रम एवं नाम स्पष्टरूप से कहा है-

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा।
एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः॥[4]

अर्थात् आश्रम चार हैं- ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा यति। गौतम [5], आपस्तम्ब [6], वशिष्ठ [7] तथा बौधायन [8] इन सभी आचार्यों ने संख्या, क्रम एवं नाम का स्पष्ट वर्णन किया है। गौतम ने वानप्रस्थ एवं यति के लिए क्रमशः भिक्षु तथा वैखानस पदों का व्यवहार किया है, वहीं आपस्तम्ब ने ब्रह्मचारी के लिए आचार्यकुल तथा यति के लिए मौनं शब्द तथा बौधायन ने यति के स्थान पर परिव्राजक पद का प्रयोग किया है। जहाँ तक क्रम का प्रश्न है आपस्तम्ब ने ब्रह्मचर्य को प्रथम आश्रम न मानकर गृहस्थ को प्रथम आश्रम माना है।[9]

आश्रमों का वर्गीकरण –

ब्रह्मचर्य आश्रम

वैदिक संस्कृति में मानव जीवन सौ वर्षों का माना गया है इन सौ वर्षों को हम पच्चीस-पच्चीस वर्षों में विभाजित कर चार अवस्थाओं (बाल्यावस्था, युवावस्था, प्रौढावस्था, वृद्धावस्था) को सुचारूप से क्रियान्वित करने के रूप से इन चार (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास) आश्रमों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। शिक्षा-दीक्षा से पूर्व जैसे कि मानव जीवन अनुशासनहीन, अनियमित तथा निरुद्देश्य होता है। इसलिए इस अव्यवस्था को दूर करके जीवन को अनुशासित, संयमित करने के लिए ब्रह्मचर्याश्रम का विधान बनाया गया।

उपनयन संस्कारोपरान्त गुरु के आश्रम में विद्याध्ययन हेतु जिस काल में प्रवेश लिया जाता है, वह काल ब्रह्मचर्याश्रम कहलाता है। ब्रह्म प्राप्ति के लिए चर्या, ही ब्रह्मचर्याश्रम का मुख्य ध्येय है। अर्थात् ब्रह्मचर्यावस्था का मुख्य लक्ष्य अध्ययन, तप के द्वारा विद्या की प्राप्त कर अन्य सभी आश्रमों में अवस्था अनुसार प्रवेश करते हुए अन्त में शरीर का त्याग करना। प्राचीन भारतवर्ष

में ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचारी अन्य सांसारिक कार्यों को छोड़कर केवल तप द्वारा विद्याध्ययन करता था।

भृगु स्मृतिकार का कहना है कि – पांच वर्ष के बाद बालकों को तथा बालिकाओं को गुरुकुलों में प्रविष्ट कराएं और बालक एवं बालिकाओं का उपनयन अलग–अलग किया जाना चाहिए तथा वे गुरुओं की आज्ञा का पालन करें। उपनयन संस्कार में तीन धागों से बना हुआ यज्ञोपवीत धारण कराकर बताया जाता है, कि तीन ऋण से मुक्ति हेतु यह धारण किया गया है, अतएव इसे आजीवन ही धारण करना चाहिए। यज्ञोपवीत धारण करने से शरीर दिव्य तेज धारण कर लेता है, उस दिव्य देह के पिता आचार्य, और माता गायत्री कहे गए हैं। क्योंकि माता– पिता द्वारा उत्पन्न शरीर भौतिक शरीर होता है, किन्तु आचार्य के उपदेश से दिव्य शरीर जन्म लेता है।[10] प्राचीन काल से विद्यार्थियों को विद्याध्ययन के किये त्याग तपस्या का विधान है। महाभारत में भी विद्यार्थी को तप के साथ जीवन जीने को निर्दिष्ट करते हुए कहा गया है– 'सुख के चाहने वाले व्यक्ति को विद्या कहां, विद्यार्थी जीवन में विद्यार्थी को सुख कहां, और सुखार्थी व्यक्ति को विद्या त्याग देती है, इस प्रकार विद्या का अर्थी व्यक्ति सुख का त्याग करके जागरुक होकर विद्या को प्राप्त करता है। [11]

गृहस्थाश्रम–

गृहस्थाश्रम को सभी आश्रमों की आधारशिला बताते हुए मनु कहते हैं कि–

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तव:।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमा:।[12]

अर्थात् जिस प्रकार सभी मनुष्य वायु का सहारा लेकर जीवन–यापन करते हैं, उसी प्रकार सभी आश्रमवासी गृहस्थी के आश्रय से जीवन का निर्वाह करते हैं। क्योंकि गृहस्थी ही ब्रह्मचारी,वानप्रस्थी, एवं संन्यासी के भोजनादि की व्यवस्था करता है। गृहस्थी किसको बनना चाहिए किसको नहीं इस विषय में मनुस्मृतिकार का कहना है कि 'जिसका ब्रह्मचर्य खण्डित न हुआ हो, ऐसा ब्रह्मचारी वेदों का अध्येता भी हो इस प्रकार का व्यक्ति गृहस्थी होने योग्य होता हैं।' [13] इसी सन्दर्भ में किस प्रकार की कन्या हो, किस प्रकार उसका कुल हो, कैसा उसका नाम, गुण, क्रिया हो इन सभी को देखते हुए ही विवाह करना चाहिये। तथा कन्या को भी योग्य वर से ही विवाह करने को कहा गया है। मनुस्मृति में विवाह संस्कार की चर्चा करते हुए आठ प्रकार के विवाह बताएं हैं जो कि इस प्रकार हैं– ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस, तथा पैशाच।[14] इसमें अन्तिम विवाह अत्यन्त निकृष्ट माना जाता है। ब्राह्म आदि चार विवाह उत्तम तथा चार अन्तिम के निष्कृट विवाह के अन्तर्गत माने जाते हैं। ब्राह्म उत्तम विवाह को परिभाषित करते हुए मनु ने कहा है कि 'विद्वान, तेजस्वी, वर को स्वयं बुलाकर और कन्या को भी वस्त्र, अंलकरादि पहनाकर विधिपूर्वक विवाह की प्रकियाओं को सम्पादित कर कन्या का माता– पिता की इच्छा द्वारा किया जाने वाला संस्कार 'आर्ष' विवाह के अन्तर्गत आता है।[15] इसी प्रकार मनु ने सभी विवाहों को परिभाषित किया गया हैं। तथा ब्राह्म, एवं आर्ष आदि विवाह करने के क्या लाभ अथवा प्रयोजन है, इस विषय में भी मनु ने कहा है कि 'ये उत्तम विवाह करने से उत्तम तेजस्वी,पुत्र एवं पुत्रियों की प्राप्ति होती है।' [16] तथा वे रूपवान्, सत्वगुणी, धनवान, यशस्वी, साथ ही धार्मिक होकर 100 वर्षों तक पृथिवी का उपभोग करते हैं।[17] और जो भी मनुष्य इससे इतर निकृष्ट विवाह करते हैं उनकी सन्तान मिथ्याभाषी, समाज में निन्दनीय होती हैं।[18] इस प्रकार मनु ने उत्तम विवाहों से लाभ, एवं निकृष्ट विवाहों से हानि दोनों को उल्लिखित करके समझाया है। अतएव उचित है कि सभी लोगों को उत्तम विवाह ही करना चाहिये तभी उत्तम यशस्वी, तेजस्वी सन्तानों की प्राप्ति होगी। गृहस्थी को चाहिए कि वह गृहस्थ कर्म, पञ्चयज्ञविधान, नित्य भोजन एवं पाक इनको विवाह की अग्नि में विधिपूर्वक करें।[19] सभी गृहस्थियों को पञ्चमहायज्ञों को अवश्य करना चाहिये, क्योंकि जो पञ्चमहायज्ञ नहीं करता वह घर में रहता हुआ भी नित्य हत्यादि निष्कृष्ट कर्मों में लिप्त होने के समान ही रहता हैं।[20] वे पञ्चयज्ञ इस प्रकार हैं– अध्ययन करना कराना ब्रह्मयज्ञ, अन्न एवं जल से तर्पण पितृयज्ञ, तथा हवन पूजा देवयज्ञ, बलिवैश्वदेव भूतयज्ञ है, एवं अतिथिपूजन मनुष्ययज्ञ है।[21]

इस प्रकार स्पष्ट है कि जीवन यात्रा सांसारिक अभ्युदय की उपयोगिता को ध्यान में रखकर दान, अतिथि सत्कार आदि दायित्वों का पालन करते हुए तत्कालीन गृहस्थ अपने परम लक्ष्य को ओझल नहीं होने देता था, किन्तु वर्तमान में इसका अंशमात्र दृष्टिगोचर होता है।

वानप्रस्थाश्रम –

शाब्दिक दृष्टि से वन की ओर प्रस्थान करना ही वानप्रस्थ शब्द का अर्थ है।[22] 'वामन शिवराम आप्टे' ने अपने शब्दकोश में वानप्रस्थ शब्द का अर्थ अपने धार्मिक जीवन के तीसरे आश्रम में प्रवेश करना बताया है। 'पी. वी. काणे' के अनुसर प्राचीन काल में 'वैखानसशास्त्र' नामक कोई ग्रन्थ, जिसमें वन के मुनियों के विषय में नियम निर्धारित थे, उसी के अनुसार आचरण करने वालों को 'वानप्रस्थ' कहा गया है । इस प्रकार 'वानप्रस्थ' के

लिए प्राचीन काल में 'वैखानस' शब्द का प्रयोग हुआ है।[23] वानप्रस्थ के समय का उल्लेख हमारे धर्मशास्त्रों में मिलता है जिसमें यह प्रतिपादन किया गया है कि पचास वर्ष की अवस्था हो जाने पर व्यक्ति सांसारिक सुख एवं वासनाओं की भूख से जब उबने लगता है, तब उसे वन की राह पकड़ लेनी चाहिए। 'मनु' के अनुसार जब व्यक्ति के सिर के बाल पक जाए, झुरियां पड़ने लगे और उसके पुत्र के भी पुत्र हो जाए तब उसे वन का आश्रय लेना चाहिए।[24] 'याज्ञवल्क्य'[25], 'हारीत'[26] एवं 'शंख'[27] ने भी मनु का समर्थन करते हुए कहा है कि पत्नी को साथ लेकर अथवा पुत्रों को सौंपकर, ग्राम्य आहार का त्याग करके वन की ओर प्रस्थान करना चाहिए।

वानप्रस्थ के कर्त्तव्यों का वर्णन करते हुए 'वसिष्ठस्मृति' में कहा गया है कि वानप्रस्थी का कर्त्तव्य है कि वह जटाधारण कर रहे, चीर वस्त्र तथा मृगछाला धारण करे, ग्राम में प्रवेश न करे, जुते हुए हल से उत्पन्न अन्न को न खाए, बिना जुता अन्न तथा फल, मूल इनको इकट्ठा करता रहे। पृथ्वी पर शयन करे, जो आश्रम में अतिथि आवे उसकी पूजा फल मूल से करे, छः महीने के बाद अग्नि और स्थान को त्याग दे, देवता, पितर, मनुष्य इनको अवश्य दे, वह अनंत स्वर्ग को प्राप्त करता है।[28] इस प्रकार वानप्रस्थ का वर्णन ऋषियों द्वारा प्राप्त होता है।

सन्यासाश्रम –

आश्रम-व्यवस्था के क्रम में चौथा और अन्तिम आश्रम संन्यास है। सामान्य रूप से शुद्ध चरित, साधु सम जीवन बिताते हुए लोकैषणा, दारैषणा, वित्तेषणा आदि सांसारिक विषयों-भोगों का त्याग करना ही 'संन्यास' शब्द का अभिप्राय है। संन्यास शब्द की व्युत्पत्ति सम् नि उपसर्ग पूर्वक अस् धातु से 'घञ्' प्रत्यय लगाने से मानी गयी है। जिसका अर्थ है सम्यक् रूप से न्यास या त्याग।[29] संन्यास कब लेना चाहिए इस सन्दर्भ में मनु कहते हैं कि 'जब जीवन का तीसरा भाग वनों में विचरण करके तथा आयु के चतुर्थ भाग को विषयों को त्यागकर संन्यासी बनें।[30] और भी संन्यास तभी लेना चाहिए, जबकि ऋषि, देव, पितृ, आदि इन सभी ऋणों को चुकाकर मोक्ष साधना में मन लगें, क्योंकि जब तक त्याग की भावना न हो जब तक संन्यास लेने पर भी किसी प्रकार का फल प्राप्त नहीं होता, इसलिए मोक्ष हेतु सभी ऋणों से मुक्त होकर ही संन्यास लें।[31]

मुक्ति की भावना ही संन्यास जीवन का प्रमुख लक्ष्य है अर्थात् संन्यासाश्रम का एक मात्र लक्ष्य मोक्ष पुरुषार्थ की सिद्धि है। इस पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए 'मनु' का कथन है कि वेदों का अध्ययन करके पुत्रों को उत्पन्न कर और यज्ञों को सम्पन्न करके ही मनुष्य को मोक्ष प्राप्ति की इच्छा करना चाहिए।[32] 'मनु' का मत है कि संन्यासी को लौकिक अग्नि और गृह को छोड़कर अपने पास केवल भिक्षा पात्र और केवल आश्रय के लिए पेड़ों की जड़ में निवास करना चाहिए।[33] और भी संन्यासी को मरने या जीने की इच्छा नहीं करनी चाहिए। जिस प्रकार नौकर आज्ञा की प्रतीक्षा करता है उसी प्रकार वह भी प्रतीक्षा करे।[34] 'महाभारत' के अनुसार संन्यासी का महत्त्वपूर्ण गुण है-समता। संन्यासी को चाहिए कि उसे अच्छा-बुरा, लाभ-हानि, सुख-दुःख आदि के प्रति समभाव रखना चाहिए, इतना ही नहीं जन्म-मरण की इच्छा स्वयं न करे, इनको काल के हाथों में सौंप देना चाहिए।[35]

निष्कर्ष –

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि प्राचीन काल में प्रचलित आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत ब्रह्मचर्याश्रम केवल शिक्षा एवं संयमित जीवन के लिए, गृहस्थाश्रम न केवल रति सुख और सन्तान उत्पत्ति के लिए, वानप्रस्थाश्रम न केवल त्याग के लिए, संन्यासाश्रम न केवल आत्मनिरीक्षण व मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रसिद्ध था, अपितु सब के अपने-अपने उद्देश्य निर्धारित थे, जिनको पूर्ण करने से व्यक्ति और समाज दोनों का ही कल्याण होता था। संन्यासाश्रम मानव जीवन का अन्तिम आश्रम था। यह पूर्णरूप से लोक कल्याण का मार्ग था। इसमें मनुष्य सांसारिक विषय-वासनाओं से विरक्त होकर मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता था। लेकिन आजकल संन्यास की परिभाषा बदल गई है। लोग स्वयं की इच्छाओं एवं उदरपूर्ति के लिए संन्यास के मार्ग को अपनाते हैं। केवल वस्त्रों का बदल लेना भर ही संन्यासी हो जाना नहीं है अपितु जैसे ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ के गुण, कर्म और स्वभाव बताए गए हैं वैसे ही संन्यासी के अन्दर कुछ योग्यताओं का होना आवश्यक है, तभी वह सच्चा संन्यासी हो सकता है। गैरूवे वस्त्र इसलिए पहने जाते हैं क्योंकि ये ब्रह्माग्नि के प्रतीक है और वह परमात्मा के प्रति समर्पित हो जाता है। लेकिन समाज में आज ऐसे संन्यासियों का अभाव है।

सन्दर्भसूची –

1. (क) हला. को. पृष्ठ - 393
   (ख) संस्कृत हिंदी कोश, पृष्ठ- 165
2. धर्म का इति0, भाग-1, पृ. 267 : आश्रम्यन्ति अस्मिन् इति आश्रमः।
3. आ.सू. 2.2.4.1
4. मनु. 6/87

5. ब्रह्मचारीगृहस्थो भिक्षुर्वैखानसः, गौ.धर्मसूत्र 3/2
6. चत्वार आश्रमागार्हस्थ्यम्, आचार्यकुलं, मौनं, वानप्रस्थ्यमिति। आपस्तम्बधर्मसूत्र 2/9/21/1
7. वसिष्ठधर्म. सूत्र 7/1/2
8. ब्रह्मचारी गृहस्थो वानप्रस्थः परिव्राजक इति। बौ.अ 6/ख.11/प्र.2/14
9. आपस्तम्बधर्मसूत्र 2/9/21/1
10. पंचवर्षोत्तरं बालबालिका गुरुवेश्मनि। गच्छेयुः बालकाः पुंभिः स्त्रीभिश्चाधिष्ठितेऽपराः। कृतोपनयनास्तत्र कुर्युर्गुर्वनुशासितम्। यज्ञोपवीतमेकैकं धारयेयुर्निरन्तरम्। भृगु. 6.3-4
11. सुखार्थिनः कुतोविद्या नास्ति विद्यार्थिनः सुखम्। सुखार्थी वा त्यजेद्विद्या विद्यार्थी वा त्यजेद् सुखम्। महा.
12. मनु.अ.3/77
13. वेदानधीत्यवेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्। अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत्। मनु.अ.3/2
14. ब्राह्मोदैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः। गान्धर्वोराक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥ वही.अ.3/21
15. आच्छाद्यचार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम्। आहूयदानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः। वही.अ.3/27
16. ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवानुपूर्वशः। ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्राजायन्ये शिष्टसंमताः। वही. अ.3/39
17. रूपसत्त्वगुणोपेता धनवन्तो यशस्विनः। पर्याप्तभोगा धर्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः। वही.अ.3/40
18. इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसा नृतवादिनः। जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः। वही. अ.3/41
19. वैवाहिकोऽग्नौ कुर्वीत गृह्यं कर्मयथाविधिः। पञ्चयज्ञविधानं च पंक्तिं चान्वाहिकीं गृही। वही. अ.3/67
20. पञ्चैतान्यो महायज्ञान्नहापयति शक्तितः। सगृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्नलिप्यते। वही.अ.3/71
21. अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तुतर्पणम्। होमोदेवौबलिर्भौतओनृयज्ञोऽतिथिपूजनम्। वही.अ.3/70
22. संस्कृत-हिन्दी शब्दकोश, पृ. 917
23 धर्म का इति0, प्रथम भाग, पृ. 482
24. गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः। अपत्यस्यैव चापत्यं तदाऽरण्यं समाश्रयेत।। मनु0, 6/2
25. याज्ञ.स्मृ0, 3/45
26. हा. स्मृ0, 5/2
27. शं. स्मृ0, 6/2
28. वशि. स्मृ. 1/1-9
29. हला. को0, पृ. 691
30. वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः। चतुर्थमायुषोभागं त्यक्त्वा सङ्गान्परिव्रजेत्। मनु. अ.6/33
31. ऋणानित्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्। अनपाकृत्यमोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः। मनु.अ.6/35
32. मनु. 6/36
33. मनु. 6/43
34. मनु. 6/45
35. महा. शा. प. 245/15

ISSN 2278 - 0327

समसमायिक परिप्रेक्ष्य में कौटिलीय अर्थशास्त्र की समीचीनता

डॉ. सुमन कुमारी
असिस्टेन्ट प्रोफेसर, साहित्य विभाग
केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय के अधीन
डॉ0 रामजी मेहता आदर्श संस्कृत महाविद्यालय, मालीघाट, मुजफ्फरपुर, बिहार-842001

समसमायिक परिप्रेक्ष्य में कौटिलीय अर्थशास्त्र की समीचीनता विषय पर प्रस्तुत शोध-पत्र में अध्ययन मनन-चिन्तन कर इसकी प्रासंगिता को चित्रित किया जा रहा है।

शोध सारांश -

भद्रं कर्णेभि: शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्रा:।
स्थिरङ्गैस्तुष्टुवा सस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायु:।।[1]

इस वैदिक मन्त्र के सन्देश को आत्मसात् कर राग एवं द्वैष से रहित समाज में समरसता एवं समन्वय की स्थापना हेतु 'कौटिलीय अर्थशास्त्र' में उपलब्ध विपुल सामग्रियों को प्रस्तुत शोध-पत्र के माध्यम से प्रमाणिकता तथा शुचिता के साथ मन्थन कर शोध शैली में उद्धृत किया गया है।

इस ग्रन्थ में चाणक्य तथा राक्षस नामक कुटनीतिनिपुण अमात्यों की राज्यनिष्ठात्मक गतिविधियों का चित्रण है। इसमें आचार्य चाणक्य का लक्ष्य एक ऐसे विराट साम्राज्य की स्थापना करना था जिसकी शासन प्रभुत्ता स्वतन्त्र हो और जिसके ऐश्वर्य के समक्ष किसी को भी विरोध करने का साहस न हो। इसमें लोक कल्याण की एक व्यापक भावना विद्यमान थी जिसका प्रतिकार कौटिल्य ने कभी नहीं किया। 'कौटिल्य का अर्थशास्त्र' संस्कृत साहित्य का सर्वश्रेष्ठ सर्वौषधिमयी अंजन शलाका है जिसे बुद्धिरूपी नेत्रों में लगाकर अज्ञानी जन परमज्ञान दृष्ट हो जाते हैं। इनका अर्थशास्त्र प्रमुखतया राज्य एवं राज्यतन्त्र से सम्बन्धित नीतियों का प्रतिपादन करता है, किन्तु राज्य विधान ही नहीं अपितु जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनकी दृष्टी प्रजारंजन के सुख-दु:ख से है जिसका केन्द्रबिन्दु अर्थ तो है, परन्तु यह धर्म और नैतिकता पर आधारित है।[2] 'अर्थमूलौ हि धर्म कामौ' इस दृष्टि में कौटिल्य की अन्त: चक्षु व्यापक एवं परिपक्व है। इन्होनें अर्थ की श्रेष्ठता पर बल देते हुए अर्थशास्त्र शब्द को राजधर्म का बोधक बताया है। महाभारत[3] में भी अर्थ की श्रेष्ठता स्वीकृत है। अर्थविहीन व्यक्ति को ग्रीष्म की सूखी सरिता के समान माना गया है। इसी तरह 'कौटिलीय अर्थशास्त्र' में भी प्रतिपादित किया गया है कि किस प्रकार राष्ट्र रूपी शरीर की पुष्टि एवं विकास के लिए संपूर्ण राष्ट्र के अन्तर्गत आने वाली जनता को अपनी कार्य क्षमता के अनुसार धर्मानुकूल कार्य करना चाहिए। नैतिक शिक्षा का इससे बढ़िया कोई ग्रन्थ हो ही नहीं सकता। यही कारण है कि कौटिल्य द्वारा प्रणीत अर्थशास्त्र में एक विलक्षण अन्तर्दृष्टि है, वह लोककल्याण एवं कर्तव्याकर्तव्य, उचितानुचित के कर्म का बोध कराने मे पूर्णरूपेण सक्षम है।

इसके अतिरिक्त पुरूषार्थ चतुष्ट्य की सिद्धि के लिए मनुष्य की व्यसनकारी इच्छाओं को नियन्त्रित करने एवं उसके कार्य को समाजोपयोगी बनाने के लिए जो प्रभावोत्पादक विवरण प्रमाणों के साथ प्रस्तुत किया गया है। जो आज के सन्दर्भ में अत्यन्त उपयोगी है ।

सारांशत: कौटिल्य ने एक आदर्श नैतिक-धर्मपरायण, समाज के सभी वर्णों का ख्याल करने वाला, बालकों, वृद्धों, अनाथों, असहायों, परित्यक्ता, स्त्रियों, सन्तानहीन गरीब, श्रमजीवियों, दानशील, तपस्वी, रोगी अर्थात् समाज के सभी उपेक्षित वर्गों के हित का पूरा ध्यान रखने की बात कही है। राजा को सख्त निर्देश दिया गया है कि प्राणियों का कल्याण करना राजा का परम धर्म है। राजा के लिए प्रयोजन का निर्देश आज भी अनुकरणीय है यथा-

बालवृद्ध व्यसनयनाथांश्च राजा बिभृयात् स्त्रिय प्रजाता-याचपुत्रानू।[5]

प्रजासुखे सुखं राज्ञ: प्रजानां च हिते हितम् ।
नात्मप्रियं हितं राज्ञ: प्रजाना तु प्रियं हितम्।।[6]

कौटिल्य न्याय, दण्ड प्रणाली को भी अपने शास्त्र में उचित बताया है, परन्तु दण्ड का निर्धारण सम्यक् न्याय तद्वत् विचार कर निर्धारित करना चाहिए।

इस प्रकार आचार्य कौटिल्य ने एक आदर्श, धर्मानुकूल, न्यायोचित राष्ट्र की कल्पना को साकार किया था वह निश्चित ही

सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक आर्थिक रूप से समृद्ध, सुदृढ़, एवं दूसरे के लिए अनुकरणीय था। काल एवं परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य को स्पष्ट करते हुए वर्तमान की समस्याओं के समाधन के लिए किस प्रकार कण्टकाकीर्ण आधार बनाया जा सकता है, ताकि दुर्गम कण्टकाकीण मार्ग प्रशस्त हो सके। इसका प्रमाणिक, व्यवस्थित विवरण प्रस्तुत आलेख में निरूपित किया गया है। आशा है यह शोध पत्र शुभेच्छु अनुसन्धान कर्त्ताओं के लिए प्रथप्रदर्शक होगा।

कूटशब्दा (Key Words)

पुरूषार्थ चतुष्ट्य, शास्त्र, शास्त्र, अधिकरण, कुटनीति, कामन्दक, आदि।

प्रस्तावना –

स्वे-स्वे कर्मण्यभिरत: संसिद्धिं लभते नर:।
स्व कर्मनिरत: सिद्धिं यथा विनदति तच्छृणु।।[7]

गीता के उक्त कथन के अनुसार अपने स्वभाविक कर्मों द्वारा व्यक्ति परम सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। ज्ञातव्य है संस्कृत-साहित्याकाश में एक देदीप्यमान मेधा एवं दूरदर्शिता शक्ति के रूप में विख्यात 'अर्थशास्त्र' के प्रणेता कौटिल्य के मस्तिष्क में गीता का यह आदर्श वाक्य पूर्व से ही अनुष्युत था, तभी तो अपने प्रौढ़ चिन्तन, मनन एवं कर्म के द्वारा संसार के मनुष्यों के लिए एक आदर्श स्थापित करने वाला अद्वितीय, अनुपम, शिक्षाप्रद नीतिगत, धर्मानुकूल, अर्थानुकूल, सार्वकालिक और सार्वदेशिक अर्थशास्त्र नामक ग्रन्थ का प्रणयन स्वयं करने का निश्चय किया

येन शास्त्रं च शस्त्रं च, नन्दराजगता च भू:।[8]
दृष्ट्वा विप्रतिपतिं, बहुधा शास्त्रेषु भाष्यकाराणाम् ।
स्वयमेव विष्णुगुप्तश्चकार सूत्रं च भाष्यं च ।।[9]

अत: हम कह सकते है कि अर्थशास्त्र विषयक ग्रन्थों की परम्परा कल्पसूत्रों के काल से चली आ रही थी। उन सभी चिन्तकों के बिखरे हुए पुष्पों को माला के रूप में पिरो कर 'सर्वेभवन्तु सुखिन: सर्वे सनतु निरामया:। आ नो भद्रा: क्रतवो यन्तु विश्वत:'। इस उदान्त अभिलाषा से ओत-प्रोत होते हुए संसार के व्यक्तित्व को समलंकृत करने वाले विशालकाय 15 अधिकरणों और 169 प्रकरणों वाला सूत्रात्मक शैली में श्लोकबद्ध अर्थशास्त्र नामक ग्रन्थ को प्रतिष्ठापित करने में स्वयं सफल हो सके। तथा संस्कृतवाड्मय के रत्नाकरों में राष्ट्रभक्त युग स्त्रष्टा के रूप मे स्वयं भी कालजयी अमर बन गये।

विषय की व्यापकता आकार की विशालता यथार्थ का चित्रण कराने वाला राजनिष्ठात्मक गतिविधियों से ओत-प्रोत, राजनीति तथा अर्थनीति के असाधारण महत्व का बोध कराने वाला आर्यसंस्कृति के संरक्षण का प्रतिपादक और मानवजाति के लिए प्रकाश -स्तम्भ स्वरूप सर्वथा अतुलनीय यह ग्रन्थ है। अत: सिद्ध है कि कौटिल्य अर्थशास्त्र की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। नाम से ये राजनीतिशास्त्र के ग्रन्थ नहीं लगते क्योंकि सामान्यतया अर्थ शब्द का अर्थ धन होता है, परन्तु अर्थशास्त्र का प्रतिपाद्य संम्पतिशास्त्र या वित्तशास्त्र से लगाया जाता है। लेकिन इस सम्बन्ध में आचार्य कौटिल्य का कहना है कि जिस प्रकार 'अर्थ' शब्द 'वृति' व्यवसाय का बोधक अवश्य है परन्तु यह राजधर्म का बोधक है। अतएव निश्चित रूप से प्रस्तुत ग्रन्थ राजनैतिक दृष्ट्या महत्वपूर्ण है।

आचार्य कौटिल्य अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों का भी पूर्णमनोयोग से सम्मान करते हुए 20 अर्थशास्त्रवेता आचार्यों के नामों का उल्लेख किया है जो इस प्रकार है- कात्यायन, कर्णिक, भरद्वाज, विशालाक्ष, पिशुन, पराशर कौणपदन्त, घोटमुख, चारायण, किंजल्क आदि। इसी प्रकार इन्होंने उत्तरवर्ती आचार्यों के कुछ पुस्तकों को भी प्रमुखता दी। ये ग्रन्थ है-कामन्दकीय नीतिसार, बृहस्पतिसूत्र, नीतिवाक्यामृत, राजनीति रत्नाकार, राजनीतिमयूख आदि।

यहां उल्लेखनीय है कि आचार्य चाणक्य में 'मालविकाग्नि-मित्रम्' में कवि कुलकालिदास द्वारा निर्धारित निकष को ध्यान में रखते हुए पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती दोनों विचारकों के प्रतिमानों को महत्व दिया। यथा-

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।[10]
सन्त: परीक्ष्यान्यतद् भजन्ते मूढ़ परप्रत्यय नेय बुद्धि: ।।

इससे सिद्ध होता है कि चाणक्य के मनोमस्तिष्क में गुणवान् मनीषियों के प्रति आदर, विश्वास और स्वाभिमान की भावना भरी हुई थी। यही कारण है कि अर्थशास्त्र की परम्परा भले ही पुरानी हो, परन्तु उसका समाहार हमें 'कौटिल्य के अर्थशास्त्र' में प्राप्त होता है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि आचार्य चाणक्य ने उन पूर्ववर्ती और परवर्ती सभी चिन्तकों के मतों का स्वकीय ग्रन्थ में समाहित करते हुए उनके सिद्धान्तों की आलोचना राग एवं द्वेष से रहित न्यायधीश की तरह 'इतिकौटिल्य:' कहकर प्रस्तुत किया ।

इनके इन सिद्धान्तों की पुष्टि महाकवि कल्हण द्वारा राजतरंगिणी में पिरोया गया यह इसकी पुष्टि यह श्लोक भी करता है-

श्लाघ्य: स एव गुणवान् रागद्वेषवहिष्कृता।
भूतार्थकथने यस्य स्थेयस्यैव सरस्वती।।[11]

अत: इस वैश्विक युग में निश्चित रूप से कौटिल्य का अर्थशास्त्र जैसे अन्य ग्रन्थों का भी अध्ययन मनन कर व्यवहारिक

रूप से प्रयोग किया जाये तो मनुष्यों के लिए एक आदर्श स्थापित करने वाला यह ग्रन्थ सिद्ध होगा। आगे कौटिल्य के नामकरण पर भी प्रस्तुत शोधपत्र में सूक्ष्म निरीक्षण किया गया है –

साहित्य वाङ्मय में महामनीषी चाणक्य के तीन नाम प्रचलित है–

1. विष्णुगुप्त– कौटिल्य का पितृप्रदत्त नाम विष्णुगुप्त था।

2. चाणक्य 3. कौटिल्य

एकलोक–विश्रुत नाम चाणक्य भी है। सम्भवत: चणक के पुत्र थे इसलिए चाणक्य संज्ञा प्राप्त हुआ हो और कौटिल्य एक कुटिल राजनीतिज्ञ होने के कारण कहा जाता रहा हो।

समय निर्धारण –

'कौटिलीय अर्थशास्त्र' के समय निर्धारण के विषय में विद्वानों के बीच मतभेद है, परन्तु ऐतिहासिक तथ्यों से ज्ञात होता है कि 632–37 ई. पू. तक मगध का शासन शिशुनाथवंश के अधीन था। शिशुनाग वंश के पश्चात् मगध पर नन्दवंश का स्वामित्व रहा। राजा नन्दवंशी 88वें वर्ष तक मगध पर शासन किया। उल्लेखनीय है कि नन्दरूपी महान शक्तिशाली राजा को धराशायी करने का श्रेय आचार्य कौटिल्य को ही जाता है। कौटिल्य की मेधा शक्ति और कूटनीतिज्ञता के फलस्वरूप ही चन्द्रगुप्त नन्द को पराजित करने में सक्षम हो सका। चन्द्रगुप्त ने 329 ई. वर्ष पूर्व यवनराज सिकन्दर के प्रयत्न को भी विफल कर 24 वर्षों तक मगध की गद्दी पर आधिपत्य किया। कामनन्दक ने अपने नीतिसार ग्रन्थ में कौटिल्य का परिचय विस्तृत रूप में दिया है। प्रस्तावना में उनके द्वारा लिखा हुआ यह श्लोक द्रष्टव्य है –

नीतिशास्त्रामृतं धीमानर्थशास्त्र महोदधेः।
समुद्रधे नमस्तस्मै विष्णुगुप्ताय वेधसे।।[12]

इस उद्धरण से यह तो सिद्ध होता है कि 'कौटिलीय अर्थशास्त्र' का प्रणेता विष्णुगुप्त ही है। इस तरह ऐतिहासिक तथ्यों का अत्यन्त सूक्ष्म निरीक्षण करने पर तथा डॉ. जौली, डॉ विन्टरनित्स एवं डॉ. कीथ आदि मनीषियों ने प्रमाणिक तथ्यों के आधार पर यह निर्धारित किया कि अर्थशास्त्र रचयिता कौटिल्य ही है जो चन्द्रगुप्त का महामात्य था। इस प्रकार आचार्य ने अपनी असीम ज्ञान रूपी तूलिका से संसार के मार्ग को प्रशस्त करने वाला अनुपम ग्रन्थ के रचनाकर के रूप में भी कालजयी युग द्रष्टा के रूप प्रतिष्ठापित हो गये।

पृष्ठभूमि –यह ग्रन्थ 15 अधिकरण और 179 प्रकरण में व्यवस्थित है। जो इस प्रकार है–

1. विनयाधिकरण, 2 अध्यक्ष प्रचार, 3 धर्मसीय, 4 कंटकशोधन, 5. योगवृत्त, 6. मण्डलयोनि, 7. षाड्गुण्य, 8 व्यसनाधिकारिक, 9 अभियास्यत्कर्म, 10. संग्रामिक ,11. वृत्तसंध, 12. आवलीयस, 13. दुर्गलम्भोपाय, 14 औपनिषदिक, 15. तन्त्रयुक्ति।

विषय विवेचन की दृष्टि से इन अधिकरणों में प्रतिपादित विषय संक्षेप में इस प्रकार हैं–

प्रथम अधिकरण में राजा के कर्तव्य का बोध द्रष्टव्य है।

द्वितीय अधिकरण में राजकीय अधिकारियों के कर्तव्य का उपदेश दिया गया है तथा ज्ञान को आत्मसात् कर व्यवहार में लाने का निर्देश भी है।

तृतीय अधिकरण में, दया, लेन–देन, आदि की चर्चा है।

चतुर्थ अधिकरण में व्यापारी, शिल्पी, एवं षड्यन्त्रकारियों, दुष्टों, दुराचारियों से प्रजा की रक्षा पर सख्त राजा को आदेश किया गया है।

पंचम अधिकरण में कोष संग्रह की आवश्यकता, राजद्रोहियों को दंड, आदि का प्रवधान है।

षष्ठम अधिकरण में शान्ति और उद्योग की चर्चा है।

सप्तम अधिकरण में षड्गुण, संधि –विग्रह आदि का वर्णन है।

अष्टम अधिकरण में व्यसनों और उनका रोकथाम,का उल्लेख है।

नवम अधिकरण में युद्ध, आक्रमण, अनेकानेक विपत्तियों, कष्टों और उनका निवारण करने की विवेचना है।

दशम अधिकरण में कुटनीति, युद्ध, सेना, छावनी, व्यूह आदि के विषय में विवेचना है।

एकादश अधिकरण में शत्रुओं में भेद नीति की चर्चा है। द्वादश अधिकरण में दूतकर्म, युद्धमन्त्र, कूटनीति प्रयोग का वर्णन।

त्रयोदश अधिकरण में छल–कपट करने वालों से निराकरण, शत्रुविजय, शान्तिव्यवस्था, आदि की विवेचना है।

चतुर्दश अधिकरण में शत्रुओं की हत्या आदि के दंड के विधान पर प्रकाश डाला गया है।

पञ्चदश अध्याय– पञ्चदश अध्याय तन्त्रयुक्त अध्याय है जिसकी पूर्ण रूपेण विवेचना की गई है।

उपसंहार– *अब न चलेगा राष्ट्रप्रेम का गर्हित सौदा।*
यह अभिनव चाणक्य न फलने देगा विष का पौधा।।
–अटलबिहारी वाजपेयी।

आज देश को राष्ट्रभक्ति, मातृ भक्ति की अत्यन्त आवश्यकता है। दुर्भाग्य से भारत में आज हर चीज राजनीति, व्यक्तिगत, स्वार्थ, असमानता, संघर्ष, देशद्रोहियों का बोल–बाला, सार्वजनिक सम्पति का विनाश, भ्रष्टाचार आदि सारे देश में व्यापकरूप से फैले हुए है। **(शेष पृष्ठ–80 पर..)**

ISSN 2278 - 0327

भारतीय चिन्तन परम्परा में ज्ञान का स्वरूप

प्रवीण कुमार
सहायक आचार्य
माडर्न कॉलेज ऑफ एज्यूकेशन
विष्णुनगर, गोहाना, सोनीपत, हरियाणा

मानवजीवन का आधार ही ज्ञान है। ज्ञान ही है, जो मानव तथा पशु-पक्षियों में अन्तर स्थापित करता है। ज्ञान के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए अलग-अलग काल खण्ड में अलग-अलग परिभाषाएँ दी गई, कभी ज्ञान को विद्या, कभी शिक्षा तो कभी *Knowledge* आदि शब्दों से परिभाषित किया गया। वस्तुत: विद् (ज्ञाने) धातु से निष्पन्न होने के नाते विद्या और ज्ञान ये दोनों समानार्थक माने जाते हैं।

प्रकृति ज्ञान का प्रमुख स्त्रोत है एवं प्रथम स्त्रोत है प्रत्येक मनुष्य जन्म से पूर्व एवं जन्म के पश्चात् ज्ञान प्राप्त करता है। जैसे- अभिमन्यु ने चक्रव्यहू तोड़कर अन्दर जाना अपनी माता के गर्भ से ही सीखा था। इसी प्रकार से जीवन की प्रत्येक परिस्थितियों में व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार प्रकृति से सीखता है। जैसे- फलदार वृक्ष सदैव झुका रहता है कभी भी वह पतझड़ की तरह खोखला हो कर तन के नहीं रहता। हमेशा पंछियों को छाया देता रहता है। सूर्य ब्रह्माण्ड का चक्कर लगाता है। पृथ्वी सूर्य का चक्कर लगाती है। चन्द्रमा पृथ्वी की परिक्रमा करता है। ये सारी क्रियाएँ स्वत: होती हैं, और उसी से दिन रात का होना और मौसम का बनना तथा इस प्रकार से प्रकृति अपने नियमों का पालन करती है और उनसे हम सीखते है कि- किस प्रकार से अपना जीवन ठीक से चला सकेगें। हमारे आस-पास के सभी पेड़ पौधे, नदी, तालाब तथा पर्वत, पठार, मैदान सभी से हम दिन-रात सीखते रहते हैं। सीखने की यह प्रक्रिया प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष दोनों ही रूप में हो सकती है। और इन्हीं से हम अपना ज्ञानार्जन करते रहते हैं इस प्रकार से प्रकृति हमें सिखाती है और हम सीखते हैं।

प्राक् काल में सभी सांसारिक दु:खों से विमुक्ति का आधार ही विद्या को माना जाता था- 'सा विद्या या विमुक्तये' अर्थात् जिसके द्वारा हम रोग, शोक, द्वेष, पाप, दीनता, दासता, गरीबी, बेकारी, अज्ञान, अभाव, दुर्गुण तथा कुसंस्कारादि की दासता से मुक्ति प्राप्त कर सकें वही विद्या है। ऐसा तभी संभव है, जब हमें सत्य और नश्वरता का ज्ञान हो। इसी लिए ज्ञान को ही जीवन के सर्वविध पुरुषार्थों का आधार माना गया है-

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वात् धनमाप्नोति धनात् धर्मं तत: सुखम्।।

शास्त्रों में कहा गया है कि ज्ञानवान् मनुष्य संसार में सदैव देदीप्यमान होता रहता है। यहाँ यह स्पष्ट हो रहा है कि संसार के बुद्धिजीवियों को जैसे-जैसे ज्ञान की महत्ता पता चली वैसे-वैसे पारलोक से इह लोक तक ज्ञान के विशिष्टता का वर्णन आरम्भ हुआ। यथा-

विद्याविनयोपेतो हरति न चेतांसि कस्य मनुजस्य।
कांचनमणिसंयोगो नो जनयति कस्य लोचनानन्दम्।।

उसी प्रकार-

रूपयौवन-सम्पन्ना विशाल-कुलसम्भवा।
विद्याहीना न शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुका:।।

इस अर्थ की पुष्टि आचार्य भर्तृहरि द्वारा उल्लिखित सुभाषित भी करता है। यथा-

आहार-निद्रा-भय-मैथुनञ्च समान्यमेतत् पशुभिर्नराणां।
विद्या हि तेषामधिको विशेषो विद्या विहीना: पशुभिस्समाना:।

अर्थात् कर्तव्याकर्तव्य का यदि अवबोध नहीं हो तो मानव और पशु में कोई खास फर्क नहीं है। इस अर्थ में विद्या और ज्ञान समानार्थक हुए। ज्ञान ही मानव और पशु में विभेद का एक मात्र कारक है। ज्ञान किसी भी विषय को पूर्ण रूप से समझना, उसका पूरा अनुभव करना तथा समय आने पर उसका उचित तरीके से प्रयोग करना है। ज्ञान एक विश्वास है जिसे सत्य के रूप में स्वीकार किया गया है। ज्ञान बहुमूल्य रत्नों से भी महँगी चीज मानी जाती है जिसको कोई भी चोर चुरा नहीं सकता। ज्ञान ही एक ऐसी चीज है जिसके लिए किसी व्यक्ति को चिंतित नहीं होना पड़ता कि इसे कोई चुरा लेगा। क्यूंकि किसी व्यक्ति का ज्ञान चुराने के लिए खुद के पास ज्ञान चाहिए। ज्ञान हर प्रकार से

अर्जित किया जा सकता है चाहे वो सुनकर हो या देखकर, समझकर हो या अनुभवों से।

सूचना शब्द को उन तथ्यों के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो किसी व्यक्ति द्वारा सीखे गए हैं। एक उदाहरण के लिए, उस छात्र के परिस्थितियों की कल्पना करें जो एक परीक्षा के लिए अध्ययन करता है। परीक्षा उत्तीर्ण करने के लिए बहुत सारे तथ्यों सीखना स्वाभाविक है। हालांकि, बहुत सारी जानकारी संग्रहीत करने से यह गारंटी नहीं मिलती है कि एक व्यक्ति जानकार है। इसके अलावा, यह ध्यान रखना दिलचस्प है कि 'सूचना' शब्द अक्सर 'पर' और 'के बारे में' के विचार करता है, जैसे- 1.उन्हें मामले के बारे में कुछ जानकारी मिली।

2.क्या आपको इस विषय पर कोई जानकारी है?

उपर्युक्त दोनों वाक्यों में, 'सूचना' शब्द संचार के माध्यम से ज्ञात होने वाली 'वस्तु' का अर्थ बताता है। हम विभिन्न स्रोतों के माध्यम से जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। ये किताबें, समाचार पत्र, इंटरनेट आदि हो सकते हैं। आज, हम सूचनाओं से भरी दुनिया में रहते हैं और जानकारी हासिल करने के लिए कई तरह के स्रोत भी रखते हैं। एक व्यक्ति को एक निश्चित विषय के बारे में बहुत सारी जानकारी हो सकती हैं, लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि व्यक्ति उपलब्ध जानकारी के आधार पर ही सिर्फ निर्णय ले सकता है। जब तक कि उसके पास आवश्यक अनुभव न हो। इसे ज्ञान की भूमिका के माध्यम से समझा जा सकता है। हमें ध्यान में रखना चाहिए, किसी भी आवश्यक जानकारी एक व्यक्ति को एक अच्छा निर्णय लेने में सहायता कर सकती है क्योंकि वह सभी संभावनाओं से अवगत है।

ज्ञान को किसी व्यक्ति के अनुभव द्वारा प्राप्त जागरूकता तथ्य के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। यह किसी विषय की परिचितता को संदर्भित करता है। जैसे हम बाजार से सामान लेने जाते हैं तो हमें विविध वस्तुओं के मूल्य घटते-बढ़ते दिखाई देते हैं। यह जानकारी सूचना है। किन्तु घटने-बढ़ने मूल्यों का कारण ज्ञात होना ही ज्ञान है। यह भी ध्यान रखना दिलचस्प है कि 'ज्ञान' शब्द का अक्सर दो परिस्थितियों में होता है-

1.उसे विषय का अच्छा ज्ञान है।

2.क्या आपको इसका कोई ज्ञान है?

दोनों वाक्यों में 'ज्ञान' शब्द का उपयोग किसी विषय या तथ्य से संबंधित अनुभवात्मक परिचितता या विशेषज्ञता का सुझाव देता है। कभी-कभी 'ज्ञान' शब्द का उपयोग किसी व्यक्ति की धारणा की सीमा या सूचना को जानने के लिए किया जाता है क्योंकि वाक्य 'उसके ज्ञान में नहीं है'। इस वाक्य में, 'ज्ञान' शब्द के उपयोग से पता चलता है कि सच्चाई व्यक्ति के ज्ञान या समझ के दायरे में नहीं है। इसलिए, 'ज्ञान' शब्द का उपयोग कभी-कभी 'समझ' के अर्थ में किया जाता है। यह हमेशा सच है कि ज्ञान केवल अनुभव से प्राप्त होता है जबकि सूचना संचार द्वारा प्राप्त की जाती है। इस प्रकार से हम कह सकते हैं कि- सूचना एक संप्रेषणीय विचार या ऐसी किसी भी वस्तु को संदर्भित करती है, जिसे बताया जाता है। जबकि ज्ञान एक ऐसी वस्तु या परिप्रेक्ष्य है, जो अनुभव द्वारा, पढ़ने और अवलोकन के माध्यम से प्राप्त की जाती है। शायद यही कारण है कि व्यक्ति की सर्वोच्च पराकाष्ठा का आधार ज्ञान को कहा गया है। आचार्य भर्तृहरि लिखते हैं-

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं, प्रच्छन्नगुप्तं धनम्,
विद्या भोगकरी यश: सुखकरी विद्या गुरूणां गुरु:।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने, विद्या परं दैवतम्,
विद्या राजसु पूजिता न च धनं विद्या विहीन: पशु:।।

शिक्षा शब्द भी इस ज्ञान के इर्द-गीर्द घूमता हुआ नजर आता है। चूँकि शिक्षा का एक स्वरूप शिक्षण और प्रशिक्षण की ओर भी अग्रसर होता है, अत: ज्ञान और शिक्षण इन दोनों में थोड़ा सा फर्क है। व्यक्ति जीवन के विविध परिस्थितियों में सभी श्रोतों से सूचनाओं का संग्रह करता है, फिर इन सूचनाओं का वर्गीकरण व विश्लेषण करते हुए प्रायोगिक जगत् में बहुधा परिभाषित करता है।

ज्ञान का सम्प्रत्यय-

शिक्षणाधिगम की प्रक्रिया में ज्ञाता अर्थात् शिक्षक अपने दीर्घकालिक अनुभवों के माध्यम से छात्रों के मनो-मस्तिष्क को प्रभावित करता है, तब इस प्रक्रिया को हम ज्ञान प्रदान करने की प्रक्रिया कहते हैं। इसलिए हमें जानना आवश्यक होता है कि हम ज्ञान के किस स्वरूप का उपयोग कर रहे हैं, कैसे हम अधिगमार्थी को यथार्थ ज्ञान से परिचित करावें। क्या हम जो ज्ञान उसे दे रहे हैं वह पूर्ण यथार्थ ज्ञान है? सत्यता से पूर्ण है? यह सब हम जानते है एवं समझते है क्या इन सिद्धान्तों की जानकारी शिक्षक को होना अति आवश्यक है। शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य ज्ञान प्रदान करना है, तथा जो भी तथ्य हम पढ़ाते हैं, वह सत्य पर आधारित है। सत्य और ज्ञान दोनों एक दूसरे से जुड़े हुए हैं दोनों में कोई अंतर नहीं है। शाश्वत सत्य ही ज्ञान है। समाज के लिए ज्ञान ही शिक्षा है। सभी प्राचीन ऋषि-मुनियों जिस सत्य का प्रथमतया साक्षात्कार किया वही ज्ञान है। फिर उन्होंने उसका प्रचार-प्रसार किया इस प्रकार से ज्ञान की उपयोगिता शिक्षा ही सिद्ध करती है।

ज्ञान की दूसरी अवधारणा है कि- ज्ञान सूक्ष्म है, या स्थूल है। यह बात हम अध्यापक के द्वारा विद्यार्थियों को अध्ययन कराते समय शिक्षक एवं छात्र के मन-मस्तिष्क में ज्ञान सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहता है। दूसरी ओर पुस्तकों में जो भाषा लिखी है वह ज्ञान स्थूल है। एक उदाहरण के द्वारा हम समझ सकते हैं- जैसे पानी में नमक डालने पर जो नमक के सूक्ष्म कण हैं वे घुल जाते है और जो स्थूल कण होते हैं वे दिखाई देते रहते हैं, ठीक उसी प्रकार से यह ज्ञान पुस्तकीय ज्ञान होता है ज्ञान के दो पक्ष है- प्रत्यक्ष ज्ञान और परोक्ष ज्ञान।

प्रत्यक्ष ज्ञान मनुष्य अपनी ज्ञानेन्द्रियों से अनुभव के द्वारा प्राप्त करता है। परोक्ष ज्ञान हमें दूसरों से कथनों या पुस्तकों द्वारा प्राप्त होता है। शिक्षा में दोनों प्रकार के ज्ञान का महत्व है। ज्ञान केवल अनुभूति भाग है यह हम एक ग्लोब के द्वारा समझ सकते है। यदि हम सिर्फ ग्लोब को देखते है तो हमें उसका रंग, रूप, आकार और कुछ रेखाएँ खिंची हुई दिखाई देती हैं। किन्तु यदि हम इसी ग्लोब को एक को ब्रह्माण्ड के रूप में देखते हैं तो वह हमें इस पृथ्वी का आकार तथा सतह एवं उसका पूर्ण स्वरूप दिखाई देता है। इस प्रकार से हम ज्ञान के कई स्तरों को पाते हैं, और विभिन्न प्रकार से मनोमस्तिष्क में उसे सक्रियता पूर्वक ग्रहण करते हैं। तथा अपने वैयक्तिक विशिष्टता के अनुरूप अनुभव, चिन्तन तथा तर्क के माध्यम से प्राप्त करते है।

हमारे यहां पुरूषार्थ चतुष्टय में धर्म में भी अर्थ, काम, मोक्ष समाहित है। अर्थ में भी धर्म, काम एवं मोक्ष शामिल है। इसी तरह काम में भी धर्म, अर्थ, मोक्ष शामिल है। और मोक्ष में भी धर्म, अर्थ काम समाहित है। ऐसा मोक्ष कालजयी नहीं हो सकता, जिसमें पुरुषार्थ चतुष्टय न हो। यदि आने वाली पीढ़ियां इससे जुड़ती हैं तो बहुत सारी समस्याओं का समाधान वे स्वत: कर लेंगी, उनको किसी बड़े कानून की, बड़े विधान की या सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता कम से कम पड़ेगी। यही नहीं, जो इस दर्शन, दृष्टि और विचार के आधार पर खड़े हैं, वे न केवल अपना निर्माण करेंगे बल्कि अपने से जुड़े हुये प्राणियों और सृष्टि के शेष हिस्सों का भी संरक्षण और संवर्धन करेंगे। तब यह सम्पूर्ण प्रकृति, मनुष्य जाति का संवर्धन और संरक्षण भी सुनिश्चित करेगी। तब जा कर कहा जा सकेगा- *धर्मो रक्षति रक्षित:।*

शिक्षा की स्वायत्तता, स्वतंत्रता और संप्रभुता से आशय उस शिक्षा के ज्ञान और व्यवस्था से है जो न केवल मनुष्य के मस्तिष्क बल्कि उनके हृदय का भी परिमार्जन करती है। यह वही शिक्षा कर सकती है, जो हमारे राष्ट्रीय जीवन-मूल्यों के मूल में प्रतिष्ठित हो। इसलिए यह आवश्यक हो उठा कि हम भारत के इस दर्शन, दृष्टि और विचार को समझें, जिसके आधार पर हमारा शिक्षा का विचार, हमारा ज्ञान का विचार, हमारा पुरूषार्थ चतुष्टय-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का विचार हमारे जीवन का आधार था। इसी के कारण न केवल हम अपनी बल्कि सम्पूर्ण मानवता की रक्षा के लिये प्रतिबद्ध रहे। इसीलिए कहा गया है कि-

मातेव रक्षति पितेव हिते नियुक्ते,
कान्तेव चापि रमयत्यपनीय खेदम्।
लक्ष्मीं तनोति वितनोति च दिक्षु कीर्तिम्,
किं-किं न साधयति कल्पलतेव विद्या।।

आज की समस्याओं, वातावरण को लेकर चिंतित होना स्वाभाविक है। पर इस वास्तविकता से भी मूँह नहीं मोड़ा जा सकता है कि हर समाज के सामने हर समय अपने-अपने तरह की समस्याएं और चुनौतियां आती रही हैं। लेकिन अगर हमने इन समस्याओं और चुनौतियों से निपटने के लिए अपने दर्शन, दृष्टि, विचार अर्थात् जीवन मूल्यों के अनुकूल हल निकाला तो अवश्य ही वह अग्रिम पीढ़ी के लिए आदर्श के रूप में प्रस्तुत होगा।

इस दृष्टि से विचार किया जाय तो यह तथ्य और सत्य हाथ लगा कि हमारे ऋषियों ने अपनी आध्यात्मिक-साधना और तपस्या के आधार पर सृष्टि का निर्माण परमात्मा के निर्गुण, निराकार बह्म के स्वरूप में ''एकोऽहम्'' के विचार से किया। इसी विचार से सृष्टि को जन्म दिया। इसीलिये भारतीय दर्शन, विचार और दृष्टि यह मानती है कि यह संपूर्ण सृष्टि परमात्मा का ही स्वरूप है। चूंकि यह सम्पूर्ण सृष्टि परमात्मा का ही स्वरूप है, इसीलिए हमारे भारतीय दर्शन ने प्रतिपादित किया-''वसुधैव कुटुबंकम्'' अर्थात् यह सम्पूर्ण वसुधा ही हमारा परिवार है। जब सम्पूर्ण वसुधा ही हमारा परिवार है। जब पूरा विश्व हमारा परिवार है तो हमारी जिम्मेदारी बनती है कि हम सबको प्रसन्न रखें। तभी तो कहा गया है-

''सर्वे भवन्तु सुखिन:, सर्वे सन्तु निरामया:।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दु:ख भाग् भवेत्।।''

भारतीय गौरवशाली चिन्तन परम्परा न केवल मानव मात्र के कल्याण के लिए ही अग्रसर होती है, अपितु जब उसे ज्ञान होता है कि यह समस्त चराचर जगत् उसी परमपिता परमेश्वर की कृति है तब वह समझ पाता है कि- उसकी सीमाओं में केवल मनुष्य नहीं है। केवल प्राणी नहीं है। अपितु प्रकृति और पुरुष के अनोखे संयोग से प्रादुर्भूत समस्त जगत् ही अपना परिवार है। तब वह एका-एक कह उठता है-

माता च पार्वती देवी पिता देवो महेश्वरः।
बान्धवाः शिवभक्ताश्च स्वदेशो भुवनत्रयम्॥

भारतीय चिंतन परम्परा के आधार पर हमारे ऋषियों ने यह प्रतिपादित किया कि यह सम्पूर्ण धरती ही नहीं, आकाश और पाताल भी हमारे स्वदेश का ही स्वरूप हैं। जो सकारात्मक सोच में लगे हैं, जो मंगल कामना करते हैं, वे सभी लोग आपस में बन्धु और बान्धव हैं। हमारी प्रार्थना है सम्पूर्ण विश्व की रक्षा हो। हमने कभी यह नहीं कहा कि जो हम कर रहे हैं वही अन्तिम सत्य है, जो हम कह रहे हैं वह भी सत्य हो सकता है, जो दूसरा कह रहा है वह भी सत्य हो सकता है और हो सकता है जो तीसरा व्यक्ति कर रहा है, वह हम दोनों से अधिक सही हो। इसलिये हमारे ऋषियों ने कहा–

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरितासउद्भिदः।

समाज में अनेक प्रकार के चिन्तन, साथ-साथ चलने के कारण, मतभेद स्वभाविक हैं, परन्तु मतभेदों के साथ-साथ एक ही तरीका है। परस्पर विचार-विमर्श। यह संवाद की भूमि है। शास्त्रार्थ की भूमि है। जहां हारने वाला, जीतने वाले को अपना शत्रु नहीं मानता था। वह कहता था कि मुझे सत्य का ज्ञान नहीं था, आज आपने मुझे सत्य का ज्ञान कराया और इसलिये मैं, आज से आपका अनुयायी हुआ।

आज समाज में जिस तरह का संकट हैं, व्यक्तियों के बीच टकराव है, समूहों के बीच टकराव है, राष्ट्रों के बीच टकराव है। मनुष्य और प्रकृति के बीच टकराव है। अगर इन सारे टकरावों और इनकी पृष्ठभूमि पर विचार करें तो मुझे लगता है कि एकमात्र विकल्प भारतीय चिन्तन परम्परा का आश्रयण।

(पृष्ठ 76 का शेष.....)

इस वैश्विक महामारी से निजात पाने के लिए कौटिलीय अर्थशास्त्र का संदेश एक ऐसा कवच है कि देश का प्रत्येक नागरिक अपने अन्दर इसे पिरो ले तो निश्चित ही राष्ट्रियभावना को अमलीजामा पहनाया जा सकता है।

वास्तव में कौटिलीय अर्थशास्त्र समसमायिक समय में ऐसा मृत्युंजय दिव्यग्रन्थ है कि इसके प्रत्येक अक्षर को आत्मसात् कर लिया जाए तो यह केवल हमारा पथ ही प्रकाशित नहीं करेगा वरन् कर्तव्य पथ से विचलित भूले भटके मानव को नवीन मार्ग भी दिखलाने में समर्थ है।

अतः विश्वास के साथ कह सकते हैं कि कौटिलीय अर्थशास्त्र आज भी उतना ही प्रासंगिक और उपयोगी है जितना कि नन्दविनाश काल के समय मे था। यह नाटक चाणक्य की चन्द्रगुप्त के प्रति शुभकामनाएं और नन्दशासन का उन्मूलन करने में अभिषिक्त एवं प्रजा के प्रति उसकी कल्याणमूलक सामूहिक अभिलाषाएं प्रकारान्तर में राष्ट्रिय भावना के रूप में आभासित होने लगती है। आशा है यह लघु-शोध-पत्र अवश्य ही महत्पूर्ण एवं प्रेरणाप्रद होगा।

निष्कर्षतः कालिदास का यह श्लोक स्मरण करना चाहती हूँ।

आ परितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः।।[13]

अर्थात् जब तक पाठकगण मेरे इस शोध-पत्र से सन्तुष्ट नहीं हो जाते तब तक मैं कैसे आसश्वस्त हो सकती हूँ?

सन्दर्भ सूची-

1. ऋग्वेद मंडल 1, सूक्त 89, मंत्र 8
2. कौटिल्य प्रकरण, पृ0 180, तन्त्रयुक्तयः ।
3. महाभारत, उद्योगपर्व, 72/23,24 4. महाभारत, शान्तिपर्व, 8/18
5. बालवृद्धव्यसन्यनाथांश्च राजा विभृयात् स्त्रियमप्रजातां प्रजातायाश्चपुत्रान्। कौटिल्य, 1-12-26
6. प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम् ।
   नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम् ।।
   कौटिल्य, 1/19/34 7. गीता, 18/45
8. वही 718/45
9. कौटिलीय अर्थशास्त्र 15/1/73
10. मालविकाग्निमित्रम्, कालिदास 7
11. राजतरंगिणी, प्रमितरंग, 7
12. कामन्दक-नीतिशास्त्र- श्लोक संख्या 6।
13. अभिज्ञानशाकुन्तलम् -1/2

।। इति शुभम् ।।

ISSN 2278 - 0327

पृथिवीसूक्त में प्रतिपादित पृथिवी - संरक्षण एवं प्रार्थनाएँ

डॉ. सुशीला कुमारी
सहायक आचार्या
लेडी श्रीराम महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सारांश

अथर्ववेद के 12वें काण्ड का प्रथम सूक्त 'पृथिवीसूक्त' कहलाता है। यह सूक्त अनेक दृष्टियों से विश्व साहित्य की अनुपम निधि है। इस सूक्त के अनुसार भूमि अथवा पृथिवी चराचर जगत् का आश्रय स्थल है, पोषण स्थल है, वर्धन स्थल है। अत: पुरुषार्थ के रूप में पृथिवी का संरक्षण ही मानव का प्रथम कर्तव्य है। जिसमें कहीं सत्य, ऋत, संकल्प, तप, ज्ञान, त्याग जैसे विशिष्ट गुणों को धारण करके भी पृथिवी को संरक्षित करने को कहा गया है तो कहीं मातृवत् इस उदात भाव के साथ भूमि को संरक्षित करने का कथन किया गया है।

साथ में ही इस पत्र में यह भी उल्लेख किया गया है कि किस प्रकार मानव अंत: व बाह्य विकास के लिए जल, अन्न, धन, विस्तृत लोक, समृद्धि, आंतरिक व्यक्तित्व की प्रखरता, कृतज्ञता, कल्याण, दीर्घायु तथा समरसता की प्रार्थना करता है।

मुख्य शब्द- प्रार्थना, सत्य, ऋत, ध्रुवा, समरसता।

सर्वप्राचीन ग्रन्थ वेद विश्व-ज्ञान का अक्षय कोष है क्योंकि मानव जीवन के लिए उपयोगी समस्त विद्याओं का समावेश इसमें हुआ है। चारों वेदों में प्रत्येक वेद की अपनी अलग विशिष्टता है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तो मुख्यत: आमुष्मिक फल स्वर्ग इत्यादि की प्राप्ति का मार्ग बतलाते हैं, अथर्ववेद एहिक और आमुष्मिक सभी प्रकार की सुख-समृद्धि का मार्ग बतलाता है जिसकी ओर सायणाचार्य ने अथर्ववेद की भाष्योपक्रमणिका में 'ऐहकामुष्मिक फलं चतुर्थं व्याचिकीर्षति' कह कर किया गया है, अत: अथर्ववेद का महत्वपूर्ण स्थान है।

अथर्ववेद के 12वें काण्ड का प्रथम सूक्त 'पृथिवीसूक्त' कहलाता है। इसे मातृभूमि का वैदिक-गीत, राष्ट्रीय गीत आदि नामों से अभिहित किया गया है। तथा इसकी वैज्ञानिक-भूगर्भ, वैज्ञानिक, दार्शनिक और आध्यात्मिक विविध व्याख्याएँ की गई है।

पृथिवी को केवल सूर्य की परिक्रमा वाला भूग्रह न मानकर रहस्यमयी रूप में प्रस्तुत किया गया है। अत: पृथिवी केवल भूमि का वाचक नहीं, अपितु उसके साथ-साथ अनेक चेतन तत्वों की भी परिचायक है जिससे अनेक प्रार्थनाएँ की गई हैं।

प्रार्थना से तात्पर्य याचना नहीं हैं। महर्षि दयानंद का अभिप्राय है कि 'अपने पूर्ण पुरुषार्थ के उपरांत उत्तम कर्मों की सिद्धि हेतु परमेश्वर से सहायता लेना प्रार्थना है', इससे संकेत मिलता है कि प्रार्थना में न तो याचना का भाव होना चाहिए न ही आलस्य और कर्मण्यता का, क्योंकि वेद स्वयं मनुष्य को पुरुषार्थ करने का उद्बोधन देते हैं। अत: इससे सिद्ध होता है कि बिना पुरुषार्थ के यदि प्रार्थना की जाती है तो वह निरर्थक है। पुरुषार्थ के बाद ही प्रार्थना सफल होती है।

पृथिवीसूक्त या भूमिसूक्त में वर्णित प्रार्थनाओं के संदर्भ में पुरुषार्थ के रूप में पृथिवी का संरक्षण ही मानव का प्रथम कर्तव्य है।

क्योंकि वर्तमान में भौतिक विकास की आधुनिक अवधारणाओं ने मनुष्य को प्रकृति से दूर कर दिया है। प्रकृति के तत्त्वों के प्रति दिव्यता का भाव उसके मन में रहा ही नहीं है। वह तो उस पर स्वामित्व जताने के प्रयत्न में लगा है। ऐसे में मनुष्य का स्वयं का अनिष्ट हो रहा है। उधर प्रकृति के प्रति अनात्मीयभाव उसके तत्त्वों को दूषित कर रहा है। इस दृष्टि से आज आवश्यकता है उस वैदिक चिन्तन के पुनरावृत्ति की जहाँ पर मनुष्य एवं प्रकृति के मध्य एक नितान्त आत्मीयता का भाव था। वह भाव स्वभावत: प्रकृति के शोषण व दोहन का नहीं, उसके इष्ट व कल्याण का था। पुन: मानव जिस स्थान पर रहता है, उसके आसपास का वातावरण, उसके जीवन को प्रभावित करने वाले पर्यावरण के प्रति सचेत ही नहीं अपितु रक्षण के लिए स्वाभाविक रूप से प्रेरित किया जाता है। यही वह चिन्तन है जिसमें पर्यावरण में समाहित सभी जीवनदायी तत्त्वों के प्रति देवत्वपूर्ण, कृतज्ञतापूर्ण, आत्मीयतापूर्ण तथा प्रेमपूर्ण

भाव प्रकट किया गया है।

जीवनदायी तत्त्वों की शुद्धता संरक्षित हो तो जीवन भी शुद्ध और सुरक्षित रहता है। जहाँ तक प्रकृति के प्रमुख अवयव भूमि अथवा पृथ्वी के संरक्षण का प्रश्न है वहाँ पर मनुष्य का पृथ्वी के साथ सबसे महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध दर्शाया गया है जिससे मानव कभी उऋण नहीं हो सकता। अथर्ववेद में कहा गया है–

माता भूमि: पुत्रोऽहं पृथिव्या:।।[1]

यहाँ पर स्वयं को पुत्र (संतान) कहकर पृथ्वी को माता के स्थान पर स्थापित करने से पुत्र के समस्त उत्तरदायित्वों के निर्वाह का रहस्य छिपा है। यह कथन यदि प्रत्येक मानव स्मरण रखे तो पृथ्वी के संरक्षण में वह सतत् योगदान दे सकता है। पृथ्वी द्वारा प्रदत्त संसाधनों का प्रयोग करने में संवेदना एवं सहानुभूति की अभिव्यक्ति होती है। ऋषि का उद्गार है कि हे भूमि! मैं तेरा उतना ही भाग खनन करूँ जो पुन: शीघ्र भर जाए तथा मैं न तो मेरे मर्मस्थल पर चोट करूँ और न तेरे हृदय को पीड़ित करूँ–

यत्ते भूमि विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु।
मात ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम्।।[2]

तात्पर्य यह कि हम जो बहुमूल्य पदार्थों की खोज में खनन कार्य करते हैं उस पर नियन्त्रण हो, पृथिवी से जो भी पदार्थ खनन करके प्राप्त करें, वे उत्तम रीति से प्राप्त करें। हम ऐसे कार्य ना करें जिनसे प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से पृथिवी का क्षरण हो। साथ ही जो द्वेषता के कारण पृथिवी का नाश करते हैं उनका नाश करने वाले हम बनें – *अन्यान्हन्मि दोधत:।*[3]

पृथिवी को मातृवत् सम्माननीया कहा है इसे प्रदूषण से मुक्त किया जाए, क्योंकि यह वृक्ष, ओषधियों और वनस्पतियों को उत्पन्न करके पर्यावरण की रक्षा करती है। धेनु की भांति पृथिवी का पालन, संरक्षण करने से यश, आयुष्य, श्री, संतति व प्रतिष्ठा की प्राप्ति होती है। लोभ, मात्सर्य, ईर्ष्या, छल–कपट जैसे दुर्भाव पर्यावरणीय क्षति के कारक हैं, इन दुष्ट भावों का परित्याग समाज की सर्वोपरि सेवा है। अत: सत्य, ऋत, संकल्प, तप, ज्ञान, त्याग जैसे विशिष्ट गुणों का होना बहुत आवश्यक हैं इन गुणों से ही पृथिवी को धारण अर्थात् संरक्षित कर सकते हैं–

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञ: पृथिवीं धारयन्ति।।[4]

पुन: मानव और पृथिवी के मध्य का सम्बन्ध प्रगाढ़ है। पृथिवी मनुष्यों को धारण करती है, पृथिवी पर ही विभिन्न खाद्य एवं पेय पदार्थ उत्पन्न होते हैं जिनका उपभोग करके मानव पुष्टि को प्राप्त करते हैं। अत: पृथिवी की रक्षा करने का दायित्व भी हम सभी मानवों का ही है–

विश्वस्वं मातरमोषधीनां ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम्।
शिवां स्योनामनु चरेम विश्वहा।।[5]

अर्थात् ओषधियों की माता, ध्रुवा, धर्म द्वारा धरी हुई, शिवा, सुखदा इस मातृभूमि की हम सदा सेवा करें। आज जब पर्यावरण की शुद्धता को सुनिश्चित करने के लिए वृक्षारोपण का अभियान चलाया जा रहा है, वैदिक ऋषियों की उस दूरदर्शिता को, उस ज्ञान को नहीं भुलाया जा सकता जिसमें वृक्षों की, नदी–नालों की और वनस्पतियों की मनुष्यों एवं दूसरे प्राणियों के लिए अनिवार्यता का स्पष्ट संकेत किया गया है। एक मन्त्र में यज्ञ और हवन से पर्यावरण के प्रदूषण को दूर करने की प्रक्रिया की ओर संकेत किया गया है– भूम्यां देवेभ्यो ददति यज्ञं हव्यमरंकृतम्।[5] अन्य मंत्र में भी उन्नति की कामना करते हुए कहा गया है–

सा नो भूमिर्वर्धयद्वर्धमाना।।[6]

अर्थात् वह बड़ी हुई पृथिवी हमको बढ़ाये। वह मातृभूमि हमें सभी प्रकार के धन–धान्य प्रदान कर समृद्धि युक्त तभी बना सकती है जब हम पृथिवी का संरक्षण करें। हम प्रकृति द्वारा प्रदत्त पदार्थों का संतुलित उपभोग करें। पृथिवी के पर्यावरण को प्रदूषण करके विनाश न करें। पृथिवी को सुखपूर्वक निवास करके ही हम उन्नति को प्राप्त कर सकते हैं–

त्वाभि निषीदेम भूमे।[7]

अथर्ववेद के अनुसार भूमि अथवा पृथिवी चराचर जगत् का आश्रय स्थल है, पोषण स्थल है, वर्धन स्थल है। अथर्ववेद में कहा गया है कि–

विश्वम्भरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी
वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निमिन्द्र ऋषभा द्रविणे नो दधातु।।[8]

अर्थात् सबका भरण पोषण करने वाली, सम्पत्ति की रक्षा करने वाली, दृढ़ आधार वाली, स्वर्ण को हृदय में रखने वाली, चलने वाली, सुख देने वाली, सब लोगों की हितकारी, अग्नि का पोषण करने वाली, इन्द्र को प्रधान मानने वाली यह भूमि धन बल के मध्य हमें सुरक्षित रखे।

पुन: कहा गया है कि–

यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा।
पृथिवीं विश्वधायसं धृतामच्छावदामसि।।[9]

अर्थात् जिस पर वृक्ष, वनस्पति सदा स्थिर रहते हैं, जो सबको धारण करने वाली है, उस धारण की गई पृथिवी की हम प्रशंसा करते हैं। यहां प्रशंसा में ही संरक्षण का भाव भी समाहित है।

वेद ही वह साहित्य है जहाँ पर पृथ्वी को माता का स्थान दिया गया है और प्रार्थना की गयी है कि वह सभी को सन्तान के

समान पुष्ट करें– *सा नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्रय मे पय:।*[10]

पुन: पृथिवीसूक्त ही है जहाँ पर ऋषियों की दूरदृष्टि संकेतित करती है कि यह पृथ्वी अनेक सम्पत्तियों से परिपूर्ण रही है किन्तु जिन्होंने भी पृथ्वी का अत्यधिक दोहन किया है उसका दुष्परिणाम उसे अवश्य मिला है–

अश्व इव रजो दुधुवे वि तान् जनान् य आक्षियन् पृथिवीं यादजायत् मन्द्राग्रेत्वरी भुवनस्य गोपा वनस्पतीनां गृभिरोषधीनाम्।।[11]

अर्थात् जब से यह उत्पन्न हुई तब से जिस प्रकार अश्व धूल को हिला देता है वैसे ही इस हर्षदायिनी, अग्रगामिनी, संसार की रक्षाकारिणी, वनस्पतियों और औषधियों की ग्रहणस्थली पृथ्वी ने उन मनुष्यों को हिला दिया है जिन्होंने इस पृथ्वी को सताया है। अत: पृथिवी की रक्षा करने का दायित्व भी हम सभी मानवों का ही है। पृथिवी सूक्त में वर्णित प्रार्थनाएं निम्न हैं –

विस्तृत लोक की प्रार्थना –

पृथिवी सूक्त के प्रथम मन्त्र में पृथिवी से प्रार्थना की गई हैं की वह हमारे लिए विस्तृत क्षेत्र प्रदान करें। भारतीय संस्कृति के आधार स्तंभ 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना में यह दृष्टिगत होता है कि सभी प्राणी ऐक्य भाव से रहते हैं , लेकिन यह तभी संभव हो सकता है जब सभी प्राणियों के रहने के लिए विस्तृत स्थान हो। इसी भावना को अथर्वा ऋषि ने इस रूप में प्रकट किया है–

उरुं लोकं पृथिवी न: कृणोतु।[12]

जलतत्व की प्रार्थना –

जल जीवन के लिये आवश्यक तत्व है। अत: अन्य ग्रहों पर जीवन की खोज के लिए अन्तरिक्ष–वैज्ञानिक वायु के साथ–साथ जल की विधमानता के आधार पर जीवन की संभावना का अनुमान लगाते हैं। जल ओषधि वनस्पतियों का आधार है।

पृथिवी पर जल अनेक रूपों में विद्यमान है। इसी पृथिवी पर समुद्र हैं, नदियां हैं और वर्षादि के रूप में व्यापक जल है जिसके कारण खेतियां होती हैं और उससे सभी प्राणी प्रसन्न होते हैं। प्रसन्नता और सुख का मूलाधार जल है। अत: प्रार्थना की गई है–

सा नो भूमि: पूर्वपेये दधातु।[13]

अर्थात् वह मातृभूमि हमें उत्कृष्ट और प्रथम पेय प्रदान करें। निघंटु में पय के तीन अर्थ किए हैं–जल, अन्न और दुग्ध, लेकिन यहां पर पय का अर्थ उत्कृष्ट जल से है। इसके अन्य मन्त्रों में भी जलतत्व की प्रार्थना की गई हैं–

सा नो मधु प्रियं दुहाम् ...[14]

सा नो भूमिभूरिधारा पयो दुहाम् ...[15]

अर्थात् इस पृथिवी पर अनेक प्रकार के जल हैं, छोटे–बड़े तालाब हैं, झीलें हैं इन सभी जलाशयों के जल से हमारी मातृभूमि सदा हरी–भरी रहती हैं। उसमें भांति–भांति के अन्न उपजते हैं। अत: वह पृथिवी पूर्ण पेय पदार्थ करें।

अन्य मन्त्र में भी प्रार्थना की गई है कि पृथिवी पर पर्वत हिम से ढके हुए हों। वृष्टि का ही एक रूप हिम हैं। हिमवान् पर्वत भी नदियों को वर्षभर जल देकर वनों और खेती का भी पोषण करते हैं –

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तो अरण्यं ते पृथिवी स्योनमस्तु।[16]

पुन: इसी जलतत्व की प्रार्थना की गई है कि हमारे शरीर की शुद्धि के लिए निर्मल जल बहे साथ ही यह कहा गया है कि ये तभी सम्भव जब हम अपने नाशक व्यवहार को अप्रिय की श्रेणी में रखते हैं। हम अपने पवित्र आचरण से अपने आपको पुनीत बनायें तब शुद्ध जल को पीकर अपने स्वास्थ्य की रक्षा और स्वस्थ रहते हैं –

शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु .....[17]

पर्जन्य और मातृभूमि का मनुष्यों के साथ रागात्मक संबन्ध स्थापित करते हुए जलतत्त्व की प्रार्थना की गई –

नो भूमिर्विसृजतां माता पुत्राय मे पय:।[18]

अर्थात् भूमि माता उसी प्रकार बहुत रूपों में जल प्रवाहित करे जैसे माता अपने पुत्र को दूध देती हैं। पृथिवी को अन्नवती, शस्यश्यामला बनाने के लिए वर्षा आवश्यक हैं। पर्जन्य वर्षा करता हैं। अत: जहां पृथिवी को माता कहा गया हैं वहीं पर्जन्य को पिता कहा गया हैं। अत: प्रार्थना की गई हैं की वह पर्जन्य पिता हमें अन्नादि से पूर्ण करें–

पर्जन्य: पिता स उ न: पिपर्तु।।[19]

अन्न की प्रार्थना –

अन्न मनुष्य के जीवन के लिए आवश्यक हैं। रोटी, कपड़ा तथा मकान ये जो तीन मूलभूत आवश्यकतायें हैं इनमें भी अन्न का प्रथम स्थान है। चूँकी मातृभूमि अपने ऊपर रहने वाले प्राणियों का भरण पोषण करती है अत: प्रार्थना की गई कि मातृभूमि गायों और अन्न में पुष्टि को धारण करें। इन गायों के दूध, दही और घी के सेवन से हमारे शरीर और मस्तिष्क परिपुष्ट हो जायेगें–

सा नो भूमि गोष्वप्यन्ने दधातु।[20]

धन की प्रार्थना –

चूँकि पृथिवी हिरण्यवक्षा हैं अर्थात् उसके वक्षस्थल में हिरण्य हैं। वह भूमि सोने, चाँदी, लोहा, ताम्बा, हीरे सभी बहुमूल्य पदार्थो की खान है, अर्थात् सभी बहुमूल्य पदार्थ पृथिवी से प्राप्त होते हैं। अत: पृथिवी से धन प्रदान करने की प्रार्थना की गई हैं –

इन्द्र ऋषभा द्रविणे नो दधातु।[21]

इसी धन की कामना को अन्य मन्त्रों में भी स्पष्ट किया है–

सा नो भूमिरादिशतु यद्धनं कामयामहे।[22]

अर्थात् हे मातृभूमि! तू सब कुछ देने की शक्ति रखती हैं। इसलिए हम प्रजाजन तुझ से जब–जब जिस धन की कामना करें तू वह धन हमें सदा देती रहना। हमें धन का अभाव कभी क्लेषित न कर पावें। इसी भावना को प्रकट करते हुए कहा गया हैं–

निधिं विभ्रती बहुधा गुहा वसुमणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे।[23]

पुन: अन्य मन्त्र में धन की प्रार्थना करते हुए मातृभूमि से कहा गया है कि हे माँ! जैसे धेनु दूध देती हैं वैसे ही वह हजारों तरह के धन प्रदान करती करें–

सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहं ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती।[24]

यह भी स्पष्ट है कि प्रार्थनाओं में न केवल बाह्य विकास की कामना की गयी है बल्कि अन्त: विकास की भी प्रार्थना की गयी हैं।

आन्तरिक व्यक्तित्व की प्रखरता हेतु प्रार्थना –

श्रेष्ठ व्यक्तित्व के द्वारा ही मनुष्य की सर्वत्र प्रतिष्ठा होती है। अत: मातृभूमि से प्रार्थना है–

भगं वर्च: पृथिवी जो दधातु।[25]

अथ उक्षतु वर्चसा।[26]

अथ उक्षतु वर्चसा।[27]

अर्थात् हे माँ तू हमें ऐश्वर्य तथा तेज प्रदान करो। हमें ऐश्वर्य और तेज से समृद्धिशाली और तेजस्वि बनाओ जिससे हमारा कोई निरादर न कर सके। ऐश्वर्य से तात्पर्य केवल धनादि रूप ऐश्वर्य ही नहीं है बल्कि *'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशस: श्रिय: ज्ञान वैरागयोश्चैव षरणां भग इतीरणां'* अर्थात् सब प्रकार के धनादि भौतिक ऐश्वर्य को, धर्म को, यश को, शोभा, ज्ञान और वैराग्य को प्रदान करें।

अन्य मन्त्र में भी कान्ति और बल देने की प्रार्थना की गई हैं –

सा नो भूमिस्तिवषिं बलं राष्ट्रे दधातुत्तमे।[28]

अर्थात् भूतोत्पादिका पृथिवी हमें कान्ति और बल युक्त बनावें। बल, शक्ति और सामर्थ्य से युक्त होने पर हम सभी प्रकार की बुराइयों और विघ्नों को सामना करने वाले बन सकें। इसी भावना को दूसरे मन्त्र में प्रकट किया है –

त्विषीमन्तं संशितं मा कृणोतु।[29]

अर्थात् हे पृथिवी माता! हमें सदा प्रदीप्त तेज और तीक्ष्णता प्रदान करो जिससे स्वतन्त्रता, स्वाभिमान और सम्मान से जीवन यापन हो सके।

साथ ही उच्च व्यक्तित्व के लिए कल्याणवर्धिनी बुद्धि, तेज, श्री, और भूति की प्रार्थना की गई है–

मेधां विश्वे देवाश्च सं ददु:।[30]

श्रीयां मा धेहि भूतयाम् ।।[31]

अर्थात् अग्नि, सूर्य तथा जल के गुणों का चिंतन कर अपनी बुद्धि का विकास हो। सूर्य और अग्नि जिस प्रकार चमकते हैं उसी प्रकार हम अपनी बुद्धियों को भी प्रकाशवती बनावें, सत्य–असत्य का विवेचन करने वाली हमारी मेधा शक्ति हो। साथ ही हमारी कल्याण को बढ़ाने वाली बुद्धि सुस्थिर रहे।

समृद्धि हेतु प्रार्थना –

भारतीय संस्कृति की *'सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया:'* अवधारणा रही है अत: व्यक्तिगत कल्याण की कामना न करके सर्वहित –सर्वसमृद्धि की कामना की जाती है। यह भावना प्रस्तुत मंत्र में भी दृष्टिगत होती है अत: प्रजाजन का पोषण करने वाली भूमि माता से प्रार्थना की गई है–

सा नो भूमि धरा पयो दुहाम्[32]

ऋतवस्ते वीहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम्।[33]

इसी भावना को अग्र मंत्र में प्रस्तुत किया गया है–

आशामाशां रण्यां न: कृणोतु।[34]

अर्थात् मातृभूमि प्रत्येक दिशा को रमणीय बनाये। हमारी मातृभूमि की सदा ऐसी कृपा दृष्टि रहे जिससे प्रत्येक प्रदेश सौन्दर्य से हरा भरा हो। भौतिक व आध्यात्मिक दोनों प्रकार की रमणीयता की गङ्गा निरंतर प्रवाहित होती रहे। पृथ्वी यदि प्रत्येक दिशा में उन्नति प्रदान करेगी तो समृद्धि बनी रहेगी।

शत्रुनाश सम्बन्धी प्रार्थना –

सर्वसमभाव तथा प्रसन्नता का वातावरण तभी बन सकता है जब कोई किसी से वैर न रखे, ये तभी संभव है जब विघ्नकारी तत्वों का नाश हो अत: पृथिवी से प्रार्थना की गई है–

भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरी।[35]

अर्थात् शत्रुओं का नाश करने वाली मातृभूमि उनका नाश करें। द्वेष के कारण मनुष्य प्राकृतिक संपदा का दुरुपयोग करता हुआ पर्यावरण को दूषित करता है। अत: प्राकृतिक, नैतिक तथा सामाजिक व्यवस्थाओं का नाश करने वाले जो असामाजिक तत्व है उनका नाश हो।

समरसता की प्रार्थना –

वाणी मनुष्य का सबसे बड़ा आभूषण है। मनुष्य मधुर वाणी से एक दूसरे से आकृष्ट होते हैं। मधुर वचनों से ही मधुर एवं उत्तम व्यवहार बनता है। मधुर व्यवहार के कारण मनुष्य एक दूसरे की

सहायता करने के लिए सदा आकृष्ट होते हैं। अत: भूत और भविष्य की पत्नी पृथिवी से प्रार्थना की गई है–

वाचो मधु पृथिवी धेहि मह्यम्।[36]

चारु वदेम ते।[37]

सुदृढ़ व्यक्तित्व और द्वेष समाप्ति की प्रार्थना –

कल्याण को देने वाली पृथिवी से तेज की प्रार्थना की गई है–

सा नो भूमे प्र रोचय हिरण्यस्येव संदृशि मा नो द्विक्षत कश्चन।[38]

अर्थात् हे हमारी मातृभूमि तू हमें हिरण्य के संदर्शन में सुवर्ण के रूप में चमका दे। सुवर्ण की सी मनोहर कान्ति वाला, सुवर्ण का सा तेजस्वी बना दे। अर्थात् सब श्रेष्ठताओं, सब गुणों का आगार बना दे। तेज से सुदृढ़ व्यक्तित्व का निर्माण होता हैं। साथ ही हमारा दूसरों कर प्रति व्यवहार और आचरण ऐसा उदार, ऐसी सहानुभूति से पूर्ण तथा ऐसा मधुर बना दे कि हम से कोई भी द्वेष न करें।

दीर्घायु की प्रार्थना –

मातृभूमि अर्थात् अन्नादि को देने वाली पृथिवी माता से प्रार्थना की है कि वह प्रत्येक प्रजाजन को लम्बी आयु प्रदान करें यह तभी संभव है जब हम शुद्ध, नीरोग, पुष्टिप्रद बने हुए शुद्ध अन्न, जल तथा वायु का सेवन करें अत: कामना की गई है–

सा नो भूमि: प्राणमायुर्दधातु जरदष्टिं मा पृथिवी कृणोतु।[39]

पुन: दीर्घायु में भी सदा ज्ञान का संग्रह करते रहें और ज्ञान प्राप्त करते हुए अपना सुदीर्घ जीवन प्रसन्नतापूर्वक व्यतीत करें –

दीर्घं न आयु: प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृत: स्याम।[40]

कल्याण की उदात्त भावना की प्रार्थना–

यह वसुन्धरा हमारे में वैयक्तिक या वर्ग विशेष के स्वार्थ को दूरकर सर्वजन कल्याण की भावना का प्रेषण करें। कल्याण की भावना से सभी मनुष्यों में मैत्री–भाव, ऐक्य तथा मधुरता का व्यवहार का वर्धन होगा जिससे प्रत्येक प्राणी सुख एवं प्रसन्नता के साथ इस भूमि पर निवास करेगा, अत: प्रार्थना है–

सा नो दधातु भद्रया प्रिये धामनि धामनि।।[41]

इस प्रकार स्पष्ट है कि भूमिसूक्त की प्रार्थनाओं में भी व्यष्टि का भाव न होकर समष्टि का भाव है।

स्पष्ट है कि पृथिवीसूक्त में प्रतिपादित संरक्षण धर्म कतिपय सिद्धान्तों एवं नियमों का पालन मात्र नहीं अपितु यह एक जीवन पद्धति निर्देशित है जिसमें मनुष्य और प्रकृति का स्वस्थ सम्बन्ध स्थापित करने की शिक्षा है। प्रकृति की देन का सम्यक् उपयोग करने का निर्देश है जिससे प्रकृति के सभी अवयवों का संतुलन बना रहे।

अत: वर्तमान में जिस प्रकार से पर्यावरण के तत्वों का क्षरण हो रहा है तो आवश्यकता है प्रकृति के प्रत्येक तत्व के सौन्दर्य को आत्मसात् कर उसकी विराटता की अनुभूति कर, उसके कण–कण के संगीत को श्रवण कर उसका संरक्षण करें ताकि हम प्रार्थनाओं में वर्णित पृथिवी प्रदत्त सभी संसाधनों का उपभोग करके प्रसन्नतापूर्वक जीवित रह सकें।

सन्दर्भ सूची –

1. अथर्व– 12/1/12
2. अथर्व– 12/1/35
3. अथर्व– 12/1/58
4. अथर्व– 12/1/1
5. अथर्व– 12/1/22
6. अथर्व. 12/1/13
7. अथर्व. 12/1/29
8. अथर्व– 12/1/6
9. अथर्व– 12/1/27
10. अथर्व– 12/1/10
11. अथर्व– 12/1/57
12. अथर्व .12/1/1
13. अथर्व.12/1/3
14. अथर्व. 12/1/7
15. अथर्व 12/1/7
16. अथर्व.12/1/11
17. अथर्व . 12/2/30
18. अथर्व.12/2/10
19. अथर्व 12/1/12
20. अथर्व.12/2/4
21. अथर्व 12/1/6
22. अथर्व.12/1/4
23. अथर्व.12/1/44
24. अथर्व.12/1/45
25. अथर्व.12/1/5
26. अथर्व.12/1/5
27. अर्थव.12/1/9
28. अथर्व.12/1/7
29. अथर्व.12/1/12
30. अथर्व.12/1/53
31. अथर्व. 12/1/63
32. अथर्व.12/1/9
33. अथर्व.12/1/36
34. अथर्व.12/1/43
35. अथर्व.12/1/14
36. अथर्व. 12/1/16
37. अथर्व. 12/1/56
38. अथर्व. 12/1/17
39. अथर्व.12/1/22
40. अथर्व.12/1/61
41. अथर्व.12/1/52

ISSN 2278 - 0327

बालमुकुंद गुप्त की हिन्दी पत्रकारिता

डॉ. अमित कुमार पाण्डेय
हिन्दी विभाग,जनता वैदिक कॉलेज
बड़ौत,बागपत,मेरठ विश्वविद्यालय

डॉ. संजय कुमार
हिन्दी विभाग, रामलाल आनंद कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

'जनता का अधिवक्ता' कहे जाने वाले समाचार-पत्रों का मुख्य कार्य शासक और शासित के बीच संपर्क स्थापित करना है। इस कार्य को सम्पादित करने की मुख्य जिम्मेदारी पत्रकार-बंधुओ के कंधों पर होती है। समाचार-संगठनों में संपादक-उपसंपादक की भूमिका द्वारपालों जैसी है।[1] जबकि पत्रकार एक निष्पक्ष न्यायाधीश के समान होता है, जो विवादों की गुत्थियां सुलझाकर देश को स्पष्ट रूप से अपनी राय देता है और भूले भटकों को राह-ए-रास्ते लाता है।[2] नवजागरण काल में हिंदी क्षेत्र में इस जिम्मेदारी का बखूबी निर्वहन किया बाबू भारतेंदु हरिश्चन्द जी ने।

जहाँ तक बालमुकुंद गुप्त की नवजागरण कालीन पत्रकारिता का सवाल है तो हम कह सकते है कि उन्होंने तत्कालीन परिस्थितियों के मार्ग के अनुरूप हिन्दी भाषा की एक ऐसी पत्रकारिता की बुनियाद रखी जिसका प्रमुख स्वर राष्ट्रीय और सामाजिक था तथा जो भारतेंदु हरिश्चन्द द्वारा शुरू की गई पत्रकारिता की ही एक सशक्त कड़ी साबित हुई। जो राष्ट्रीय हितों के साथ प्रतिबद्ध एवं सामाजित हितों को अपने में समाहित किये हुए है। हिन्दी पत्रकारिता को देशोन्मुख बनाना गुप्त जी का कार्य था।

गुप्त जी की हिंदी पत्रकारिता की शुरुआत कालाकांकर (जिला प्रतापगढ़) से राजा रामपाल सिंह के प्रकाशन में निकलने वाले समाचार पत्र 'हिंदोस्थान' के संपादक मण्डल के साथ जुड़ने से हुआ। संपादक मण्डल के अन्य सदस्य थे, मदनमोहन मालवीय, प्रताप नारायण मिश्र, गोपाल राम गहमरी, शीतला प्रसाद इत्यादि। 'हिंदोस्थान' हिन्दी भाषी क्षेत्र से निकलने वाला हिन्दी का पहला समाचार पत्र था।[3] इस काल की उपलब्ध एवं प्रकाशित सामग्री के आधार पर हम गुप्त जी की पत्रकार कला की दो महत्त्वपूर्ण विशेषताओं को रेखांकित कर सकते हैं। विरोधी लेखकों को तर्क एवं प्रमाणों के आधार पर निरुत्तर कर देना और लेखन में प्रखर देशभक्ति की मिशाल पेश करना। पहली विशेषता उनके द्वारा लिखे 'मैं सुकवि हूँ' लेख में दिखती है जहां पर उन्होंने अम्बिकादत्त व्यास के द्वारा 'पीयूष प्रवाह' पत्र में राजा राम पाल सिंह के विधवा-विवाह के समर्थन में की गई बात की आलोचना का उत्तर देकर उनको निरुत्तर कर दिया था। यह घटना गुप्त जी के ओजस्विनी लेखन का प्रमाण प्रस्तुत करता है।

लेखन में प्रखर देश भक्ति का भाव अंग्रेजों के खिलाफ कड़ा लिखने के कारण हिंदोस्थान के संपादकीय विभाग से पृथक किये जाने वाली घटना में स्पष्ट दिखलाई देता।[4] यह घटना मालिक के स्वेच्छाचार का पत्रकार की आजादी में हस्तक्षेप के प्रमाणित तथ्य का भी संकेत है।

'अंग्रेजों के खिलाफ कड़ा लिखना और अपने इस नीति में कोई परिवर्तन न करने के कारण संबंधित पत्र से अगल होना'- यह इस बात को प्रमुखता से व्यक्त करता है कि गुप्त जी एक निर्भीक पत्रकार थे, सम्पादकीय दायित्वों का दृढ़तापूर्वक निर्वहन करते थे, किसी के पक्ष-विपक्ष में किसी भी प्रलोभन अथवा लालच से कुछ भी लिखना उनका स्वभाव न था। वह अपने संपादक के कार्यों में पत्रकारिता के मूल्यों को प्रमुखता देते थे। अवसर पर उसूल को वरीयता देने के आग्रही थे।[5] इस दौर की पत्रकारिता के सन्दर्भ में कृष्ण विहारी मिश्र लिखते है कि-'हिन्दी पत्रकारिता की सम्पादन-चर्या के आदि चरण पर ही बालमुकुंद गुप्त ने जोखिम भरी देश-प्रीति का प्रमाण दिया था। कालाकांकर के 'हिंदोस्थान' की सेवा से वे इस अपराध के आधार पर विमुक्त कर दिए गए थे कि 'सरकार के खिलाफ बहुत कड़ा' लिखते थे। पराधीन भारत की हिन्दी पत्रकारिता का यह एक प्रेरक तथ्य है।[6]

गुप्त जी की हिन्दी पत्रकारिता का दूसरा चरण सन् 1893 ईसवी से शुरू होता है, कलकत्ता से निकलने वाले पत्र 'हिन्दी बंगवासी' के संपादकीय विभाग में जुड़ने के साथ। गुप्त जी के जुड़ते ही इस पत्र के ग्राहकों की संख्या में अप्रत्याशित वृद्धि हुई, जिसके दो प्रमुख कारण थे-लोक प्रचलित भाषा में पत्र का सम्पादन एवं समय पर प्रकाशन और यह ही दो मुख्य ऐसे कारण थे जिससे हिन्दी पत्रकारिता का विकास अवरुद्ध था। चूंकि उस

समय की हिन्दी पत्रकारिता खबरों के प्रकाशन के लिए अंग्रेजी भाषा के समाचार पत्रों पर निर्भर रहती थी, इससे कोई भी घटना अथवा समाचार पहले पहल अंग्रेजी में प्रकाशित होकर तब हिन्दी भाषा के समाचार पत्रों तक पहचता था। इससे खबरे बासी हो जाती थी, उनमें जीवंतता एवं ताजगी नहीं रह जाती थी। इसलिए हिन्दी समाचार लेखन में खबरे विश्वसनीय एवं तरोताज़ा हो, यह आवश्यक था। जिसके लिए गुप्त जी ने ग्राउंड रिपोर्टिंग को महत्त्व दिया। इस प्रकार प्रत्येक घटना का विवरण विश्वसनीयता के साथ तथा शीघ्र से अति शीघ्र देने का प्रयास करना, उनकी पत्रकारिता का प्रमुख गुण था।

गुप्त जी की डायरी से पता चलता है कि वो भूकम्प पीड़ितों की खबर लेने के लिए अपनी मंडली के साथ घटना स्थल गए थे।[7] इस प्रकार महानगर के सामान्य से सामान्य समाचार ही नही, अपितु युद्ध के समाचारों को भी अपने पत्र में स्थान देते थे। शर्त यह थी कि घटित घटनास्थल पर सम्पादकीय टीम के साथ पहुँचकर एवं यथार्थ का अवलोकन कर रिपोर्ट तैयार करना। इसी समय 'मंडेलभगिनी' का अनुबाद,'रत्नावली' नाटिका का अनुवाद, 'हरिदासी' नामक पुस्तक एवं अनेकों निबंधात्मक लेख लिखकर एक और टकसाली हिन्दी का रूप निर्मित किये तो दूसरी तरफ हिंदी पत्रकारिता का रूप स्थिर किया।

गुप्त जी की पत्रकारिता का सबसे महत्वपूर्ण एवं अंतिम चरण 1899 ईसवी से कलकत्ता से ही निकलने वाले समाचार पत्र 'भारतमित्र' के सम्पादक के रूप में प्रारंभ होता है। 'भारतमित्र' ने ही पत्रकार गुप्तजी की विशिष्ट हिन्दी शैलीकार की छवि लोक में उजागर की थी। उनकी पत्रकारीय प्रतिभा, सम्पादन-क्षमता, अभिव्यक्ति-कौशल, भावों की प्रवणता लिए सम्प्रेषण-क्षमता और भाषगत-बनावट निखर कर भारतमित्र में ही सामने आई।[8] हिन्दी पत्रकारिता की समृद्धि के प्रतिमान के रूप में 'भारतमित्र' हिन्दी जगत में चर्चित एवं स्वीकृत हो गया। भारतमित्र एवं सम्पादक बालमुकुंद गुप्त एक-दूसरे के पर्याय बन गए। यह युग राजनीति चेतना और सांस्कृतिक पुनर्जागरण का था। गुप्त जी को अपने युग की राजनीति स्थिति का सम्यक ज्ञान था। भारतमित्र समाचार पत्र में प्रकाशित लेखों के माध्यम से गुप्त जी अग्नि-वर्षक की भांति नज़र आ रहे थे। इस रूप में वह लाला लाजपत राय, संपादक अठावले, तिलक और सरदार अजित सिंह के मार्ग का अनुसरण कर बड़ी दृढ़ता एवं साहस के साथ आगे बढ़ रहे थे। उन्होंने भारतमित्र पत्र में लिखे लेखों में भारत-विरोधी नीति के लिए कर्जन, मिंटो, मार्ली तथा सर सैयद अहमद खां की बड़ी निर्भीकता, स्पष्टवादिता और साहस के साथ आलोचना की। उन्होंने लार्ड कर्जन द्वारा ब्रिटिश-शासन का दबदबा प्रदर्शित करने हेतु अकाल एवं भुखमरी के वक्त दिल्ली दरबार के आयोजन एवं कलकत्ता में विक्टोरिया मेमोरियल हॉल बनवाने को वायसराय के कर्तव्य पालन की हीनता से जोड़कर देखा।[9] विदाई के समय पूरी दृढ़ता एवं निर्भीकता से कर्जन के शासनकाल को दु:खांत नाटक बताना उस समय के संपादक धर्म का सर्वश्रेष्ठ निदर्शन है।[10] मिस्टर मार्ली के नाम 'निश्चित विषय' शीषक निबंध भविष्य द्रष्टा तथा वर्तमान के सजग विचारक के रूप में सामने आते है और यह कहते हैं कि भारत के विषय मे उदार-अनुदानर दोनों दलों की सोच एक समान अर्थात् शोषण की है।[11] बंगाल के गवर्नर फुलर जंग की क्रूरताओं को शाइस्तखा के शासन में अंग्रेजों के समक्ष उपस्थित की गई चुनौतियों की याद ताजा कराकर व्यंग्य की फब्तियां कसी गई है।[12]

इन प्रसंगों से गुप्त जी में एक श्रेष्ठ पत्रकार के गुण के रूप में जो बातें निकलकर सामने आती हैं वह है-शासक की प्रत्येक गतिविधि के प्रति सजगता, उनकी त्रुटियों का पर्दाफाश करना और समाज हित को महत्त्व देते हुए उसकी तरफ उनका ध्यान दिलाना। उनकी उग्र राष्ट्रीयता ने हिन्दी पत्रकारिता को बांग्ला तथा मराठी भाषा की पत्रकारिता के समकक्ष खड़ा कर दिया था। यह कहना यहाँ पर गलत न होगा कि राष्ट्रीय आंदोलन के प्रवर्तन का जो कार्य केसरी, वंदे मातरम, संध्या, युगांतर तथा अमृत बाजार पत्रिका कर रहे थे, वही कार्य हिन्दी में भारत मित्र ने किया।

एक युग विधायक पत्रकार के रूप में गुप्त जी 'साहित्यिक व्यक्तियों, दार्शनिक तथा विचारकों, इतिहास की विभूतियों तथा पत्र-संपादक एवं मालिकों पर लेख लिखकर'[13] अपने पत्र को प्रतिनिधि बनाते है, उनको लोकप्रिय बनाने की योजना करते है और उसमें सफल होते है। उनके इस कदम से अर्थात् प्रत्येक क्षेत्र के ख्यातिलब्ध व्यक्तियों पर लिखने से, पाठकों का ज्ञानवर्धन भी होता है और साथ ही पत्र भी प्रतिनिधि-पत्र बनाने की दिशा में भी अग्रसर होता है।

गुप्तजी की पत्रकारिता की एक और विशेषता यह है कि किसी भी बाद-विवाद से निरुत्साहित न होकर सतर्क जवाब देना। उनके द्वारा लिखे गए भाषा संबंधी लेखों में उनकी पत्रकारिता कला का यह रूप दिखलाई पड़ता है। 'अन स्थिरता' एवं 'शेष' शब्दों को लेकर जो बहस उस समय छिड़ी उसमे गुप्त जी सतर्क समाधन प्रस्तुत कर विरोधियों को चित्त कर दिया था। चाहे महावीर प्रसाद द्विवेदी हो अथवा श्री वेंकटेश्वर समाचार पत्र के

मालिक। गुप्तजी ने निर्भीकतापूर्वक द्विवेदी जी के सुधार के सामने प्रश्नवाचक चिह्न लगाकर भाषा सुधार का मानक रूप रखा।इ स संदर्भ में डॉ रामविलास शर्मा लिखते है कि-'आचार्य द्विवेदी पहले वैयाकरण और भाषा सुधारक थे, पीछे और कुछ। इसलिए वे हर जगह भाषा-सुधार नहीं पाये, कहीं-कहीं सुधारने में बिगाड़ भी गए है।....गुप्त जी ने भाषा को सुधारा ही नहीं, व्याकरण की गलतियां ही दुरुस्त नहीं की, उसमे वह रवानगी भी पैदा की जी द्विवेदी जी के यहाँ नहीं मिलती। उनके हाथ में हिन्दी गद्य इतना निखरकर कलापूर्ण हो गया कि उसको पढ़ने में कविता-सा आनन्द आता है। वह शब्दों की ध्वनि, उनके वजन, उनकी व्यंजना-शक्ति के बहुत बड़े पारखी थे।[14] इस प्रकार यह वाद-विवाद हिन्दी पत्रकारिता के भाषगत संस्कार का बहुचर्चित अध्याय है।

अपने हिन्दी पत्रकार-जीवन के प्राथमिक चरण 'हिंदोस्थान' से लेकर अंतिम चरण 'भारतमित्र' तक गुप्त जी ने उत्कृष्ट देशभक्ति, ईमानदारी, स्पष्टवादिता, पत्र की प्रगति के साथ निष्ठा, कुशासन की आलोचना, जनता के हितों की रक्षा, नवीन लेखकों को प्रोत्साहन, लोक के साथ प्रतिबद्ध साहित्य का संरक्षण एवं संवर्धन, सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार, राष्ट्रभाषा के विकास में योगदान, राष्ट्रभाषा के रूप-विधायकों तथा उन्नायकों का समादर, न्यायालय की भाषा के प्रश्न पर संतुलित विचार, देश-विदेश के श्रेष्ठ व्यक्तियों के विषय मे लेखन, समय की उग्र राजनीति का पोषण और हिन्दी गद्य के कलात्मक विकास में योगदान आदि का साहसपूर्ण ढंग से निर्वहन किया।

अस्तु, यह कहना उचित होगा कि गुप्त जी ने अपनी व्यंगात्मक शैली से हिन्दी पत्रकारिता को गौरव प्रदान किया। लोकरुचि के साथ भारतमित्र को जोड़कर ग्राहक की संख्या बढ़ाई, नवीन लेखकों को प्रोत्साहित करके साहित्य धर्म के साथ पत्रकारिता को आबद्ध किया और उसको युग यथार्थ का अधिवक्ता बनाया। हिन्दी मे श्रेष्ठ पत्रकारिता के जनक कहलाए। एक श्रेष्ठ पत्रकार के रूप में उनका मूल्यांकन करते हुए 'विशाल भारत' समाचार-पत्र के पूर्व संपादक श्री राम शर्मा लिखते है कि-'स्वर्गीय गुप्त जी ने जीवनभर सच्चाई, ईमानदारी और साफगोई की धूनी रमाकर गुटबंदी, ढोंग, अत्याचार और अनैतिकता के विरुद्ध अनवरत संग्राम किया। अपने स्वाभिमानिनी तथा अपने आदर्श की खातिर उन्होंने यह कभी नही किया कि 'हिन्दी बंगवासी' अथवा 'भारतमित्र' के कार्यालय में पहुंचने से पहले अपने विचार स्वातंत्र्य तथा आदर्श को खूटी पर टाँगा हो और संचालकों की ख़ातिर जैसी आज्ञा हुई, वैसा लिखा हो।[15] वे हिन्दी के उन्नायक पत्रकार एवं हिन्दी-हित-चिंतक साधक थे।[16] मदन गोपाल उन्हें सही अर्थों में आधुनिक हिन्दी पत्रकारिता के जन्मदाता मानते है।[17]

सन्दर्भ-सूची-

1. अभिव्यक्ति और माध्यम, पत्रकारिता के विविध आयाम, एन.सी.ई.आर.टी,2020-21,पृष्ठ-37
2. बालमुकुंद गुप्त स्मारक ग्रंथ: (संपादक) झाबरमल शर्मा और बनारसीदास चतुर्वेदी, गुप्त स्मारक ग्रंथ प्रकाशन समिति, कलकत्ता, 1950, पृष्ठ-419
3. आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास, डॉ बच्चन सिंह, लोकभारती, 15 ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-1, भूमिका
4. बालमुकुंद गुप्त स्मारक ग्रंथ :(संपादक)झाबरमल शर्मा और बनारसीदास चतुर्वेदी, गुप्त स्मारक ग्रंथ प्रकाशन समिति,कलकत्ता,1950,पृष्ठ-33
5. पत्रकारिता के युग निर्माता: बालमुकुंद गुप्त,कृष्ण विहारी मिश्र,प्रभात प्रकाशन दिल्ली,भूमिका,आरम्भिक पृष्ठ ।
6. वही...
7. बालमुकुंद गुप्त ग्रन्थावली, नत्थन सिंह,हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, पृष्ठ-346
8. पत्रकारिता के युग निर्माता : बालमुकुंद गुप्त, कृष्ण विहारी मिश्र, प्रभात प्रकाशन दिल्ली,भूमिका, आरम्भिक पृष्ठ
9. बालमुकुंद गुप्त के श्रेष्ठ निबंध, सत्यप्रकाश मिश्र, लोकभारती,15 ए, महात्मा गांधी, इलाहाबाद,पृष्ठ-204
10. शिवशम्भु के चिठे, विजेन्द्र स्नातक, दिग्दर्शन चरण जैन,ऋषभचरन जैन एवम् संतति, दरियागंज, दिल्ली,भूमिका, पृष्ठ-13
11. बालमुकुंद गुप्त ग्रन्थावली, नत्थन सिंह, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, पृष्ठ-346
12. बालमुकुंद गुप्त के श्रेष्ठ निबंध, सत्यप्रकाश मिश्र, लोकभारती, 15 ए, महात्मा गांधी,इलाहाबाद,पृष्ठ-204-05
13. बालमुकुंद गुप्त ग्रन्थावली, नत्थन सिंह, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, पृष्ठ-346
14. लोक जीवन और साहित्य,डॉ रामविलास शर्मा, पृष्ठ-165-66
15. बालमुकुंद गुप्त: जीवन और साहित्य, नत्थन सिंह,विनोद पुस्तक मंदिर,आगरा,1959
16. बालमुकुंद गुप्त: एक मूल्यांकन, कल्याणमल लोढ़ा और विष्णुकांत शास्त्री, कलकत्ता,1865,पृष्ठ-46
17. भारतीय साहित्य निर्माता-बालमुकुंद गुप्त, मदन गोपाल, साहित्य अकादमी, पृष्ठ-07

ISSN 2278 - 0327

न्याय-वैशेषिकदर्शन में समाधि विचार विवेचन

किशोर कुमार
शोधछात्र, न्यायविभाग
केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय
श्रीरघुनाथकीर्ति परिसर, देवप्रयाग

सामान्यपरिचय -

'दृश्यते अनेनेति दर्शनम्' इस करणार्थक व्युत्पत्ति के अनुसार, इसके (शास्त्र रूप चक्षु के) द्वारा देखा जाता है (प्रत्यक्ष किया जाता है), जिसे (तत्त्व को), वह तत्त्वज्ञान का साधन भूत शास्त्र दर्शनशास्त्र कहलाता है। इसी तत्व ज्ञान की भिन्नता के आधार पर भारतीय वैदिक दर्शनों की गणना षड्दर्शनों के रूप में की जाती है। ये छह दर्शन- न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग तथा वेदान्त-मीमांसा के नाम से जाने जाते हैं।

तत्त्वसाक्षात्कार का कारण समाधि ही नहीं अपितु पूरी योग-प्रक्रिया सभी दर्शन स्वीकार करते हैं। वैदिक दर्शनों में योगाभ्यास के सन्दर्भ में योगदर्शन ही प्रमाणभूत है, जिसके कारण योगदर्शन के अतिरिक्त अन्य दर्शनों में समाधि विचार विशेष रूप से प्राप्त नहीं होता।

अत: प्रकृत में न्याय-वैशेषिक दर्शन में समाधि विचार पर एक दृष्टि प्रस्तुत है।

न्याय-वैशेषिकदर्शनम्

प्रतिपाद्य विषय के अनुसार न्याय व वैशेषिक दर्शनों में समानता होने से, दोनों का परस्पर विरोध नहीं है। जिस प्रकार महर्षि कणाद प्रणीत वैशेषिकदर्शन में पदार्थों का विवेचन मिलता है, उसी प्रकार महर्षि गौतम प्रणीत न्यायदर्शन षोडश पदार्थों का प्रतिपादन करता है। न्याय-वैशेषिक सम्प्रदाय विश्लेषणात्मक पद्धति आधारित हैं। न्यायसूत्र में प्रमाण, प्रमेयादि षोडश तत्त्वों के तत्त्वज्ञान से नि:श्रेयस की प्राप्ति होती है कहा गया है-

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजन-दृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्क-निर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्नि:श्रेयसाधिगम:॥[1]

नि:श्रेयस के कारणभूत तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए समाधि विशेष के अभ्यास का निर्देश किया गया है। दोष के निमित्तों के तत्त्वज्ञान से अहङ्कारनिवृत्ति के वर्णन के उपरान्त, किस प्रकार तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति होती है? वहाँ कहते हैं- *'समाधिविशेषाभ्यासात्'*[2] अर्थात् वह इन्द्रियों से प्रत्याहृत मानस प्रयत्न का आत्मा से संयोग *'तत्त्वबुभुत्साविशिष्ट'* है। ऐसे अभ्यास के होने पर इन्द्रियार्थों में बुद्धि उत्पन्न नहीं होती। जैसे कहा है- *'तदभ्यासवशात् तत्त्वबुद्धिरुत्पद्यते'*[3]।

भाष्यकार महर्षि वात्स्यायन ने समाधि का अर्थ स्पष्ट किया है कि तत्त्व की इच्छा धारक प्रयत्न द्वारा इन्द्रियों से मन को हटाकर धार्यमाण मन का आत्मा से संयोग समाधिविशेष है। *'स तु प्रत्याहृतस्येन्द्रियेभ्यो मनसो धारकेण प्रयत्नेन धार्यमाणस्यात्मना संयोगस्तत्त्वबुभुत्साविशिष्ट:'*[4]। वाचस्पति मिश्र के अनुसार समाधि के साथ 'विशेष' शब्द का प्रयोग सुप्तावस्थावस्थादि से भिन्न अवस्था को निर्देशित करने हेतु किया गया है। *'स खलु सुप्तावस्थायामस्तीत्यत उक्तं तत्त्वबुभुत्साविशिष्ट इति'*[5]।

तत्त्वज्ञान के लिए न्यायसूत्र में प्रयुक्त 'समाधि' में पूर्वजन्म का अभ्यास कारण है। उसके अभ्यास के लिए अरण्यादि एकान्त स्थान का निर्देश किया गया है। *'अरण्यगुहादिपुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेश:।'*[6] इस योगाभ्यास से उत्पन्न धर्म जन्मान्तर में भी रहता है, *'योगाभ्यासजनितो धर्म: जन्मान्तरेप्यनुवर्तते'*[7]।

न्याय सिद्धांत मुक्तावली में विकल्प रहित अवस्था को योग समाधि कहा है। न्याय सार में निर्विकल्पक को वस्तुरूप मात्र अवभासक कहा है। जैसा कि किसी को प्रथम बार देखने पर ज्ञान उत्पन्न होता है। विशेष्य विशेषण भाव सम्बन्ध के अभाव में वस्तुओं का स्वरूप ज्ञान होता है वही निर्विकल्पक कहलाता है। उसी प्रकार समाधि में भी वस्तु के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होता है जो किसी भी प्रकार के विशेषण से रहित होता है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि न्याय दर्शन के अनुसार समाधि केवल चित्त की एकाग्रता की अवस्था ही नहीं अपितु वह निर्विकल्पक ज्ञान की अवस्था है।

न्याय दर्शन में प्रत्यक्ष के दो भेद बताए गए हैं। पहला

सविकल्पक प्रत्यक्ष और दूसरा निर्विकल्पक प्रत्यक्ष। सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान में वस्तुओं की यत्किञ्चित विशेषणता भासित होती है, तथा निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान भी इंद्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है। परन्तु समाधि में स्थूल इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष नहीं होता है। समाधि में चित्त की एकाग्रता के अभ्यास से निर्विकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है।

न्याय मत में भी समाधि-सम्पदा से सम्पन्न ईश्वर होता है। पुरुषकर्म को ईश्वर सहायता देता है अर्थात् फल के लिए यत्न करते हुए पुरुष को ईश्वर फल देता है और जब फल नहीं देता है तो पुरुष का कर्म निष्फल होता है। सो ईश्वर से कराया हुआ होने के हेतु 'पुरुषकर्माभावे फलानिष्पत्ते:' यह अहेतु है (अर्थात् शरीर की उत्पत्ति में न केवल कर्म निमित्त हैं और न कर्मानपेक्ष ईश्वर कारण है। किन्तु कर्म सापेक्ष ईश्वर निमित्त कारण है, यह अभिप्राय है)। गुणों से विशिष्ट आत्मा विशेष है ईश्वर, आत्म-प्रकार से भिन्न उसका कोई और प्रकार नहीं बन सकता है। अधर्म, मिथ्याज्ञान, और प्रमाद से रहित तथा धर्म, ज्ञान और समाधि की संपदा से युक्त आत्मा विशेष है ईश्वर। ऐसे में वह ईश्वर किस प्रकार का है? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि वह आत्मप्रकार का है; किन्तु जीव आत्माओं में जो अधर्म, अज्ञान और प्रमाद आदि हैं इन गुणों से वह सर्वथा रहित और धर्म, ज्ञान आदि गुणों से युक्त आत्मविशेष है। अणिमा आदि आठ प्रकार के ऐश्वर्य उस धर्म समाधि के फल हैं। *'अधर्ममिथ्याज्ञानप्रमादहान्या धर्मज्ञान-समाधिसम्पदा च विशिष्टमात्मान्तरमीश्वर:। तस्य च धर्मसमाधि-फलमणिमाद्यष्टविधमैश्वर्यम्।'*[8]

न्याय सूत्र में समाधि का प्रयोग सामान्यतया एकाग्रता तथा ध्यान के ही अर्थ में किया गया है।

उदयनाचार्य ने स्मृतिग्रन्थ का उल्लेख किया है-

आगमानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च।
त्रिधा प्रकल्प्यन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम्॥[9]

वस्तुत: यह समाधि विशेष तो तत्वज्ञान का प्रत्यक्ष कारण है तथा इस समाधि के लिए आत्म शुद्धि या आत्मा संस्कार आवश्यक है। जिसके लिए यम नियम आदि आध्यात्मिक शास्त्रोक्त उपायों का अभ्यास नितांत आवश्यक है। न्याय सूत्र के भाष्यकार ने न्यायसूत्र में योगशास्त्र का उल्लेख होने के कारण पातंजल योग के अष्टांगों का उल्लेख कर दिया है। इनके अतिरिक्त एकाकिता, आहार संयम आदि उपायों का भी वात्सायन ने उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट होता है की न्याय दर्शन में समाधि के लिए आत्म शुद्धि को कारण माना है तथा आत्म शुद्धि के लिए उस समय में प्रचलित योगिक एवं आचार प्रक्रियाओं को महत्व दिया गया है। आत्म संयम, आचार-विचार सम्बन्धी प्रक्रियाएँ मोक्ष के प्रति प्रत्यक्ष कारण न होकर, ज्ञान का कारण है तथा ज्ञान मोक्ष का कारण होता है।

'कर्मभि: क्षालितान्त:करणस्यैव तु सूक्ष्मात्मतत्त्वज्ञानं युज्यते। .....सति चैवं कर्मभ्यो ज्ञानं ज्ञानान्मोक्ष इति क्रमसमुच्चय एव युज्यते॥'[10]

तत्वज्ञान के साथ-साथ समाधि के अभ्यास से अंतर्दृष्टि तथा अणिमा आदि आठ सिद्धियों की प्राप्ति भी होती है जिसे समाधि-संपत्ति तथा धर्म-समाधि का फल कहा गया है। अन्तर्दृष्टि को योगज प्रत्यक्ष भी कहा जाता है।

इससे यह निश्चय होता है कि न्याय सूत्र में यद्यपि समाधि का उल्लेख है किन्तु इससे समाधि का कोई स्पष्ट और विशिष्ट रूप दृष्टिगोचर नहीं होता है।

वैशेषिक नय में समाधि-

महर्षि कणाद प्रणीत वैशेषिकदर्शन न्यायदर्शन की तरह परमाणु के ज्ञान के लिए यौगिक प्रत्यक्ष की आवश्यकता को स्वीकार करता है। विशेषिक सूत्र में दो प्रकार के योगियों का उल्लेख मिलता है- समाहित तथा असामाहित अथवा युक्त और वियुक्त। वैशेषिक सूत्र तथा प्रशस्तपादभाष्य में समाहित - असमाहित युक्त - वियुक्त पदों का सामान्य अर्थ से भिन्न अर्थ ग्रहण किया गया है। समाहित से अभिप्राय योगाभ्यास करने वाले साधक से है तथा असमाहित से तात्पर्य उस सिद्ध पुरुष है जो योगाभ्यास कर चुका है। *'द्विविधास्तावद्योगिन: समाहितान्त:करणा ये युक्ता इत्यभिधीयन्ते, असमाहितान्त:करणाश्च ये वियुक्ता इत्यभिधीयन्ते। तत्र युक्ता: साक्षात्कर्तव्ये वस्तुन्यादरेण मनो निधाय निदिध्यासनवन्त:, तेषामात्मनि स्वात्मनि परात्मनि च ज्ञानमुत्पद्यते आत्मप्रत्यक्षमिति..... '*[11]

यहाँ समाहित शब्द सीमित एकाग्रता का बोधक शब्द है, अत: कहा कि युक्त योगियों को आत्ममनसंयोग से आत्म-विषयक प्रत्यक्ष होता है तथा सूक्ष्म से सूक्ष्म द्रव्य भी प्रत्यक्ष योग्य होता है, परन्तु यथा- *'अत्यन्तयोगाभ्यासोपचितधर्मातिशया असमाध्यवस्थिता अपि ये ऽतीन्द्रियं पश्यन्ति ते वियुक्ता'*[12] अर्थात् असमाहित अथवा वियुक्त योगी समाधि के विना ही आत्मसाक्षात्कार तथा द्रव्यों को प्रत्यक्ष करता है। वियुक्तयोगियों को आत्मा, मन, इन्द्रिय तथा पदार्थ के सन्निकर्ष से योगजन्य धर्म के सामर्थ्य से व्यवहित, सूक्ष्म व दूरस्थ पदार्थ का प्रत्यक्षज्ञान होता है। फलत: युक्तयोगी का योगज प्रत्यक्ष ज्ञान सीमित है। तथा वियुक्त योगी का असीमित।

'असमाहितान्त:करणा: असमाहितं समाधिरहितमन्त:करणं

येषां ते तथा। उपसंहृत: समापित: सफलीकृत: समाधिर्यैस्ते समाधे: फलं विविधा: सिद्धयस्ता येषामुत्पन्नास्तादृशा: ये युक्तास्तेषामपि आत्मनामन्येषां द्रव्याणां च प्रत्यक्षं भवतीति समुदितार्थ:। युञ्जानस्य प्रत्यक्षे ध्यानापेक्षा, युक्तस्य प्रत्यक्षे तु ध्यानात्मकसमाध्यपेक्षा नास्तीति भाव:।'

असमाहितान्त:करणा: में बहुवचन का प्रयोग समाधि के आलम्बनों को बताता है न की इसके भेदों को, क्योंकि वैशेषिकसूत्र में समाधि के भेदों का उल्लेख प्राप्त नहीं होता।

योगदर्शन में वर्णित सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात समाधि को न्याय कन्दलीकार ने युक्तानाम् पद के अन्तर्गत सम्प्रज्ञात समाधि को स्थापित कर सम्प्रज्ञात व असम्प्रज्ञात समाधि का वर्णन किया है।

वैशेषिक दर्शन में भी न्यायदर्शन की भाँति समाधि शब्द प्रयोग होने पर भी इसका स्पष्ट स्वरूप उपलब्ध नहीं होता यद्यपि न्याय की तरह ही तत्त्व ज्ञान के लिए योगजप्रत्यक्ष को स्वीकार किया है।

इससे ज्ञात होता है कि न्याय वैशेषिक सम्प्रदाय के अनुसार समाधि मन से परे की अवस्था नहीं है, जिसमें प्रत्येक वृत्ति का निरोध होता है, अपितु ज्ञातव्य विषय पर पूर्णरूपेण केन्द्रित ध्यान की स्थिति मात्र है।

सन्दर्भसूची -

1. न्याय सूत्रम् 1/1/1.
2. न्याय सूत्रम् 4/2/36
3. न्याय भाष्यम् 4/2/36.
4. न्याय भाष्यम् 4/2/36
5. तत्रैव
6. न्याय सूत्र- 4/2/40
7. तत्रैव न्याय.भा.
8. न्यायभाष्यम् 4/1/21
9. न्यायकुसुमाञ्जलि: 1-3
10. न्याय रत्नम्
11. वैशेषिकसूत्रोपस्कार: 9/1/11
12. न्यायकन्दली पृ.429

उपयुक्तग्रन्थ—

1. श्री गौतममुनिप्रणीतन्यायसूत्राणि, जोशीत्युपाह्वनागेशात्मज-दिगम्बरशास्त्रिणा संशोधितम्, प्रकाश- विनायक गणेश आपटे, आनन्दाश्रममुद्रणालय। सन् -1922.
2. श्रीमन्महामुनि गौतमप्रणीत न्यायसूत्र और न्यायभाष्य का भाषानुवाद, अनुवादक-राजाराम प्रोफेसर, डी.ए.वी.कॉलेज लाहौर, बाम्बै मैशीन प्रैस लाहौर। सन् 1921.
3. श्रीकणादमुनिप्रणीतम् वैशेषिकदर्शनम्। सूत्रोपस्कार-विवृतिटीका, भाष्य सहिता। व्यासप्रकान वाराणसी. प्रथम संस्करण-1913.
4. The Prashtapada Bhashya with commentary Nyayakandali of Sridhara. Edited by-Vindhyesvari Prasad Dvivedin, Sri Satguru publication. Second edition-1984.
5. श्रीमदुदयनाचार्यविरचित: न्यायकुसुमाञ्जलि:, प्रधानसम्पादक:- आ. हरेकृष्णशतपथी, सम्पादक: आ. का. इ. देवनाथ:, राष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्, तिरुपति:.2010
6. न्यायरत्नम्।
7. न्यायकन्दली।

ISSN 2278 - 0327

भारतीय शास्त्रपरम्परा और पशुपालन

प्रो. नीरज शर्मा
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर
neeraj.sanskrit@gmail.com

भारत का पशुपालन में संसार में प्रथम स्थान है। यहाँ संसार की सर्वाधिक पालतू पशुओं की संख्या पाई जाती है। 2002-03 की गणना के अनुसार भारत में 48.5 करोड़ पशु थे। भारत में विश्व की कुल संख्या के 15 प्रतिशत गाय-बैल तथा 57 प्रतिशत भैंसे से मिलती है। भारत की 19वीं पशुधन गणना 2012 में सम्पन्न हुई जिसके अनुसार पशुओं की कुल संख्या 512.05 मिलियन है जो विगत संख्या से 3.33 प्रतिशत कम रही। गाय-भैंस आदि दुधारु पशुओं की संख्या 118.59 मिलियन है। देश की कुल पशुसम्पदा का एक तिहाई भाग 6 राज्यों-मध्यप्रदेश (10.27%) उत्तरप्रदेश (10.24%) आन्ध्र प्रदेश (8.01%) राजस्थान (6.98%) पश्चिमी बंगाल (8.65%) महाराष्ट्र (8.11%) में है। शेष दो तिहाई पशु संपदा भारत के 22 राज्यों तथा केन्द्रशासित प्रदेशों में मौजूद हैं। गाय तथा बैल ग्रामीण भारतीय अर्थव्यवस्था तथा कृषि व्यवस्था की रीढ़ है। बैलों का उपयोग खेती में तथा गायों का दूध के लिए होता है। 2012 पशुगणना के अनुसार सर्वाधिक गोवंश मध्यप्रदेश (20.42%) में हैं। तत्पश्चात् उत्तरप्रदेश (10.1%) महाराष्ट्र (8.8%) ओड़ीसा (7.50%) तथा राजस्थान (5.86%) में सर्वाधिक गोवंश पाया जाता है।[1]

भारतीय संस्कृति में पशुधन तथा समाज का गहरा सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है। अनेक देवी-देवताओं के साथ उनका सम्बन्ध मानकर उनके प्रति सम्मान प्रकट किया जाता हैं। गाय का कृषि एवं पोषण के लिए सर्वाधिक उपयोग जानकर उसके पालन-पोषण आदि के लिए सम्पूर्ण ज्ञान-अनुशासन स्थापित हुए तथा शास्त्र में सम्बन्धित विधि-विधान निर्दिष्ट किये गये।

'*पश्यति इति पशु:*' निर्वचन के आधार पर व्यापक अर्थ में दर्शन शक्ति प्राप्त सभी प्राणी पशु हैं अथवा शतपथ ब्राह्मण के अनुसार प्रजापति द्वारा देखे जाने के कारण 'पशु' कहलाये-

यदपश्यत् तस्मादेते पशव: ।[2]

आकृति, रंगरूप एवं व्यवहार में समरूपता के आधार पर पशुओं को वर्गीकृत किया गया है। वैदिक साहित्य में द्विविध, त्रिविध, पंचविध तथा सप्तविध पशुओं का वर्णन प्राप्त होता है। द्विविध विभाजन में- ग्राम्य तथा आरण्य पशु आते हैं, त्रिविध में ग्राम्य, आरण्य तथा वायव्य पशु आते हैं-

पशूंस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्यान्ग्राम्याश्च ये ।[3]

अथर्ववेद में गाय, अश्व, पुरुष, अज तथा अवि (भेड़) ये पंचविध पशु कहे गये हैं-

तवेमे पञ्चपशवो विभक्ता गावो अश्वा: पुरुषा अजावय ।[4]

ऐतरेय ब्राह्मण में सात प्रकार के पशु कहे गये हैं- अज, अश्व, गाय, महिषी, वराही, हस्ती तथा अश्वतरी (खच्चर)।[5]

वैदिक साहित्य में पशुओं के विशिष्ट लक्षणों के आधार पर पार्थिव, जलीय, दिव्य, मारुत, भयंकर, आग्रेय, गन्धमय आदि अन्य अनेक प्रभेद किये गये हैं। सभ्यता के प्रारंभ के साथ ही पशुधन का महत्त्व समझा गया एवं पशुधन विकास तथा प्रबन्धन को व्यवस्थित रूप प्रदान किया गया। पशुपालन तथा कृषि का सम्बन्ध कृषि कर्म के प्रारंभिक दिन से ही चला आ रहा है। कृषि के साथ पशुपालन भी वार्त्ता का अंग रहा तथा विकसित सामाजिक अवस्था में यह आजीविका के महत्त्वपूर्ण स्रोत के रूप में पहचाना गया। प्राचीन काल से ही भारत में कृषि एवं पशुपालन का आर्थिक समृद्धि में सर्वाधिक योगदान रहा है। पशुधन समृद्धि प्राचीन भारत में आर्थिक समृद्धि के आकलन का मानदण्ड हो गया था अत: पशुओं के पालन-पोषण, प्रजनन, स्वास्थ्य आदि विषयों पर स्वतन्त्र ज्ञान का अनुशासन भी विकसित हुआ, जिसमें गो-आयुर्वेद, हस्त्यायुर्वेद, शालिहोत्र या अश्वायुर्वेद आदि विशिष्ट विषय पल्लवित हुये। भारत में पशुओं के बिना कृषि की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। शक्ति, उर्वरता, आदि कृषि आवश्यकताओं तथा आहार-पोषण आदि मानवीय आवश्यकताओं के संदर्भ में ग्रामीण भारत में आज भी पशुपालन जीवन के अनिवार्य अंग के रूप में व्याप्त है।

संस्कृत वाङ्मय के शास्त्रीय साहित्य में गोवंश का अतिविस्तृत स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। महर्षि पराशर कहते हैं कि खेती, गाय, व्यापार, स्त्री तथा राजकुल की देखभाल में तनिक भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये –

कृषिर्गावो वणिग् विद्या: स्त्रियो राजकुलानि च।
क्षणेनैकेन सीदन्ति मुहूर्त्तमनवेक्षणात्॥[6]

गायों की सेवा करने वाला, अपने खेतों पर जाने वाला, कृषि काल–बीजसुरक्षा आदि में सावधान निरालस्य कृषक ही फसलों से समृद्ध होता है, कभी दुख नहीं पाता है –

गोहित: क्षेत्रगामी च कालज्ञो बीजतत्पर:।
वितन्द्र: सर्वशस्याढ्य: कृषको नावसीदति॥[7]

पराशर कहते हैं कि खेती में लगे पशुओं को कभी पीड़ा नहीं पहुँचानी चाहिये। पशुओं को पीड़ा पहुँचा कर उगाई गई फसल भी घृणित होती है।[8] पशुओं के पालन–पोषण में पूर्ण सावधानी रखनी चाहिये। गोशाला या पशुघर पक्का बना हो, साफ–सुथरा हो, गोबर–रहित रहे अर्थात् गोशाला में वातावरण शुद्ध होना चाहिए।[9] गोवंश को पुष्टिकर आहार देना चाहिये। गुड़, जौ का आटा तथा अन्य पोषण पदार्थ खिलाने, सांय तथा प्रात: चराने से तथा धुंआ करने से पशु कभी दुखी नहीं होते–

गुडकैयवसैधूमैस्तथान्यैरपि पोषणै:।
वाहा:क्वचिन्न सीदन्ति सायं प्रातश्च चारणात्॥[10]

गोशाला के विषय में पराशर का मन्तव्य है कि वह पंचपदा (पांचपाद वाली) होनी चाहिये। ऐसा होने से गायों की वृद्धि होती है। सिंहस्थ सूर्य में निर्मित गोशाला गायों का नाश करती है अर्थात् शीघ्र संक्रामक हो जाती है–

पंचपदा तु गोशाला गवां वृद्धिकरी स्मृता।
सिंहगेहे कृता सैव गोनाशं कुरुते ध्रुवम्॥[11]

कांस्य धातु के पात्र, कांस्य बर्तन में भरा जल, गरम मांड, मछली का धोया पानी तथा रूई का शोधन गोशाला में रखना गायों के लिये विनाशकारी होता है। गोशाला में झाड़ू, मूसल, जूठन रखने तथा बकरियाँ बांधने से भी गायों का विनाश होता है। गोशाला में साफ–सफाई का विशेष ध्यान रहे। जिस गोशाला में गायों के मूत्र से ही गोबर साफ होता हो वहाँ गायों के कल्याण की वृद्धि की आशा नहीं करनी चाहिए, अर्थात् सदैव शुद्ध जल से गोशाला का फर्श साफ करते रहे–

कांस्यं कांस्योदकं चैव तप्तमण्डं झषोदकम्।
कार्पासशोधनं चैव गोस्थाने गोविनाशकृत्॥
संमार्जनी च मुसलमुच्छिष्टं गोनिकेतने।
कृत्वा गोनाशमाप्नोति तत्राजबन्धनाद् ध्रुवम्॥
गोमूत्रजालकेनैव यत्रावस्करमोचनम्।
कुर्वन्ति गृहमेधिन्यस्तत्र का वाहवासना॥[12]

आचार्य काश्यप गायों तथा बैलों के शुभ लक्षणों तथा उनके पालन–पोषण के विषय में विवरण देते हैं। आकृति, रंग, रूप, पुष्टि, सींग, खुर, स्थूलत्व, कुकुद, नेत्र, रोमावली, आवर्त्त गति आदि के अनुसार दोषहीन पशुओं का वर्णन करते हैं। काश्यप ने गोवृषभ लक्षण कथन क्रम में गाय तथा बैल के शुभलक्षणों का वर्णन किया है। गोवंश न केवल अपने स्वामी या किसान के लिए अपितु पूरे देश के लिए कल्याणकारक होता है –

गावश्च वृषभश्चैव शुभलक्षणभासुरा:।
शुभदां स्वामिनां प्रोक्ता: देशक्षेमप्रदाश्च ते।।[13]

काश्यप ने रंगो, ऊँचाई आदि के आधार पर बैलों पर वर्गीकरण किया है। सामान्य रूप से वही बैल शुभ होता है जिसके दोनों सींग बराबर हो तथा अधिक बड़े या छोटे नहीं हो। सींगो की समानता वाला बैल शुभ माना जाता है। बैलों के खुर सुदृढ़, आकार में अतिदीर्घ या लघु न हो। सुन्दरचाल तथा लम्बी पूंछ वाले बैल शुभ होते हैं। बैल बहुत मोटा या दुबला नहीं होना चाहिए। वजन ले जाने की क्षमता तथा कार्य के समय प्रसन्नता के स्वभाव वाला होना चाहिए। जो बैल सुन्दर प्रकृति वाले, स्वस्थ, शुभरंग वाले, पीठ पर सुन्दर भंवरी वाले होते है वे धन–धान्य में वृद्धि करने वाले होते हैं। इसी प्रकार शरीर पर बारीक रोमावली वाले, गंभीर ध्वनि वाले, सुन्दर शरीर तथा आँखों वाले बैल शुभ होते हैं –

रम्यात्मानश्च हृष्टाश्च शुभवर्णसमुज्ज्वला:।
शुभावर्त्तादिसहिता: धनधान्यविवृद्धिदा।।
सूक्ष्मरोमावलीव्याप्ता: गंभीरनिनदाश्च ये।
मनोज्ञ नयनोपेता: वृषभा: शुभदा मता:।।[14]

खेती तथा पशुपालन के सनातन सम्बन्ध को दोहराते हुए निर्देश दिया है कि अपने कल्याण तथा कृषि कर्म में सफलता के लिए गुणवान–दोषहीन बैल, गाय आदि पशुओं का पालन–पोषण–संरक्षण करना चाहिए –

निश्चितान् दोषहीनांश्च वृषभादीन् शुभार्थिन:।
रक्षयेसु: प्रयत्नेन कृषिसाफल्यहेतवे।।[16]

खेती की सफलता बैल पर निर्भर थी अत: काश्यप ने 'वृषभराजपूजा' प्रसंग में बैल की स्तुति का विधान किया है। मनुष्य तथा पशु जगत के आत्मीय एवं कृतज्ञता पूर्ण भावों से भरी यह प्रार्थना भारतीय कृषि संस्कृति के अद्वितीय गौरव का प्रतीक

है जहाँ मनुष्य–भूमि–पशु एवं प्रकृति एक समान उपकार्योपकारक भाव के सम्बन्ध में बंधे हुए हैं। जुताई के पहले इस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिए कि हे सुरभिनन्दन! हे वृषभराज! अति प्रकाशमान्! निष्पाप! महाशक्ति को धारण करने वाले आप भूमि के कर्षण कार्य–जुताई में सहायता कीजिए। हे धर्माधार! सुगन्धित माला पुष्पादि से आपका पूजन करता हूँ। आप मुझे सुफल कीजिए। आपक खूब मंगल हो। अत्यन्त आदरपूर्वक आपके लिए समुचित आहार तथा जल–प्रदान करता हुआ पोषण करूँगा। शिव जी की कृपा से आप मेरे लिए सफलतादायी बनें। आप नित्य ही मेरे गोष्ठ में अपने समान वीर्यवान वत्सों को उत्पन्न करना, मैं सदा ही आदरपूर्वक आपका पोषण करूँगा। हे वृषराज! आप ही धन धान्य की समृद्धि के हेतु है। आप साक्षात् धर्म हैं। मैं आपका पोषण करूँगा। आप अपराध क्षमा करके मुझ पर अनुग्रह करें जिससे मेरे देवयज्ञ तथा भूतयज्ञ आपकी कृपा से सफल होवें –

सौरभेय महासार वृषराजामितद्युते।
भूकर्षणविधौ त्वं हि साह्यं कुरू ममानघ।।
सुगन्धमाल्यपुष्पाद्यैरद्य त्वां पूजयाम्यहम्।
फलदो भव मे त्वं तु धर्मकृत् स्वस्ति ते भृशम्।।
तृणै शष्पैश्च सलिलैः त्वां पोषयामहमादरात्।
शंकरानुग्रहात् त्वं तु फलदो भव मे सदा।।
उत्पाद्य तनयान् शश्वत् त्वत्तुल्य बलवीर्यवान्।।
अलंकुरु त्वं गोष्ठं मे त्वां पोषयाम्यहमादरात्।।
वृषराज त्वमेवात्र धनधान्यादिवृद्धिकृत्।
धर्मरूप त्वमेवेह तस्मात् त्वां पोषयाम्यहम्।।
देवयज्ञं भूतयज्ञं यथा मे सफलं भवेत्।
तथा दयां कुरु त्वं तु चापराधं क्षमस्व मे।।
इति सम्प्रार्थ्य वृषभं पूजयित्वा विशेषतः।।[16]

भारत के स्वर्णिम सांस्कृतिक तथा समृद्ध आर्थिक इतिहास में कृषिकर्म को धुरीण सौरभेय साक्षात् धर्म स्वरूप जिस बैल का ऐसा स्तवन किया गया है वह आज केवल निरीह पशु है। बैल आकिंकरचक्रवर्ती सम्राट समस्त प्रजाओं के अन्नदाता किसानों का भी उपास्य–पूज्य–फलप्रदाता–योगक्षेमकर्त्ता सहयोगी है। वर्तमान कृषि व्यवस्था ने बैलों को विकास का अवरोधक घोषित करके इसे आवारा पशु, भूख–प्यास–दुत्कार से बेहाल बनाया है। इस कृषि व्यवस्था ने बैलों के पीछे–पीछे कुछ कालावधि में ही किसानों को भी कंगाली, बेचारगी तथा आत्महन्ताओं की कोटि में पहुँचा दिया है। एक गंम्भीर संवाद भारतीय संस्कृति तथा विकास की तीव्र गति वाले अर्थशास्त्रियों के बीच आवश्यक है। किसानों के पीछे–पीछे पूरा समाज तथा देश भी गंम्भीर असाध्य रोगों से ग्रसित होकर कर शनैः शनैः उसी दिशा में अग्रेसर है।

भारतीय परम्परा में धर्मशास्त्र तथा कृषिशास्त्र के आचार्यों ने बैलों से अत्यधिक थकान पर्यन्त कार्य करवाने का स्पष्ट निषेध किया है। काश्यप कहते हैं –

श्रान्ता यथा ते न क्लान्तास्तावत्तत्कार्यमीरितम्।[17]

यदि बैल प्रसन्न नहीं है तो खेती निष्फल समझनी चाहिए। थके हुए बैलों को कभी भी कृषिकर्म में नहीं लगाना चाहिए। काश्यप का यह मत अत्यन्त विचारणीय है–

तन्मनः क्लेशहेतुस्तु विफलाय विनिश्चितः।
तस्मान्न योजयेच्छ्रान्तान् वृषभान् कृषिकर्मणि।।

महर्षि पराशर ने पराशर स्मृति में बैलों के काम की अवधि सुनिश्चित की है। आठ बैलों से युक्त हल को धर्मसम्मत माना गया है। छह बैल वाले हल को मध्यम तथा चार बैल वाले हल के स्वामी को नृशंस कहा गया है। यदि हल के साथ दो ही बैल हैं तो वह बैलों के लिए घातक होता है –

हलमष्टगवं धर्म्यं षड्गवं मध्यमं स्मृतम्।
चतुर्गवं नृशंसानां द्विगवं वृषघातिनम्।।[18]

एक हल के साथ बैलों की कार्यावधि

बैल	कार्यरत	कार्यावधि	विश्राम	स्थिति
आठ	दो	दो घंटे	छह घंटे	उत्तम धर्मसम्मत
छह	दो	ढाई घंटे	साढे पांच घंटे	मध्यम
चार	दो	चार घंटे	चार घंटे	नृशंस
दो	दो	आठ घंटे	शून्य	घातक

पराशर कहते हैं कि भूखे, प्यासे, थके हुए बैल को कभी भी हल में नहीं जोतना चाहिए। हीनांग, बीमार तथा क्लीब बैल को कभी भी गाड़ी में नहीं जोतना चाहिए। –

क्षुदितं तृषितं श्रान्तं बलीवर्दं न योजयेत्।
हीनांगं व्याधितं क्लीबं वृषं विप्रो न वाहयेत्।।[19]

स्थिर अंगो वाले, नीरोग, शक्तिवान् तथा बधिया नहीं किए हुए बैल को केवल आधे दिन के लिए ही गाड़ी में जोता जा सकता है।[20]

कृषि पराशर में भी स्पष्ट निर्देश है कि खेती ऐसी करनी चाहिए जिसमें जुताई में लगे पशुओं को कभी पीड़ा नहीं पहुँचे। बैलों को पीड़ा पहुँचा कर उत्पन्न की गई फसल का अन्न समस्त कार्यों में घृणित व अग्राह्य माना गया है। यदि बैलों का उत्पीड़न करके चौगुनी फसल भी प्राप्त हुई हो तो वह भी बैलों की 'हाय' से शीघ्र नष्ट होती है –

कृषिं च तादृशीं कुर्याद्यथा वाहान्न पीडयेत्।
वाहपीडार्जितं शस्यं गर्हितं सर्वकर्मसु।।
वाहपीडार्जितं शस्यं फलितं च चतुर्गुणम्।
वाहनि:श्वासवातेन तद् द्रुतं च विनश्यति।।[21]

काश्यप ने सुलक्षणसम्पन्न बैल, गाय, भैंस, भेड़, बकरी का संग्रह करने का निर्देश दिया है। ये सभी कृषि कार्य में फलप्रदायक हैं-

दोषहीना गुणोपेता वृषभा: शुद्धजातिजा:।
संग्राह्या क्षेमसिद्धयर्थं कृषिकारैर्विशेषत:॥
सुलक्षणा धेनवश्च महिषाश्च तथा मता:।
महिष्यश्च बहुक्षीरा: रक्षणीया: कृषिवलै:॥
मेषाश्छागाश्च बहुधा कृषिकार्यफलप्रदा:।
परंपरोपदेशेन परिक्षास्वपि पण्डितै:॥[22]

काश्यप कहते हैं कि पशुओं को समय से हितकर आहार प्रदान करना चाहिये, उनका निरन्तर लालन करते हुये रोगों से उनकी रक्षा करनी चाहिए।[23] गोष्ठ स्थान या गोशाला पुष्टिप्रद होनी चाहिये। गायों को सर्वत्र पालना चाहिये। सर्वत्र उनकी रक्षा की जानी चाहिये। तृण-पलाल नीर आदि से पोषण तथा विभिन्न ऋतुओं में ध्यान रखना चाहिये। बकरी-भेड़ आदि सभी पशुओं को ग्रीष्मकाल में मध्याह्न में छाया में रखना चाहिये, गर्मी से पशुओं का बचाव करना चाहिये।

छायासु ताश्च छागवृषमाद्या: क्रियाकरा:।
मध्याह्नकाले ग्रीष्मे तु स्थाप्या रक्ष्याश्च धीमता॥[24]

आचार्य कौटिल्य ने 'गो अध्यक्ष' प्रसंग में पशुपालन के प्रशासनिक ढांचे का विधान किया है। राज्य में गाय, भैंस आदि पालतू पशुओं की देख-रेख करने वाले अधिकारी का कर्तव्य निर्धारण करते हुए कहा कि उसके लिए वेतनीय ग्राहिक, करप्रतिकर, भग्नोत्सृष्टक, भागानुप्रविष्टक, व्रजपर्यग्र, नष्ट, विनष्ट तथा क्षीरघृत संजात इन आठ विषयों की पूर्ण जानकारी आवश्यक है। अर्थशास्त्र में आचार्य कौटिल्य ने गायों की देखभाल के नियम प्रशस्त किये हैं। बछड़े, बीमार तथा वृद्ध पशुओं की देखभाल-परिचर्या का विधान किया है। गोपालक के लिए गोचारण में सावधानी योग्य सलाह अर्थशास्त्र में दी गई है। कौटिल्य का निर्देश है कि श्रावण, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक, मार्गशीर्ष तथा पौष माह में गाय-भैसों को दोनों समय दुहना चाहिए जबकि, माघ, फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ तथा आषाढ़ में केवल सांयकाल ही दुहना चाहिए-

बालवृद्धव्याधितानां गोपालका: प्रतिकुर्यु:।
समव्यूढतीर्थमकर्दममग्राहमुदकमवतारयेयु: पालयेयुश्च।
वर्षा शरद्धेमन्तानुभयत: कालं दुह्या:।
शिशिरवसन्तग्रीष्मानेककालम्।।

कौटिल्य का स्पष्ट आदेश है कि निषिद्ध महिनों में गाय-भैंस को दोनों समय दूहने वाले व्यक्ति का अंगूठा काट देना चाहिए।[25]

द्वितीयकाले दोग्धुरङ्गुच्छेदो दण्ड:।

कौटिल्य ने बैल, गाय, ऊँट आदि के समुचित आहार के माप-तौल एवं पदार्थों का भी उल्लेख किया है। हरी घास, भूसा, सानी, नामक, तेल, उड़द, जौ, गुड़, सौंठ आदि की उचित मात्राएँ पशु आहार के लिए विहित की गई है। पशुओं की बाड़े में मादा तथा नर पशुओं के उचित अनुपात का भी विधान किया है।

संस्कृत कृषि का दर्शन कृषि-पशुपालन एवं प्रकृति के साथ किसान के गहनतम अन्त:संबन्धों को पुष्ट करता है। प्रकृति के संतुलन में मानव श्रम के साथ-साथ पशुधन की सहभागिता वैदिक कृषि का वैशिष्ट्य है। कृषि के लिये गायों के गोबर की उपयोगिता को समझकर ही वैदिक ऋषि कहते हैं-

संजग्माना अबिभ्युषीरस्मिन्गोष्ठे करीषिणी:।
बिभ्रती: सोम्यं मध्वनमीवा उपेतन॥
इहैव गाव एतनेहो शकेव पुष्यत।
इहैवोत प्रजायध्वं मयि संज्ञानमस्तु व:।
शिवो वो गोष्ठो भवतु शारिशाकेव पुष्यत।
इहैवोत प्रजायध्वं मया व सं सृजामसि॥
मया गावो गोपतिनासचध्वमयं वो गोष्ठ इह पोषयिष्णु:।
रायस्पोषेण बहुलाभवन्तीर्जीवा जीवन्तीरुच्चै व: सदेम॥[26]

ऋषि ब्रह्मा गोवंश का स्तवन करते हुये कहते हैं कि 'हे गौओ! हम आपको सुखपूर्वक बैठने योग्य गोशाला, जलादि समृद्धि से युक्त करते हैं। अर्यमा, पूषा, बृहस्पति, इन्द्रादिदेवता आपको उत्पन्न करें, आपके क्षीर घृतादि ऐश्वर्य से हमें पुष्ट करें। चिरकाल तक अपने वंश के साथ आप यहीं रहें तथा स्वस्थ रहें एवं हमारे लिये सौम्य-मधुर-दुग्ध तथा गोबर पैदा करती रहें। इस गोशाला में आपका अतिशीघ्र वंश विस्तार हो, आप हमसे प्रेम करें तथा कभी भी हमें त्याग कर नहीं जाये। आपके वंश में चिरकाल तक असीमित वृद्धि हो, आपके साथ हमें भी दीर्घायु प्राप्त हो।'

भारतीय परम्परा में सर्वत्र वेद, पुराण तथा शास्त्रीय साहित्य में पशुधन-गोधन का माहात्म्य वर्णित है। व्यक्ति तथा समाज का पोषण, स्वास्थ्य, भूमि का पोषण तथा स्वास्थ्य, कृषिजन्य उत्पादों

(शेष पृष्ठ-99 पर..)

ISSN 2278 - 0327

कालिदास का प्रजा संरक्षण एवं प्रकृति प्रेम

डॉ. मोहिनी अरोरा
असि.प्रोफेसर, साहित्यविभाग
केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, भोपाल परिसर

स विश्ववन्द्यो महतां कवीनां गुरुर्मनीषी कविकालिदासः।
यत्काव्य-पीयूष रसप्रवाह-स्वादामितानन्दमयो हि लोकः।।

महाकवि कालिदास संस्कृत साहित्य के जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं। संस्कृत साहित्याकाश में उनका स्थान वही है जो व्योम में सूर्य का है-

एकेनापि हि शूरेण पादाक्रान्तं महीतलम्।
क्रियते भास्करेणेव स्फारस्फुरिततेजसा।।[1]

कालिदास का कर्तृत्व सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक है। उनकी रचनाओं की सार्वभौमिकता तो इसी बात से सिद्ध है कि विश्व की अधिकांश भाषाओं में उनकी रचनाओं का अनुवाद हो चुका है, साथ ही कालिदास की रचनायें सार्वकालिक हैं यह निम्नलिखित पद्य से द्योतित होता है-

पुरा कवीनां गणनाप्रसङ्गे कनिष्ठिकाधिष्ठित कालिदासः।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव।।[2]

प्राचीनकाल में जब श्रेष्ठ कवियों की गणना प्रारम्भ हुई तो कालिदास सर्वप्रथम कनिष्ठिका पर विराजित हो गये और फिर आज तक उनके काव्य की तुलना न हो सकने के कारण, उनके अद्भुत काव्य कौशल की समानता न हो सकने के कारण अनामिका पर कोई नाम नहीं आया और अनामिका अंगुली का नाम अनामिका (कोई नाम न होना) सार्थक हो गया।

वस्तुतः इस पद्य में महाकवि कालिदास का जो प्रशस्तिगान किया गया है, उसमें प्रयुक्त अद्यापि पद्य भी इस बात को स्पष्ट करता है कि कालिदास का काव्य आज भी प्रथम स्थान पर ही एवं आज भी प्रासङ्गिक है।

कालिदास की कृतियाँ गूढ़ विषयों को समझने एवं समझाने तथा गहनतम विचारों की अभिव्यक्ति का एक सशक्त तथा सरलतम माध्यम हैं। वक्रोक्तिजीवितकार आचार्य कुन्तक के अनुसार भी श्रेष्ठ काव्य वही होता है जो सहज मार्ग से अविद्या का नाश करने वाला तथा रम्यतम मार्ग से विवेक को जाग्रत करने वाला होता है-

कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्याव्याधिनाशनम्।
आह्लाद्यामृतवत्काव्यमविवेकगदापहम्।।[3]

उस पर भी महाकवि कालिदास का काव्य तो शीर्षस्थ सिद्ध ही है-

काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला।[4]

कालिदास का काव्य हमारे जीवन को ऊर्जा, गति, मति, स्वास्थ्य लाभ, लोकव्यवहार परिस्पन्द, राष्ट्रप्रेम, प्रकृतिप्रेम, आदर्श जीवन, संस्कार-संस्कृति, चारों पुरुषार्थों को साधने की शक्ति तथा कठिन परिस्थितियों का सामना करने का सामर्थ्य प्रदान करने में कल भी सफल था और आज भी उतना ही प्रासंगिक है। आवश्यकता है तो बस उनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलने की, जिस पर चलकर हम अपने ध्येय तक बड़ी सरलता से पहुँच सकते हैं, क्योंकि Determination and dedication is equal to Destination.

आज के परिवेश में सत्ता के लोभ से ग्रस्त मानव उच्च पदों को पाकर केवल अपने निजी घरों की उन्नति के लिए लालायित रहता है। राजपद मिल जाने पर तो कहना ही क्या। कालाधन संग्रह, विभिन्न घोटाले एवं सत्ता में कुछ वर्ष रहने मात्र से ही रोड़पति से करोड़पति बनने का सिलसिला आरम्भ हो जाता है। वहीं दूसरी ओर यदि हम कालिदास के रघुवंश पर दृष्टि डालें तो वहाँ राजा दिलीप अपनी प्रजा से जो कर ग्रहण करते थे, उसे प्रजा के ही हित के कार्यों में लगाकर सहस्र गुना कर लौटा देते थे, ठीक वैसे ही जैसे सूर्य अपनी किरणों से पृथ्वी का जो जल सोखता है उस हजार गुना करके लौटा देता है-

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः।।[5]

राजा दिलीप कर के रूप में प्राप्त धन से यज्ञ करते थे, क्योंकि यज्ञ से मेघ, मेघ से अन्न और अन्न से प्राणियों का पोषण सम्भव है-

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञ कर्म समुद्भवः।।[6]

राजा दिलीप के यज्ञ से प्रसन्न इन्द्र उचित समय पर आकाश

को दुहकर जल बरसा देते थे, जिससे खेत अन्न से परिपूर्ण हो जाते थे।[7] ऋग्वेद में भी वर्णित है कि इन्द्र मनुष्यों के लिए गौ की भाँति आवश्यक वस्तुएँ, यज्ञकर्म से प्रसन्न होकर प्रदान करता है–

धेनुरिव मनवे विश्वदोहसो जनाय विश्वदोहस:।[8]

इस प्रकार नि:स्वार्थ और निर्मोही रहकर राजा दिलीप व इन्द्र दोनों ही मिलकर लोकों का कल्याण परस्पर सहयोग से करते हैं। राजा को राजसत्ता का अत्यधिक मोह न हो जाये इसलिए रघुवंश में राजाओं के लिए भी निर्देश है कि–

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥[9]

अभिज्ञान शाकुन्तल का दुष्यन्त भी नितान्त प्रजा हितैषी है वह स्पष्ट घोषणा करता है कि केवल पाप कर्म को छोड़कर आवश्यकता होने पर दुष्यन्त समस्त प्रजाजन का अपना रिश्तेदार है।

येन येन वियुज्यन्ते प्रजा स्निग्धेन बन्धुना।
स स पापाद्दते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम्।।[10]

उसकी यह घोषणा समय पर हुई वृष्टि के समान सभी प्रजाजनों को आनन्दित कर देती है।

एक ओर जहाँ कालिदास की वाणी प्रजा का संरक्षण व पालन राजाओं को सिखाती है, वहीं दूसरी ओर धरा के संरक्षण हेतु समग्र मानव जाति को प्रेरित करती है। रघुवंश महाकाव्य में राजा दिलीप की अनन्य गौ सेवा का वर्णन आया है जो कि आज के सन्दर्भ में देखा जाये तो लगातार बढ़ रहे गायों के कत्ल खानों एवं गौ हत्या से विमुख कर गौ भक्ति एवं पशु प्रेम की प्रेरणा देने की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। गौ एवं अन्य पशुओं की निर्मम हत्या की रोकथाम के लिए कालिदास का साहित्य सन्मार्ग का प्रबल प्रेरक है। अभिज्ञानशाकुन्तल में भी निरपराध हिरण को मारने के प्रयास को वैखानस उतना ही कठोर बताते हैं जैसे कोई पुष्पराशि पर आग बरसा रहा हो–

न खलु न खलु बाण: सन्निपात्योऽयमस्मिन्
मृदुनि मृगशरीरे पुष्पराशाविवाग्नि:।
क्व बत हरिणकानां जीवितं चातिलोलं
क्व च निशितनिपाता: वज्रसारा: शरास्ते।।[11]

वैखानस राजा को बाण चलाने से रोकते हुए उपदेश देता है कि हे राजन् ! आपको आपके शस्त्र का प्रयोग दु:खितों की रक्षा के लिए करना चाहिए न कि किसी निरपराध पर प्रहार करने के लिए–

तत् साधुकृतसन्धानं प्रतिसंहर सायकम्।
आर्तत्राणाय व: शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि।।[12]

निरपराध एवं भोले–भाले वन्य प्राणियों के संरक्षण की शिक्षा देने के लिए कालिदास वन्य प्राणियों के प्रति सम्बन्धियों की भांति प्रेम उत्पन्न करा देते हैं। कालिदास की शकुन्तला वन्य प्राणियों को पुत्रवत् स्नेह करती है व उनकी सगे पुत्र की भाँति देखभाल भी करती है। कण्व के शब्दों में–

यस्व त्वया व्रणविरोपणमिङ्गुदीनां
तैलं न्यषिच्यत् मुखे कुशसूचिविद्धे।
श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति
सोऽयं न पुत्रकृतक: पदवीं मृगस्ते॥[13]

अब जरा प्रभाव देखिये शकुन्तला का यह पशु–पक्षियों के प्रति प्रेम मृगया प्रेमी (शिकार के प्रेमी) राजा दुष्यन्त का हृदय भी बदल कर रख देता है और वह भी वन्य प्राणियों के प्रति अपनत्व का भाव रखने लगता है तथा हिरणों पर बाण चलाने में असमर्थ हो जाता है –

न नमयितुमधिज्यमस्मि शक्तो
धनुरिदमाहितसायकं मृगेषु।
सहवसतिमुपेत्य यै: प्रियाया:
कृत इव मुग्धविलोकितोपदेश:।।[14]

इस प्रकार हम देखते हैं कि महाकवि कालिदास प्राणियों के प्रति दया भाव एवं प्रेमभाव का अद्भुत सञ्चार करने का कौशल रखते हैं जो कि केवल उस काल में ही नहीं अपितु आज भी पशु–सरंक्षण के लिए नितान्त आवश्यक है।।

कालिदास न केवल वन्य प्राणियों के ही संरक्षण पर बल देते हैं अपितु उनका काव्य पूर्णत: निसर्गचेतना चमत्कृत है। शकुन्तला का तो नाम ही निसर्ग सान्निध्य का निदर्शन है–

शकुन्तै: पक्षिभि:लालिता पालिता इति शकुन्तला।

शकुन्तला प्रकृति की ही पुत्री है। वन में पक्षियों द्वारा उसका पालन–पोषण करने के कारण ही उसका नाम शकुन्तला पड़ा, उसके अनन्तर महर्षि कण्व उसे आश्रम ले आये और वहाँ भी वह प्राकृतिक वातावरण में पलकर बड़ी हुई। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में न केवल शकुन्तला का नाम ही प्रकृति से निकटता स्थापित करता है अपितु कुछ गौण पात्रों के नाम जैसे मधुकरिका,परभृतिका, हंसपदिका आदि भी प्रकृति से ही सम्बन्धित हैं। बाह्य प्रकृति की ही भाँति अन्त:प्रकृति को मुखरित करती हुई कुछ संज्ञाएँ जैसे– दुष्यन्त, प्रियंवदा, अनसूया, चतुरिका आदि हैं जो कालिदास के प्रकृतिप्रेम–विषयक सर्वतोभाविनी प्रतिभा की द्योतक है।

प्रकृतिपेलवा शकुन्तला का सौन्दर्य भी पुष्प के समान कोमल है। उसका निम्नोष्ठ (अधर) नवपल्लव की लालिमा लिए हुए है, भुजायें लता के समान मनोहर हैं एवं यौवन पुष्पवत् है –

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम्।।[15]

इतनी कोमलाङ्गी होते हुए भी शकुन्तला को उसके पिता महर्षि कण्व वृक्षों की सेवा का कार्य सौंप देते हैं, क्योंकि वृक्षों की सेवा को वह परम पुनीत कर्त्तव्य समझते हैं एवं वृक्षों से सन्तान की भाँति स्नेह करते हैं। या अनसूया के शब्दों मे कहें तो वे वृक्षों से संतान से भी अधिक प्रेम करते हैं। इसलिए अनसूया कहती है – *हला शकुन्तले! त्वत्तोऽपि तातकाश्यपस्याश्रमवृक्षकाः प्रियतरा इति तर्कयामि। येन नवमालिका कुसुमपेलवाऽपि एतेषामालवालपूरणे नियुक्ता।*[16]

शकुन्तला भी केवल आज्ञापालन के लिए ही नहीं प्रत्युत अपने हृदय स्नेह के कारण वृक्षों का सिंचन करती है–

न केवलं तातनियोग एव। अस्ति मे सोदरस्नेह एतेषु।[17]

पौधों को जल पिलाये बिना शकुन्तला स्वयं जल नहीं पीती थी। अलङ्कारप्रिया होते का हुए भी सजावट हेतु पुष्पों को नहीं तोड़ती थी और पुष्पों का प्रथमतः उद्गम उसके लिए हर्षोल्लास का समय होता था–

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनाऽपि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम् ।।[18]

यदि ऐसा ही प्रकृतिप्रेम आज के मनुष्य में उत्पन्न हो जाय तो भूसंरक्षण को लेकर उत्पन्न होने वाली समस्याएँ स्वतः ही समाप्त हो जायेंगी, क्योंकि प्रकृति की अपनी एक उत्तम व्यवस्था है मानव के सद् प्रयासों से वह संतुलित रह सकती है एवं सृष्टि का विकास निर्बाध गति से अतिसुन्दर ढंग से हो सकता है–

यावद्भूमण्डलं धत्ते सशैलवनकाननम्।
तावत् तिष्ठति मेदिन्यो सन्ततिः पुत्रपौत्रिकी॥[19]

प्रचुर धान्य के लिए धरा का संरक्षण नितान्त आवश्यक है और जब वृक्षों तथा पादपों से धरती समृद्ध हो, समय पर जल से सिञ्चित हो तब हम अपने राष्ट्रीय गीत *'सुजलां सुफलां मलयजशीतलाम्'* को सार्थक कर सकेंगे तथा इस प्रकार की प्रेरणा से वर्तमान समय में वृक्षों की हो रही अंधाधुंध कटाई पर भी नियंत्रण करने में सफल हो सकेंगे। धनधान्य से समृद्ध उर्वरा धरा सभी की आवश्यकताओं को पूर्ण करने में सक्षम होगी। महात्मा गांधी ने भी कहा है कि– *प्रकृति में सभी की आवश्यकताओं की पूर्ति करने की क्षमता है लेकिन किसी एक के भी लालच की नहीं।*

महाकवि कालिदास ने अपनी सातों रचनाओं में प्रकृति चित्रण बड़े ही उत्तम ढंग से किया है। उन्होंने बाह्यप्रकति और अन्तःप्रकति दोनों का अद्वितीय वर्णन किया है। जहाँ एक ओर बाह्यप्रकृति मानवीय संवेदनाओं से सहानुभूति प्रकट करती दर्शायी है तो वहीं दूसरी ओर मानव मन भी प्रकति से समभाव रखता हुआ, उसके प्रति आत्मीयता व श्रद्धाभाव प्रकट करता हुआ प्रकृति का बन्धु दर्शाया है। प्रकृतिविषयक कालिदास का गहन चिन्तन प्रकृति और मानव का प्रगाढ़ सम्बन्ध स्थापित करता है।

कालिदास ने प्रकृति ओर मानव जीवन को रासायनिक रूप से एक सिद्ध किया है वे प्रकृति के परमस्नेही एवं मर्मज्ञ हैं। उन्होंने प्रकृति के सुकुमार पक्ष पर सिद्धहस्तता से अपनी तूलिका चलाई है। प्रकति का सौन्दर्य सृजन कालिदास ने कुछ इस प्रकार किया है कि उनके एक एक पद्य में मानव मन भावविभोर हो उठता है। ऋतुसंहार एवं मेघदूत तो कवि के प्राकृतिक खण्डकाव्य कहे जा सकते हैं।

ऋतुसंहार में षड्ऋतुओं का वर्णन बड़े ही मनोरम एवं शृङ्गारिक ढंग से किया गया है। मेघदूत गीतिकाव्य में महाकवि ने प्रकृति का मानवीकरण कर मेघ को दूत के रूप में प्रणय संदेशवाहक बनाकर इसे संस्कृत साहित्य के ही नहीं अपितु विश्व साहित्य के दूतकाव्य के शिखर पर शोभायमान किया है। यक्ष मेघ से याचना करता हुआ उसके श्रेष्ठ से की गई याचना को असफल होने पर भी उत्तम बताता है–

याच्ञा मोघा वरमधिगुणेनाधमेलब्धकामा।।[20]

कालिदास का प्रकृतिचित्रण केवल सामान्यरूप से प्रकृति की चारुता को द्योतित करने वाला ही नहीं अपितु प्रसङ्ग के अनुसार सटीक होता है एवं उसमें पर्यावरण संरक्षण संबंधी अनेक तथ्य छिपे होते हैं। मेघदूत में यक्ष मेघ से कहता है कि यदि हिमालय के वन में चीड़ के वृक्षों के तनों के सङ्घर्ष से दावानल अर्थात् वनाग्नि उत्पन्न हो जाये तो तुम उसे असंख्य जलधाराओं से अवश्य ही बुझा देना। यही श्रेष्ठजनों का कर्त्तव्य है कि वे भलाई करें–

तं चेद्वायौ सरति सरलस्कन्धसङ्घट्टजन्मा
बाधेतोल्काक्षपितचमरीबालभारो दावाग्निः।
अर्हस्येनं शमयितुमलं वारिधारासहस्रैः
आपन्नार्तिप्रशमनफलाः सम्पदो ह्युत्तमानाम्।।[21]

इसी प्रकार अन्य रचनाओं में भी कालिदास का प्रकृतिप्रेम एवं पर्यावरण संरक्षण स्पष्ट परिलक्षित होता है। आज जब मानव जीवन लगातार विनाश की ओर उन्मुख हो रहा है। ऐसी स्थिति में कालिदास के साहित्य का जनमानस के भीतर प्रवेश कराना सभी समस्याओं का नियंत्रक बन सकता है, क्योंकि लादे गये अनुशासन से कहीं अधिक श्रेष्ठ होता है स्वानुशासन सिखा देना और कालिदास

के कृतित्व में वह शक्ति है जो सहज रूप से चित्त को निबद्ध करके सत्कार्यों की ओर प्रवृत्त करने में अत्यन्त सामर्थ्यशालिनी है जिसके प्रभाव से मृगयाप्रेमी भी प्रकृतिप्रेमी हो जाये और हिरण के पीछे बाण लेकर वध करने के उद्देश्य से भागने वाला दुष्यन्त हाथ में जल का दोना लेकर मृग को जल पिलाने बैठ जाये।

वस्तुत: आधुनिक परिप्रेक्ष्य में मानव को सत्कर्मों के लिए प्रवृत्त करने हेतु जिस कर्त्तव्यबोध, निसर्ग प्रेम व जागरूकता की आवश्यकता है, उसमें कालिदास की कविता का विलास महदुपयोगी महदुपकारक, महनीय एवं महदावश्यक है अत: कालिदास आज भी अतुलनीय तथा प्रासंगिक हैं। भर्तृहरि का निम्नलिखित पद्य कालिदास जैसे श्रेष्ठ कवि की वंदना हेतु प्रयुक्त किया जा सकता है –

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धा: कवीश्वरा:।
नास्ति येषां यश: काये जरामरणजं भयम्।।

सन्दर्भ सूची –

1. नीतिशतक,107
2. अभिज्ञानशाकुन्तल, परिशिष्ट, 6
3. वक्रोक्तिजीवितम्, 1–7
4. उद्धृत–अभिज्ञानशाकुन्तल, परिशिष्ट–6
5. रघुवंश, 1.18
6. श्रीमद्भगवद्गीता, 3.14
7. रघुवंश, 1.26
8. ऋग्वेद, 1,130,5
9. रघुवंश, 1.8
10. अभिज्ञानशाकुन्तल, 6.23
11. अभिज्ञानशाकुन्तल, 1.10
12. अभिज्ञानशाकुन्तल, 1.11
13. अभिज्ञानशाकुन्तल, 4.14
14. अभिज्ञानशाकुन्तल, 2.3
15. अभिज्ञानशाकुन्तल, 1.21
16. अभिज्ञानशाकुन्तल, प्रथम अङ्क, पृ.41, कपिलदेव द्विवेदी, संस्करण–2012, प्रकाशक, रामनारायण लाल, विजयकुमार, इलाहाबाद।
17. वही, पृष्ठ– 42
18. अभिज्ञानशाकुन्तल, 4.9
19. दुर्गासप्तशती–देवीकवच, 54
20. पूर्वमेघ, 7
21. पूर्वमेघ, 53

*** इति शम्***

(पृष्ठ–95 का शेष.....)

के आधार पर चलने वाले व्यापार–उद्योग धंधे, पर्यावरण का स्वास्थ्य आदि महान् प्रयोजनों को अपने आश्रय से पूर्ण करने वाला गोवंश निश्चय ही उपर्युक्त गुणानुवाद, स्तुति–वंदना तथा पूजा प्रतिष्ठा का अधिकारी हैं। समग्र प्रक्रिया आदान–प्रदान के सम्बन्ध पर टिकी है। न्यूनतम निर्वाह पदार्थ मात्र का ग्रहण करके सम्पूर्ण समष्टि का परिपालन करने के कारण गाय को माता का सम्मान किया जाना अत्यन्त तार्किक एवं न्यायोचित है। भारतीय परम्परा वैज्ञानिक सत्य को धर्म एवं विश्वास के साथ आचरण योग्य बनाती है।[27]

1. 19 वीं पशुगणना 2012, पृ. 22, कृषि पशुपालन मंत्रालय, भारत सरकार
2. शतपथ ब्राह्मण 6.2.1.2
3. ऋग्वेद 10.90.8, यजुर्वेद 31.6, अथर्ववेद 19.6.14
4. अथर्ववेद 11.2.9
5. ऐतरेय ब्राह्मण 2.17
6. कृषिपराशर 82
7. कृषिपराशर 83
8. कृषिपराशर 84–85
9. कृषिपराशर 87
10. कृषिपराशर 86
11. कृषिपराशर 89
12. कृषिपराशर 90–92
13. काश्यपीयकृषिसूक्ति 287
14. काश्यपीयकृषिसूक्ति 297–298
15. वही 306
16. काश्यपीयकृषिसूक्ति 279–285
17. काश्यपीयकृषिसूक्ति 285
18. पराशरस्मृति, गृहस्थ धर्म 67
19. पराशरस्मृति, गृहस्थ धर्म 68
20. वही, 69
21. कृषिपराशर 84–85
22. काश्यपीयकृषिसूक्ति 303–305
23. वही, 307
24. वही, 318
25. अर्थशास्त्र 2.45.29
26. अथर्ववेद 3.14.4–6
27. संस्कृत कृषिशास्त्र; प्रो. नीरज शर्मा, लिटरेरी सर्किल, जयपुर 2011

ISSN 2278 - 0327

भीष्मस्तवराज वैदिक एकेश्वरवाद का प्रबल समर्थक

डॉ. गदुलाल पाटीदार
असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग,
मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राज.)

मनोहर लाल सुथार
शोधार्थी, संस्कृत विभाग,
मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राज.)

शोधसारांश–

मनुष्य के प्रादुर्भाव काल से ही मानव की सहज जिज्ञासा ईश्वर विषय चिंतन में रही है और इस ईश्वर के एकत्व और बुहत्व को लेकर वैदिक साहित्य में बहुधा चिंतन पाया जाता है। उपनिषद् तो साक्षात् साक्षी रहा ही है। जगत् के प्राकृतिक स्वरूप को देवत्व के रूप में पूजित कर इंद्र, वरुण, अग्नि, सोम इत्यादि अलग-अलग देवताओं को अलग-अलग नामों से उस परम शक्ति को स्मरण करते हुए वैदिक लोगों ने स्तुति की है। और उस परंपरा में बाद के साहित्य में भी ईश्वर को लेकर कई सारे तर्क, मत-मतान्तर हुए हैं। उस परम तत्त्व की सत्ता को लेकर सहज जिज्ञासा और उसके समाधान की अवस्था तक जाना, समझाना तथा भीष्मस्तवराज में वर्णित ईश्वर सत्ता के एकत्ववाद की ओर अध्ययन करने का प्रयास ही इस आलेख का विषय कलेवर है। उस सर्वभौम विराट स्वरूप को वेद भी बहुधा मानकर भी एक रूप में स्वीकार करता है और महाभारत के शांतिपर्व के भीष्मस्तवराज में भी उसके एकत्व स्वरूप को कई उद्धरणों में स्वीकार किया गया है। नियति के सृष्टिकर्ता के विषय में इस मत को इस दृष्टि से देखने का कष्ट साध्य प्रयास ही इस आलेख का परम प्रयोजन है। भीष्मस्तवराज और वैदिक साहित्य के सन्दर्भ में उस परमशक्ति दिव्यरूप को समझने का श्रमपूर्वक प्रयास यहाँ किया जा रहा है। वह परम शक्ति परमात्मा स्वरूप एकत्व भाव में स्थित वह विविध रूपा शक्ति जो समग्र रूप के एक है वह मेरी मेधा को बलशाली बनावें इसी कल्याण के साथ यह आलेख प्रस्तुत करता हूँ।

उद्देश्य–

सारे ब्रह्माण्ड की धूरी जिसके पास है, जिसे हम परमात्मा कहते है। उस परमतत्त्व की वन्दना, अर्चना, ईश्वर स्तुति, परमसत्ता की पूजा, लोककल्याण, शब्दशास्त्र की श्रीवृद्धि, नियति के नियोक्ता को समझनें, आनंद की प्राप्ति तथा मन के संताप को कम करने का लघुश्रम ही इस आलेख का परम उद्देश्य है। वह परमसत्ता विविध रूपा होकर भी समग्र रूप में एक ही है।

कूटशब्द– वेद, देव, महाभारत, भीष्म, ईश्वर,ऋषि-मुनीश्वर, पुरुष, एकेश्वरवाद, एकत्व, बहुत्व, परमेश्वर, परमात्मा, विराट, भीष्मस्तवराज।

प्रस्तावना–

विश्व साहित्य के सबसे प्राचीन प्रमाण स्वरूप, भारतीय तीक्ष्ण, सूक्ष्म एवं कुशाग्र मेधा के परिणाम स्वरूप, आर्य संस्कृति के आधार स्तंभ ऋषि-मुनीश्वरों की वैचारिक वैतरणी के निर्मल प्रवाह स्वरूप वैदिक साहित्य का आज सारा वैश्विक भूमण्डल ऋणी है। भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का भव्य एवं विशाल महल विश्व के प्राचीनतम वाङ्मय स्वरूप वेद साहित्य पर की आधारित है। भारतीय धर्म एवं संस्कृति को समझने के लिए वेदों का ज्ञान अत्यंत आवश्यक है। बिना वेदों के ज्ञान के भारतीय संस्कृति के विकास के बारे में जानकारी प्राप्त नहीं की जा सकती है। वैदिक साहित्य संसार के विद्वानों के लिए ज्ञान का दीपक है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण का कथन है कि –'*वेदानां सामवेदोऽस्मि*'[1] अर्थात् वेदों में सामवेद मैं हूँ, से वेदों की प्राचीनता एवं महत्ता ज्ञात होती है। महर्षि वेदव्यास के यशपताका रत्नग्रंथ महाभारत में भीष्मजी द्वारा अपनी देह त्याग करने से पूर्व परम प्रभु भगवान् विष्णु की भीष्मस्तवराज के नाम से स्तुति की गई है। उसमें सर्वत्र भगवान् की एकाकार रूप से उपासना की गई है। समस्त स्थावर-जंगम, इहलोक, परलोक, स्वर्गलोक, अंतरिक्ष लोक, द्युलोक आदि सर्वत्र एक ही परमशक्ति के रूप में भगवान् विष्णु के ही अस्तित्व को स्वीकार करते हुए उनकी स्तुति की गई है। विविध रूपात्मक जगत् के भीतर एकात्मक भाव की पहली बार पहचान वैदिक ऋषियों द्वारा ही की गई थी उसी पहचान की चरम परिणति महाभारत के भीष्मस्तवराज में प्रस्फुटित हुई है। ऋग्वेद में भी कहा गया है कि–

इन्द्रं मित्रो वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः से सुप्रीमो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।।[2]

निरुक्तकार यास्क ने अपने गौरवमय ग्रंथ के दैवतकांड सप्तम

अध्याय में देवता के स्वरूप विवेचन का वर्णन करते हुए कहा है कि–

महाभाग्यात् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते।
एकस्य आत्मन: अन्ये देवा: प्रत्यङ्गानि भवन्ति।।[3]

इस जगत् के मूल में एक ही महत्त्वशालिनी शक्ति विद्यमान है जो निरतिशय ऐश्वर्य शालिनी होने से ईश्वर तथा नितांत महनीय एवं बृहद् होने से ब्रह्म कहलाती है। वही सृष्टि का नियोक्ता है, नियामक है, वह एक है, अद्वितीय है। उसी एक देदीप्यमान देवता की विविध रूपों में नाना प्रकारों से स्तुति की जाती है। एक ही आत्मा के अन्य देवता प्रत्यंगमात्र है। ऐतरेय आरण्यक में भी प्रतिपादित किया गया है कि एक ही महती सत्ता की उपासना ऋग्वेदी लोग उक्थ के रूप में किया करते हैं। यजुर्वेदी लोग याज्ञिक अग्नि के रूप में उपासना किया करते हैं। तथा सामवेदी लोग महाव्रत नामक याग में उपासना किया करते हैं।[4] इस विषय में कहा है कि–

एतं ह्येव बह्वचा महत्युक्थे मीमांसन्त ।
एतमग्नौ आध्वर्यव: एतं महाव्रते छन्दोगा:।।[5]

इस आरण्यक श्रुति का स्पष्ट अनुवाद महाभारत के भीष्मस्तवराज में उपलब्ध होता है। यहाँ भी कहा गया है–

यं बृहन्तं बृहत्युक्थे यमग्नौ यं महाध्वरे।
यं विप्रसंघा गायन्ति तस्मै वेदात्मने नम:।।[6]

अर्थात् उक्थनामक बृहत् यज्ञ में, अग्न्याधान काल में तथा महायाग में यज्ञवेत्ताओं द्वारा जिनकी परमब्रह्म के रूप में स्तुति की जाती हैं, उन वेदरूपात्मक भगवान् को नमस्कार है।

य: सुपर्णा यजुर्नामच्छन्दोगात्रस्त्रिवृच्छिरा:।
रथन्तरं बृहत् साम तस्मै स्तोत्रात्मने नम:।।[7]

जो 'यजु:' नाम धारण करने वाले वेदरूपी पुरुष हैं, गायत्री आदि छन्द जिनके हाथ-पैर आदि अवयव हैं, यज्ञ ही जिनका मस्तक है तथा 'रथन्तर' और 'बृहत्' नामक साम ही जिनकी सान्त्वनाभरी वाणी है, उन स्तोत्ररूपी भगवान् को प्रणाम है। और भी–

पर: कालात् परो यज्ञात् परात् परतरश्च य:।
अनादिरादिर्विश्वस्य तस्मै विश्वात्मने नम:।।[8]

अर्थात् जो काल से परे हैं, यज्ञ से भी परे हैं और परे से भी अत्यन्त परे हैं, जो सम्पूर्ण विश्व के आदि हैं, किंतु जिनका आदि कोई भी नहीं है, उन विश्वात्मा परमेश्वर को नमस्कार है। ईशावास्योपनिषद् के अनुसार भी यह समस्त जगत् ईश्वर के द्वारा ही आच्छादित है, यथा–*'ॐ ईशावास्यमिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्'*[9] तथा यजुर्वेद के अनुसार वह परम शक्ति संपूर्ण विश्व पर आंख रखने वाली है वह परम शक्ति सब और मुहँ वाली है वह परम शक्ति सब और बाहु वाली है वह परम शक्ति सब और सामर्थ्य वाले हैं उस परम शक्ति ने अपने बाहुबल की क्षमता से स्वर्ग को बिना आधार के उत्पन्न किया है। वह परमात्मा एक ही है। कहा भी गया है–

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देवऽएक:।।[10]

श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी परमेश्वर की सर्वव्यापकता से जगत् की सृष्टि का प्रतिपादन बताया गया है, यथा–

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एक:।।[11]

वह परमेश्वर सब ओर नेत्रों वाला, सब ओर मुखों वाला, सब ओर भुजाओं वाला और सब ओर पैरों वाला है। वह एकमात्र देव द्युलोक और पृथ्वी की रचना करता हुआ वहाँ के मनुष्य-पक्षी आदि प्राणियों को दो भुजाओं और पतत्रों (पैरों एवं पंखों) से युक्त करता है। भीष्मस्तवराज के अनुसार भी जिनके भीतर सब कुछ विद्यमान है, जिनसे सब स्थावर-जंगम उत्पन्न होता है, जो स्वयं ही सर्वस्वरूप हैं, सदा ही सब ओर व्यापक हो रहे हैं और सर्वमय हैं, उन सर्वात्मा परमेश्वर को प्रणाम किया गया है, यथा–

यस्मिन् सर्वं यत: सर्वं य: सर्वं सर्वतश्च य:।
यश्च सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नम:।।[12]

तैत्तिरीयोपनिषद् में संपूर्ण चराचर जगत् स्थावर जंगम को ब्रह्म से उत्पन्न माना गया है। और इस प्रकार बताया गया है–

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। यद् ब्रह्मेति।।[13]

भीष्मस्तवराज में भी समस्त संसार के कारण रूप परमेश्वर को नमस्कार करते हुए भीष्मजी कहते हैं–

यस्मात् सर्वा: प्रसूयन्ते सर्गप्रलयविक्रिया:।
यस्मिंश्चैव प्रलीयन्ते तस्मै हेत्वात्मने नम:।।[14]

विष्णुसहस्रनाम में भी एक ही परम शक्ति भगवान् विष्णु का सृष्टि निर्माण एवं प्रलय के देवता के रूप में स्तवन किया गया है, यथा–

यत: सर्वाणि भूतानि भवन्त्यादियुगागमे।
यस्मिंश्च प्रलयं यान्ति पुनरेव युगक्षय।।[15]

उसी बात को श्रीमद्भगवद्गीता में बताते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं–स्थावर जंगम चराचर जगत् की उत्पत्ति इस ब्रह्म रूप

योनि से होती है, उस योनि में स्वयं भगवान् कृष्ण बीज प्रदान करने वाले परम पिता स्वरूप है–

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भव: सर्वभूतानां ततो भवति भारत।।[16]

भीष्मस्तवराज में वैदिक देव विभूतियों विश्वेदेव, मरुद्गण, रुद्र, आदित्य, अश्विनीकुमार, वसु, सिद्ध और साध्य वैदिक देव विभूतियों की एक ही परमात्मा में एकाकारता को बताते हुए कहा गया है–

विश्वे च मरुतश्चैव रुद्रादित्याश्विनावपि।
वसव: सिद्धसाध्याश्च तस्मै देवात्मने नम:।।[17]

श्रीमद्भगवद्गीता के इस श्लोक में वैदिक काल में स्तुत्य देवताओं का दिग्दर्शन भगवान् श्रीकृष्ण के विराट स्वरूप के अंदर किया गया है–

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे।।[18]

ऐतरेय ब्राह्मण में भी विष्णु को समस्त देवताओं में श्रेष्ठ और पवित्रतम माना गया है, और कहा भी गया है, यथा–

अग्निर्वै देवानामवमो विष्णु: परम:,
तदन्तरेण सर्वा अन्या देवता:।[19]

प्रश्नोपनिषद् में वैदिक एकात्मवाद की प्राण तत्त्व के रूप में सर्वोपरिता स्वीकार करते हुए उसमें अग्नि, सूर्य, वायु, इंद्र, रुद्र, पृथ्वी, सत्, असत्, अमृत, अंतरिक्ष, इत्यादि के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है, यथा–

इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता।
त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पति:।।[20]
एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायु:।
एष पृथिवी रयिर्देव: सदसच्चामृतं च यत्।।[21]

भीष्मस्तवराज में भी परम पुरुष परमात्मा की प्राण रूप में स्तुति की गई है–

अन्नपानेन्धनमयो रसप्राणविवर्धन:।
यो धारयति भूतानि तस्मै प्राणात्मने नम:।।[22]

जो प्रत्येक शरीर के भीतर वायुरूप में स्थित हो अपने को प्राण–अपान आदि पाँच स्वरूपों में विभक्त करके सम्पूर्ण प्राणियों को क्रियाशील बनाते हैं, उन वायुरूप परमेश्वर को नमस्कार है–

विभज्य पञ्चधाऽऽत्मानं वायुर्भूत्वा शरीरग:।
यश्चेष्टयति भूतानि तस्मै वाय्वात्मने नम:।।[23]

संहारकर्ता के रूप में भगवान् विष्णु सृष्टि के एक हजार युग बीतने पर प्रचण्ड ज्वालाओं से युक्त प्रलयकालीन अग्नि का रूप धारण कर सम्पूर्ण प्राणियों का संहार करते हैं, उन घोररूपधारी परमात्मा को प्रणाम है–

योऽसौ युगसहस्रान्ते प्रदीप्तार्चिर्विभावसु:।
सम्भक्षयति भूतानि तस्मै घोरात्मने नम:।।[24]

अग्नि जिनके मुख हैं, वे देवता सम्पूर्ण जगत् को धारण करते हैं, जो हविष्य के सबसे पहले भोक्ता हैं, उन अग्निहोत्रस्वरूप परमेश्वर को नमस्कार है–

हुताशनमुखैर्देवैर्धार्यते सकलं जगत्।
हवि:प्रथमभोक्ता यस्तस्मै होत्रात्मने नम:।।[25]

नारायण को ही परब्रह्म, परम तप तथा सर्वस्व माना गया हैं–

नारायण: परं ब्रह्म नारायणपरं तप:।
नारायण: परो देव: सर्वं नारायण: सदा।।[26]

सत्य विष्णुमय है, सारा संसार विष्णुमय है, इस प्रकार सब कुछ विष्णुमय है, यथा–

यथा विष्णुमयं सत्यं यथा विष्णुमयं जगत्।
यथा विष्णुमयं सर्वं पाप्मा मे नश्यतां तथा।।[27]

कर्ममात्र को प्रकाशित करने वाले मन्त्रों को 'वाक' कहते हैं। मन्त्रों के अर्थ की व्याख्या करने वाले ब्राह्मणग्रन्थों के वाक्य 'अनुवाक' कहलाते हैं। कर्म के अंग आदि से सम्बन्ध रखने वाले देवता आदि का ज्ञान कराने वाले वचन 'निषद्' कहलाते हैं। विशुद्ध आत्मा एवं परमात्मा का ज्ञान कराने वाले वचनों की 'उपनिषद्' संज्ञा है। इन सभी में सत्य और सत्यकर्मा एक ही परमपद विद्यमान् हैं, कहा भी गया है–

यं वाकेष्वनुवाकेषु निषत्सूपनिषत्सु च।
गृणन्ति सत्यकर्माणं सत्यं सत्येषु सामसु।।[28]

वैदिक काल में जिनकी स्तुतियाँ की जाती थी, जिनके लिए यज्ञ में हवि प्रदान की जाती थी, उन सभी के लिए ऋग्वेद में अलग–अलग स्तुतियों का वर्णन मिलता है। यजुर्वेद में विविध प्रकार के यज्ञों का वर्णन मिलता है। ब्राह्मण ग्रंथों में भी यज्ञ मंत्रों की व्याख्या की गई है। इन सभी ग्रंथों में दिए गए समस्त मंत्र जिनको समर्पित है ऐसे एक ही परमपिता भगवान् श्रीविष्णु को नमस्कार करते हुए भीष्म जी कहते हैं–

चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्यां पञ्चभिरेव च।
हूयते च पुनर्द्वाभ्यां तस्मै होमात्मने नम:।।[29]

ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद जिसके आश्रय हैं, पाँच प्रकार

का हविष्य जिसका स्वरूप है, गायत्री आदि सात छन्द ही जिनके सात तन्तु हैं, उन यज्ञ के रूप में प्रकट हुए परमात्मा को प्रणाम है–

ऋग्यजु:सामधामानं दशार्धहविरात्मकम्।
यं सप्ततन्तुं तन्वन्ति तस्मै यज्ञात्मने नम:।।[30]

विष्णुसहस्रनाम में भी यज्ञ के रूप में प्रकट हुए परमात्मा को प्रणाम करते हुए स्तुति की गई है–

यज्ञभृद् यज्ञकृद् यज्ञी यज्ञभुग् यज्ञसाधन:।
यज्ञान्तकृद् यज्ञगुह्यमन्नमन्नाद एव च।।[31]

जो ऋषि हजार वर्षों में पूर्ण होने वाले प्रजापतियों के यज्ञ में सोने की पाँख वाले पक्षी के रूप में प्रकट हुए थे, उन हंसरूपधारी परमेश्वर को प्रणाम है–

य: सहस्रसमे सत्रे जज्ञे विश्वसृजामृषि:।
हिरण्यपक्ष: शकुनिस्तस्मै हंसात्मने नम:।।[32]

अथर्ववेद में उस एक ही परम शक्ति की काल के रूप में स्तुति की गई है तथा उस काल की मन, प्राण, नाम, प्रजा, ऋतु, संवत्सर, तप, हिरण्यगर्भ, ईश्वर इत्यादि में व्याप्ति मानी गई है–

काले मन: काले प्राण: काले नाम समाहितम्
कालेन सर्वा नन्दन्त्यागतेन प्रजा इमा:।।[33]
काले तप: काले ज्येष्ठं काले ब्रह्म समाहितम्
कालो ह सर्वस्येश्वरो य: पितासीत् प्रजापते:।।[34]

भीष्मस्तवराज में भी उस परम शक्ति की काल रूप से उपासना की गई है–

युगेष्वावर्तते योगैर्मासर्त्वयनहायनै:।
सर्गप्रलययो: कर्ता तस्मै कालात्मने नम:।।[35]

जो प्रत्येक युग में योगमाया के बल से अवतार धारण करते हैं और मास, ऋतु, अयन तथा वर्षों के द्वारा सृष्टि और प्रलय करते रहते हैं, उन कालरूप परमात्मा को प्रणाम है। जो स्वयं शुद्ध हैं, जिनकी प्राप्ति का मार्ग भी शुद्ध है, जो हंसस्वरूप, तत् पद के लक्ष्यार्थ परमात्मा और प्रजापालक परमेष्ठी हैं, उनका न आदि है न अन्त। वे ही परब्रह्म परमात्मा हैं। उनको न देवता जानते हैं न ऋषि। एकमात्र सबका धारण-पोषण करने वाले ये भगवान् श्रीनारायण हरि ही उन्हें जानते हैं। भीष्मजी सब ओर से सम्बन्ध तोड़ केवल उन्हीं परमात्मा से नाता जोड़कर सब प्रकार से उन्हीं सर्वात्मा श्रीकृष्ण की शरण लेते है–

शुचिं शुचिपदं हंसं तत्पदं परमेष्ठिनम्।।[36]
युक्त्या सर्वात्मनाऽऽत्मानं तं प्रपद्ये प्रजापतिम्।
अनाद्यन्तं परं ब्रह्म न देवा नर्षयो विदु:।।[37]
एको यं वेद भगवान् धाता नारायणो हरि:।।[38]

अग्नि जिनका मुख है, स्वर्ग मस्तक है, आकाश नाभि है, पृथ्वी पैर है, सूर्य नेत्र हैं और दिशाएँ कान हैं, उन लोकरूप परमात्मा को प्रणाम है–

यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षिति:।
सूर्यश्चक्षुर्दिश: श्रोत्रे तस्मै लोकात्मने नम:।।[39]

जो सुवर्ण के समान कान्तिमान्, अदिति के गर्भ से उत्पन्न, दैत्यों के नाशक तथा एक होकर भी बारह रूपों में प्रकट हुए हैं, उन सूर्यस्वरूप परमेश्वर को नमस्कार है–

हिरण्यवर्णं यं गर्भमदितेर्दैत्यनाशनम्।
एकं द्वादशधा जज्ञे तस्मै सूर्यात्मने नम:।।[40]

वैदिक पुरुष सूक्त में संसार की एक ही परम शक्ति के रूप में स्तुत्य– '*सहस्रशीर्षा पुरुष: सहस्राक्ष: सहस्रपात्।*'[41] विशेषताओं वाला विराट पुरुष भीष्मस्तवराज में भगवान् विष्णु के स्वरूप को धारण कर लेता है। वर्णन इस प्रकार है–

हरिं सहस्त्र शिरसं सहस्त्र चरणेक्षणम्।
सहस्त्र बाहुमुकुटं सहस्त्र वदनोज्वलम्।।[42]

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नामक चतुर्वर्ण की उत्पत्ति वैदिक पुरुष के अंगों से हुई है। भीष्मस्तवराज में भी चातुर्वर्ण्यरूप भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए भीष्म जी कहते हैं–

ब्रह्म वक्त्रं भुजौ क्षत्रं कृत्स्नमूरूदरं विश:।
पादौ यस्याश्रिता: शूद्रास्तस्मै वर्णात्मने नम:।।[43]

ब्राह्मण जिनके मुख हैं, सम्पूर्ण क्षत्रिय-जाति भुजा है, वैश्य जंघा एवं उदर हैं और शूद्र जिनके चरणों के आश्रित हैं, उन चातुर्वर्ण्यरूप परमेश्वर को नमस्कार है। ऋग्वेद में रुद्र देवता को अत्यधिक रौद्र रूप में स्तवन किया गया है तथा अनेक सूक्तों में उनकी स्तुति भगवान् विष्णु के साथ की गई है। इसी एकात्मभाव को प्रतिस्थापित करते हुए भीष्मस्तवराज में भी भीष्मजी ने भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुति की है जो वैदिक एकदेवतावाद का प्रबल पुष्टिकरण किया है, यथा–

शूलिने त्रिदशेशाय त्र्यम्बकाय महात्मने।
भस्मादिग्धाङ्गलिङ्गाय तस्मै रुद्रात्मने नम:।।[44]

जो त्रिशूल धारण करने वाले और देवताओं के स्वामी हैं, जिनके तीन नेत्र हैं, जो महात्मा हैं तथा जिन्होंने अपने शरीर पर विभूति रमा रखी है, उन रुद्ररूप परमेश्वर को नमस्कार है।

चन्द्रार्धकृतशीर्षाय व्यालयज्ञोपवीतिने।
पिनाकशूलहस्ताय तस्मै उग्रात्मने नम:।।[45]

जिनके मस्तक पर अर्धचन्द्र का मुकुट और शरीर पर सर्प का यज्ञोपवीत शोभा दे रहा है, जो अपने हाथ में पिनाक और

त्रिशूल धारण करते हैं, उन उग्ररूपधारी भगवान् शंकर को प्रणाम है। इस विश्व की रचना करने वाले परमेश्वर! आपको प्रणाम है। विश्व के आत्मा और विश्व की उत्पत्ति के स्थानभूत जगदीश्वर! आपको नमस्कार है। आप पाँचों भूतों से परे हैं और सम्पूर्ण प्राणियों के मोक्षस्वरूप ब्रह्म है, यथा-

विश्वकर्मन् नमस्तेऽस्तु विश्वात्मन् विश्वसम्भव।
अपवर्गोऽसि भूतानां पञ्चानां परतः स्थितः।।[46]

निष्कर्ष-

मानवसृष्टि के संविधान रूप में स्थित वेद उस परम शक्ति की उपासना में समर्पित है तथा उस विराट पुरुष की भी स्तुति करता है। वेद संपूर्ण चराचर जगत् और ब्रह्मांड की शक्ति को विविध रूपा स्मरण करने पर और स्तुति करने पर भी एकत्व के भाव को स्वीकार करता है। वह एक ही रूप में इस ब्रह्मांड का नियोक्ता है। वैदिक साहित्य में जिस एकेश्वरवाद की संकल्पना के बीच हमें दिखाई देते हैं वह परवर्ती साहित्य में भी दिखाई देते हैं, उसी कड़ी में महाभारत के शांति पर्व में भी विष्णु भगवान् की स्तुति में उसी एक परम शक्ति के बीज हमें दिखाई देते हैं। भीष्मस्तवराज वैदिक सनातन संस्कृति के एक देवतावाद का प्रबल पुष्टिकर्ता एवं समर्थक है। वैदिक काल में अनेक देवताओं की अलग-अलग ऋषियों द्वारा स्तुति की जाती थी लेकिन उनके मूल में एक ही परम शक्ति विद्यमान थी। तत्कालीन ऋषि-मुनियों की प्रखर मेधा के अनुसार कभी वह शक्ति इंद्र के रूप में थी, कभी अग्नि के रूप में, कभी विष्णु के रूप में, कभी रुद्र के रूप में। इस प्रकार विविध रूपों में की गई स्तुतियों के मूल में एक ही परम शक्ति की उपासना की भावना थी। उसी प्रकार भीष्मजी द्वारा भीष्मस्तवराज में भी भगवान् श्रीकृष्ण को अलग-अलग विविध रूपात्मक नामों से, कार्यों से, विशेषताओं से, ब्रह्मा विष्णु महेश की समग्र अनुभूति से भक्ति के सनातन प्रवाह को भावानुभूति से संजोया गया है, वह यही सिद्ध करता है कि भीष्मस्तवराज वैदिक कालीन अनेकात्मवाद में एकात्मवाद की प्रबल प्रख्यापना करता है। अंततोगत्वा निष्कर्ष के रूप में है यह कहा जा सकता है कि वह परम शक्ति एक रूपा है विविध नामों से पुकारा जाने के बाद भी वह एक ही रूप में स्थिर है। बहुधा रूपों में उपलब्ध होने के बाद भी उसका समग्रभाव रूप एकत्व ही है अतः ईश्वर एक है उसकी सत्ता एक है और भीष्मस्तवराज एकेश्वरवाद का प्रबल समर्थन करता है। महाभारत का भीष्मस्तवराज अनादि काल से ईश्वर विषय जिज्ञासाओं को लेकर जितने भी मत मतान्तर, जिज्ञासा, तर्क, आधार, प्रमाण उपलब्ध है या शास्त्र रूप में बताएं गए हैं वह सब नियति रूप से उस एक परम तत्त्व की स्तुति करते हैं। उसके वैकल्पिक रूप में बहुधा नाम हो सकते हैं लेकिन समग्र रूप से उसकी एक ही सत्ता है। जिस प्रकार सभी नदियाँ नाले एक महासागर में विलीन होते है उसी प्रकार ईश्वर विषयक सारे चिंतन मनन एकत्व भाव को स्वीकार करते है अतः यह सिद्ध होता है की ईश्वर सत्ता एक है।

सन्दर्भ सूची-

1. श्रीमद्भगवतगीता-10/22
2. ऋग्वेद, 1/164/46, अथर्ववेद 9/10/28
3. निरुक्त, 7/4/8-9
4. भागवत संप्रदाय पृष्ठ संख्या 58
5. ऐतरेय आरण्यक 3/2/3/12
6. शांतिपर्व भीष्मस्तवराज 47/42
7. महाभारत, शांतिपर्व, 47/45
8. शांतिपर्व, भीष्मस्तवराज, 47/70
9. ईशोपनिषद- 1
10. यजुर्वेद, 17/19
11. श्वेताश्वतरोपनिषद, तृतीय अध्याय/3
12. महाभारत, शांतिपर्व, भीष्मस्तवराज, 47/84
13. तैत्तिरीयोपनिषद्, 3/1/1
14. महाभारत, शांतिपर्व, 47/62
15. महाभारत, अनुशासनपर्व, विष्णुसहस्त्रनाम, 149/11
16. श्रीमद्भगवद्गीता, 14/3
17. महाभारत, शांतिपर्व, 47/49 दक्षिणात्य संस्करण
18. श्रीमद्भगवद्गीता, 11/22
19. ऐतरेय ब्राह्मण, 1/1
20. प्रश्नोपनिषद्, 2/9
21. प्रश्नोपनिषद्, 2/5
22. महाभारत, शांतिपर्व, 47/72
23. महाभारत, शांतिपर्व, 47/66
24. महाभारत, शांतिपर्व, 47/5
25. महाभारत, शांतिपर्व, 47/40 दक्षिणात्य संस्करण
26. महाभारत, शांतिपर्व, 47/100
27. महाभारत, शांतिपर्व, 47/97
28. महाभारत, शांतिपर्व, 47/26
29. महाभारत, शांतिपर्व, 47/44
30. महाभारत, शांतिपर्व, 47/43

(शेष पृष्ठ -107 पर)

ISSN 2278 - 0327

कोविड-19 के पश्चात् भविष्यगामी योजनाएं एवं कौशल विकास

डॉ. अर्चना चौहान
व्याख्याता (राजनीतिशास्त्र)
केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, भोपाल (म.प्र.)

मेरी स्मृति में भारतीय जीवन समाज अर्थव्यवस्था और शिक्षा के क्षेत्र में अभी तक दो महत्त्वपूर्ण क्षण आए हैं। एक 1990 में उदारवादी अर्थव्यवस्था के लागू होने के बाद भारतीय जीवन में आया गुणात्मक परिवर्तन, दूसरा 2020 में कोरोना के आने के बाद हमारे जीवन एवं समाज में एक बड़े रूपांतरण का उद्घोष। पहला रूपांतरकारी क्षण अर्थव्यवस्था के प्रभाव, पूंजी की माया और गति के कारण घटित हुआ। दूसरा रूपांतरण मानव जीवन में कोरोना वायरस के रहस्यात्मक घातक प्रवेश के कारण हुआ है।

पहले रूपांतरण ने जीवन में हमारी गति बढ़ाई। भूमंडलीकरण, हवाई यात्राएं साइबर स्पेस आदि विकसित हुए। दूसरे परिवर्तन ने गति को रोककर हमें स्थिर कर दिया है। कोरोना जनित यह समय असाधारण मानवीय संकट का समय है। संकट की यह घड़ी पूरी दुनिया को बदलती जा रही है।

सामाजिक जीवन, राजनीतिक, शिक्षा, अर्थव्यवस्था सबको इस कोरोना जनित समय के साथ खुद को समायोजित करना है। इस संकट के खत्म होने के बाद भी भय, व्याकुलता, घबराहट हमारे जीवन के तत्व के रूप में शामिल हो जाएगा और हमारे सामाजिक जीवन के मूल चरित्र को अस्त-व्यस्त करता रहेगा।

हमें आज द्वितीय विश्वयुद्ध के संदर्भ समझ में आते हैं, अगर कोरोना वायरस एक युद्ध है तो फिलहाल इससे लड़ा नहीं जा सकता और न ही मारा जा सकता है। युद्धकाल के दौरान शत्रु अप्रत्याशित होते हैं लेकिन वे शायद ही कभी अदृश्य होते हो फिर भी किसी युद्ध में अगर विजय हासिल करना हो तो विवेकपूर्ण योजना बनाना जरुरी है। चाहे वह युद्ध कोरोना के खिलाफ ही क्यों न हो।

इस महामारी के कारण दुनिया में दो पहलू उभरे पहला ये सार्वजानिक स्वास्थ्य के आपातकाल की स्थिति है जो लंबे समय तक जारी रह सकती है। दूसरा क्रम का प्रभाव वैश्विक वित्तीय बाजारों को तेजी से तबाह कर रहा है। कोविड-19 ने न केवल संपत्ति की कीमतों और शेयर बाजारों को ध्वस्त किया बल्कि वास्तविक जीवन और वास्तविक गतिविधियों को भी बुरी तरह से दुष्प्रभावित किया है। इसमें संदेह नहीं कि दुनिया मंदी में जा चुकी है। वैश्विक जीडीपी 2021 के लिए अनुमानत: 25 फीसदी से नीचे आ जाए। व्यावसायिक संचालन को बंद करने के लिए विवश होना पड़ा है जिसके कारण हर जगह उत्पादन में गिरावट हुई है, महामारी के कारण त्रासद मानवीय परिणामों के अलावा आर्थिक अनिश्चितता भी बढ़ गई है। वैश्विक अर्थव्यवस्था को 2020 में एक ट्रिलियन डॉलर का नुकसान संभावित है। यू एन सी टी ए डी का मानना है कि भारत को 348 मिलियन डॉलर का व्यापारिक घाटा होगा।

आई बी एम में ग्लोबल स्टूडेंट हब की प्रमुख मलीसा सस्सी ने बताया कि इतनी बड़ी संख्या में युवा व बच्चे स्कूल, कॉलेज बंद होने के कारण खुद को घर में कैद महसूस कर रहे हैं ऐसे में 'कोउदवर्क' मुहिम व्यावहारिक, मनोरंजक और वर्चुअल शिक्षा का ही हिस्सा है उन्होंने कहा कि युवाओं को तकनीकी कौशल के साथ सशक्त बनाना, उद्यमशीलता को बढ़ावा देना पेशेवर विकास और परामर्श सुनिश्चित करना बेहद अहम है। इसके कारण ही दुनिया के लोगों को टेक्नॉलॉजी का इस्तेमाल करने से कहीं आगे जाकर उसका सृजन करने और तकनीकी सशक्तिकरण से कुछ ठोस हासिल करना संभव बनाया जा सकता है।

भारत सरकार ने कौशल विकास एवं उद्यमशीलता मंत्रालय भी स्थापित किया है। इनके माध्यम से अपने रोजगारपरकता कौशलों को बढ़ाने पर फोकस करता है। अपनी शुरुआत से ही कौशल विकास एवं उद्यमशीलता मंत्रालय ने नीति, संरचना एवं मानकों को औपचारिक रूप देने, नए कार्यक्रमों एवं योजनाओं को आरम्भ करने, नई अवसंरचना का सृजन करने एवं वर्तमान संस्थानों का उन्नयन करने, राज्यों के साथ सांझेदारी करने, उद्योगों के साथ सहयोग करने एवं कौशलों के लिए समाजगत स्वीकृति एवं आकांक्षाओं का निर्माण करने के लिहाज से उल्लेखनीय पहल और सुधार किये हैं। भारत सरकार द्वारा लगभग 180 से ज्यादा

नई सरकारी योजनाएं प्रारम्भ की गई हैं जिनका लाभ सीधा भारत की जनता को मिल रहा है। ये योजनाएं न केवल सामाजिक कल्याण की ही योजानाएं हैं बल्कि कई ऐसी पहलों के नाम भी शामिल है जिनके माध्यम से सरकार भारत में एक सकारात्मक बदलाव लाने की कोशिश की जा रही है।

भारत सरकार द्वारा योजनाएं प्रारंभ की गई हैं पुरानी योजनाओं के साथ कुछ नई योजानएं शुरु की गई है जिसमें प्रमुख हैं-

आत्मनिर्भर भारत अभियान (12 मई 2020) -

भारत को अब विश्व पटल पर उत्पादक, निर्यात और औद्योगिक क्षेत्र में बढ़ावा देना इसका प्रमुख उद्देश्य है। इस अभियान ने देश की आत्मनिर्भरता पर जोर दिया और भारत को अब विश्व में उत्पादक और औद्योगिक क्षेत्र में उभर कर आना है। 20 लाख करोड़ का आर्थिक पैकेज भारत देश की कुल जीडीपी के 10 प्रतिशत से भी अधिक है। इस योजना के द्वारा भारत को व्यवसायिक हब बनाना है, जहाँ पर निर्यात के साथ स्वदेशी निर्यात को भी ज्यादा से ज्यादा बढ़ाना है।

प्रधानमंत्री स्वामित्व योजना (28 अप्रैल 2020) -

इसका उद्देश्य गांव की संपत्ति पर किसी भी बैंक से लोन की व्यवस्था की बात कही गई। यह सरकारी योजना ग्रामीण क्षेत्रों के विकास को लेकर शुरु की गई, जिससे देश भर के पंचायती राज संस्थानों में 'ई गर्वनेंस' को मजबूती मिलेगी। ग्रामीण जनता अपनी संपत्ति पर लोन लेकर लघु व कुटीर उद्योगों की शुरुआत कर सकती है।

भारत सरकार को इन योजनाओं के साथ कौशल शिक्षा पर जोर देना चाहिए। हम कोरोना वायरस महामारी के कारण एक कठिन दौर से गुजर रहे हैं। भारतीय समाज के सभी सदस्यों के संयुक्त प्रयासों से यह मुश्किल चरण भी खत्म हो जाएगा। आने वाले समय में दुनिया की ज्यादातर अर्थव्यवस्था प्रतिकूल रूप से प्रभावित होगी। ऐसे में कौशल शिक्षा की अहम भूमिका होगी।

'कौशल शिक्षा' में वृद्धि की आवश्यकता है। 'कौशल शिक्षा' संचालित करने वाले कई विश्वविद्यालय हैं, जो इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान देते आ रहे हैं। परन्तु वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए इसमें वृद्धि करने की आवश्यकता है।

हमारी प्राथमिकता शिक्षा प्रणाली को कौशल शिक्षा की ओर उन्मुख करना है। हमें अपने पॉलिटेकनिक और आई टी आई के व्यापक पुनर्गठन और उद्योगों के साथ इनका एकीकरण करने की आवश्यकता है। इसके अलावा हमें कुशल व्यक्तियों के लिए उनकी योग्यता को उन्नत करने और उद्योग में उच्च पदों पर पहुँचाने के अवसर पैदा करने की जरुरत भी है।

भारत की सेना दुनिया की दूसरी सबसे बड़ी और चौथी सबसे मजबूत सेना है। हमारे पास एक मजबूत हथियार निर्माण उद्योग नहीं है। हम अपने परिष्कृत सैन्य हार्डवेयर का सबसे अधिक आयात करते हैं। भारत के मौजूदा पारंपरिक सैन्य उपकरण में आधुनिकीकरण की गंभीर आवश्यकता है। एक वैश्विक शक्ति होने के लिए भारत को अपनी सैन्य क्षमताओं को विकसित करने की जरुरत है।

आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस (ए आई)

कोविड-19 इलाज के लिए प्रभावी और सुरक्षित दवाई का विकास कर ले। दवाई के विकास में आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस एक आदर्श सहयोगी साबित होगा। यह मामनवीय प्रयासों का पूरक बन सकेगा। वर्तमान परिस्थितियों में आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस की मदद से लाभ लिया जा सकता है।

हमारे देश में कई संस्थाएं इस कौशल शिक्षा के लिये पहले से ही कार्य कर रही हैं। कई पाठ्यक्रम संचालित किये जा रहे हैं। भविष्य में लंबा समय चुनौतिपूर्ण रहेगा इसमें कौशल शिक्षा के माध्यम से कैसे युवाओं को शिक्षा दी जाये जिससे बेरोजगारी की समस्या को दूर कर अर्थव्यवस्था को मजबूत किया जा सके। आने वाले समय में हमें व्यवसायिक शिक्षा को स्कूलों से जोड़ने का काम मजबूती से करना होगा।

वोकेशनल शिक्षा को अत्यन्त महत्व दिया जाना चाहिए। यह केवल सरकारी स्कूल तक ही सीमित न रहे इसे सुरुचिपूर्ण बनाने के लिये प्रयास किये जाने चाहिए। हमें बच्चों की क्षमता को समझकर पाठ्यक्रम शुरु करना आवश्यक है। संस्थानों का नये रूप में पाठ्यक्रमों को निर्मित करन पड़ेगा जिससे ज्यादा से ज्यादा रोजगार की प्राप्ति हो सके। हमें छोटे-छोटे पाठ्यक्रम तैयार करने होंगे जिससे हम डिग्री कोर्सेस की पढ़ाई के साथ-साथ इन पाठ्यक्रम को करके रोजगार प्राप्त हो सके।

वर्तमान परिस्थितियों में अब शिक्षा को रोजगार परक बनाने पर सबसे ज्यादा जोर देना पड़ेगा ग्रामीण, शहरी महिलाओं को भी इस क्षेत्र में ज्यादा से ज्यादा भागीदारी हो इसके लिये छोटे-छोटे पाठ्यक्रम व प्रशिक्षण का निर्माण किया जाये।

भारत विभिन्न संस्कृतियों वाला देश है प्रत्येक राज्य की अपनी हस्तकला अत्यंत प्रभावी रही है। इन हस्तकलाओं का प्रशिक्षण व पाठ्यक्रम तैयार कर रोजगारोन्मुखी बनाने का कार्य तीव्रता से किया जाना चाहिए। अधिक से अधिक लोगों को इससे जोड़ा जाये।

व्यवसायिक पाठ्यक्रमों की तरफ लोगों की रुचि कम रहती है इन पाठ्यक्रमों को रुचिपूर्ण व अनिवार्य रूप से प्रत्येक शैक्षणिक संस्थाओं से जोड़ने का कार्य किया जाना चाहिए। वर्तमान परिस्थितियों में हस्तकलाओं के पाठ्यक्रम व प्रशिक्षण की व्यवस्था कम बजट में भी की जा सकती है। हस्तकलाओं के कई स्थानों पर नि:शुल्क प्रशिक्षण भी दिया जाता है परन्तु बहुत कम संख्या में लोग प्रशिक्षण लेते हैं। इसे और अधिक रुचिपूर्ण बनाने पर ज्यादा जोर देने की जरुरत है। शैक्षणिक संस्थाओं को अब केवल डिग्री देने के अलावा कौशल शिक्षा, व्यवसायिक पाठ्यक्रमों पर जोर देना होगा, साथ ही सैद्धान्तिक शिक्षा से ज्यादा प्रायोगिक शिक्षा पर बल देने की जरुरत है।

विश्वविद्यालयों के संसाधनों के अधिक प्रभावी उपयोग को बढ़ावा देने और छात्रों को बेहतर अवसर प्रदान करने के उद्देश्य से मिलकर कार्य करें। आज औद्योगिक क्षेत्र में अत्यंत प्रतिस्पर्धा है इस बढ़ती प्रतिस्पर्धा के साथ शिक्षा में कौशल का एकीकरण भारत को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाएगा। आज प्रत्येक संगठन प्रशिक्षित कर्मचारी को नियुक्त करना चाहता है। प्रशिक्षण मॉड्यूल बाने की जरुरत है। जो छात्रों को मशीन लर्निंग और फंक्शन लर्निंग की सभी प्रक्रियाओं से गुजरने में सक्षम बनाते हैं।

बेचलर ऑफ वोकेशनल और मास्टर ऑफ वोकेशनल जैसे पाठ्यक्रमों को भी भविष्य की डिग्री माना जाना चाहिए, क्योंकि इनके माध्यम से ही हम ऐसे ग्रेजुएट छात्र तैयार कर पाएंगे जिन्हें सामान्य शिक्षा सामग्री के अलावा उनके द्वारा चुने गए कौशल क्षेत्रों में मजबूत कौशल ज्ञान और अनुभव हासिल होगा।

आज के युवाओं में कौशल संबंधी कमी को दूर करने के लिए अपने 'स्विस ड्यूअल एजुकेशल सिस्टम' के साथ सर्वोत्तम सलाह और समर्थन प्रदान करके राज्य सरकारों की भी मदद की जा सकती है। सरकार को छात्रों के लिए ऐसे अवसरों की शुरुआत करनी चाहिए जिससे अधिक से अधिक कौशल शिक्षा से जुड़ सकें। स्कूलों के पाठ्यक्रम में एक विषय के रूप में भी अनिवार्य कौशल शिक्षा को जोड़ा जाए, जिससे छात्र कौशल आधारित करियर के अवसरों के बारे में जान सके और उसे चुन सकें।

कौशल शिक्षा के नये वोकेशनल पाठ्यक्रमों की शुरुआत विश्वविद्यालयों में की जानी चाहिए। वर्तमान परिस्थितियों में अर्थव्यवस्था को सुधारने के लिए कौशल शिक्षा का योगदान महत्त्वपूर्ण होगा।

(पृष्ठ-104 का शेष.....)

31. महाभारत, अनुशासनपर्व, 149/118
32. महाभारत, शांतिपर्व, 47/46
33. अथर्ववेद, 19/53/7
34. अथर्ववेद, 19/53/8
35. महाभारत, शांतिपर्व, 47/67
36. महाभारत, शांतिपर्व, 47/17
37. महाभारत, शांतिपर्व, 47/18
38. महाभारत, शांतिपर्व, 47/19
39. महाभारत, शांतिपर्व, 47/69
40. महाभारत, शांतिपर्व, 47/39
41. ऋग्वेद, 10/90/1
42. महाभारत, शांतिपर्व, भीष्मस्तवराज, 47/23
43. महाभारत, शांतिपर्व, 47/68
44. महाभारत, शांतिपर्व, 47/81
45. महाभारत, शांतिपर्व, 47/82
46. महाभारत, शांतिपर्व, 47/85

ISSN 2278 - 0327

'छल' पदार्थ विवेचन

विद्याप्रकाश सिंह
सहायक प्राध्यापक (संस्कृत)
शा.पुरुषोत्तम संस्कृत महावि.खजुरीताल, सतना(म.प्र.)

भारतीय ज्ञान-परम्परा में दर्शनशास्त्र का विशिष्ट स्थान है तथा वस्तुवादी भारतीय दर्शनों में न्यायदर्शन अन्यतम है। जैसा कि भाष्यकार वात्स्यायन ने कहा भी है कि-

प्रदीपः सर्वविद्यानां उपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता।।[1]

अर्थात् न्यायशास्त्र सभी विद्याओं के लिए दीपक के समान, सभी कर्मों का उपाय तथा सभी धर्मों का आश्रय है। मानव के चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए न्याय-शास्त्र में षोडश पदार्थों का तत्त्वज्ञान साधन के रूप में स्वीकार किया गया है। तर्कसंग्रहकार आचार्य अन्नम्भट्ट ने पदार्थ का सामान्य लक्षण किया है- *'अभिधेयत्वं पदार्थसामान्यलक्षणम्'*[2] अर्थात् जिसे कोई नाम दिया जा सके, वह 'पदार्थ' कहलाता है। इस सृष्टि में न्यायदर्शन की दृष्टि से 16 षोडश पदार्थ हैं। उद्देश, लक्षण और परीक्षा के माध्यम से उक्त षोडश पदार्थों द्वारा तत्वज्ञान प्राप्त होता है। इस रीति से तत्वज्ञान प्राप्त होने पर दु:ख का नाश होता है, जिससे निश्रेयस अर्थात् समस्त दुखनाशरूप 'मोक्ष' की प्राप्ति होती है, यह महर्षि गौतम का कथन है।[3] षोडश पदार्थ इस प्रकार हैं-1.प्रमाण, 2. प्रमेय, 3. संशय, 4. प्रयोजन, 5. दृष्टान्त, 6. सिद्धांत, 7. अवयव, 8. तर्क, 9. निर्णय, 10. वाद, 11. जल्प, 12. वितण्डा, 13. हेत्वाभास, 14. छल, 15. जाति, एवं 16. निग्रहस्थान।[4]

छल पदार्थ का स्वरूप -

षोडश पदार्थों में क्रमप्राप्त छल पदार्थ चतुर्दश क्रम में आता है। लोक में अथवा सामान्य व्यवहार में छल शब्द व्याज, स्वरूपाच्छादन, यथार्थगोपन, शठता, कपट एवं कपटयुद्ध आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है। परन्तु दर्शनशास्त्र में वह एक प्रकार की उक्तिवक्रता का अर्थ द्योतित करता है, जिसके अनुसार किसी विशेष अर्थ में कहे हुए वादी के शब्द के अर्थान्तर की कल्पना प्रतिवादी कर लेता है। जल्प और वितण्डा कथाओं में प्रतिवादी यदि अवसर पर किसी कारण से सदुत्तर नहीं दे पाता है, तो पराजय के भय से चुप ना रहकर असदुत्तर कहने के लिए भी कभी विवश हो जाता है यह असदुत्तर विशेष ही छल पदार्थ है।[5]

महर्षि गौतम प्रणीत न्यायसूत्र के प्रथम अध्याय द्वितीय आह्निक में छल पदार्थसम्बन्धी आठ सूत्र क्रमशः प्राप्त होते हैं। उनके अनुसार छल की परिभाषा इस प्रकार है-

'वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम्'[6]

अर्थात् अर्थ विकल्प की युक्ति द्वारा वक्ता के वचन का विरोध करना छल कहलाता है।

विश्वनाथपञ्चानन ने छल को *''निरनुयोज्यानुयोग''* निग्रह-स्थान के अन्तर्गत स्वीकार किया है। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि- जो अर्थ वक्ता के तात्पर्य का विषय नहीं है, उस अर्थ के विशेष्य-विशेषण अथवा संसर्ग में अन्यार्थ की कल्पना करके दोष दिखलाना छल कहलाता है। उदाहरण के लिये यदि किसी को *'नवकम्बलयुक्त'* कहा जाए जिसमें वक्ता का तात्पर्य नवीन कम्बल से हो, और प्रतिवादी उपर्युक्त वाक्य में नौ संख्या का अर्थ लेकर दोष दिखलावे तो यहाँ पर *विशेषणगत* छल होगा। धर्म को प्रमेय बताने में पुण्य की कल्पना करके भागासिद्धि दोष निकालने में *विशेष्यगत* छल है। ठीक इसी प्रकार किसी वस्तु को धूम के कारण अग्निमान् कहा जाए और प्रतिवादी ऊपर उठते हुए धुएँ के किसी अंश को लेकर दोष निकालने लगे कि यहाँ पर अग्नि नहीं है, तो संसर्गगत छल होगा।[7]

तर्कभाषाकार केशवमिश्र ने छल की परिभाषा इस प्रकार दी है- *'अभिप्रायान्तरेण प्रयुक्तस्यशब्दास्यार्थान्तरं प्रकल्प्य दूषणाभिधानं छलम्'*।[8]

अर्थात् अन्य अभिप्राय से प्रयुक्त शब्द का अन्य अर्थ कल्पित करके दोष का अभिधान करना छल है।

सर्वदर्शन संग्रह में- *'शब्दावृत्तिव्यत्ययेन प्रतिषेधहेतुः'*[9] अर्थात् शब्दवृत्तिव्यत्यय करके प्रतिषेध का कारण छल कहा गया है। दूसरे शब्दों में शब्दवृत्ति को बदलकर प्रतिषेध के कारण को छल कहते हैं।

इसी को तार्किकरक्षाकार वरदराज ने *'अनिष्टमर्थमारोप्यत-*

त्रिषेधश्छलं मतम्'[10] कहा है,अर्थात् अनिष्ट अर्थ का आरोप करके इष्ट अर्थ का निषेध करना छल है।

प्रस्तुत लक्षणसूत्र पर भाष्यकार ने कहा सामान्य लक्षण पर उदाहरण नहीं दिया जा सकता। अतएव अगले सूत्र में छल के तीन प्रकार बताये गये हैं –

1. वाक्छल,
2. सामान्यच्छल
3. उपचारच्छल।

1. वाक्छल–

छल के त्रिविध भेदों में क्रमप्राप्त वाक्छल प्रथम प्रकार का छल है। सूत्रकार ने लक्षण इस प्रकार दिया है–

'अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पनावाक्छलम्'[11]

अर्थात् अनेकार्थ शब्द में विशेष अर्थ न कहा जाय और प्रतिवादी वादी के अभिप्राय से भिन्न अर्थ की कल्पना कर ले तो वाक्छल होता है। इसको उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है–*'कृष्णसर्प'* इस उदाहरण में वादी यदि *'काले सर्प'* के अभिप्राय से कृष्णसर्प कहे तथा प्रतिवादी अर्थान्तरकल्पित करके यह कहे कि *भगवान् कृष्ण को सर्प कह रहे हो,* तो वाक्छल होगा। यहाँ पर वक्ता का अभिप्राय काला सर्प था न कि भगवान् कृष्ण। तथापि वाक्छल द्वारा प्रतिवादी अर्थान्तर द्वारा छल करता है। इसी प्रकार एक अन्य उदाहरण भी ले सकते हैं, जैसे कि औषधि के अभिप्राय से कोई कहे कि इस वन में *'अश्वगंध'* है और प्रतिवादी अर्थान्तर कल्पित करके कहे कि यहाँ कोसों तक कोई अश्व नहीं है, तो उसका गंध कैसे हो सकता है। इस प्रकार वाक्छल होता है।

प्रतिवादी को यदि वादी के वचन पर संदेह होता है, तो वक्ता से बिना पूछे उसे दोषारोपण नहीं करना चाहिए। इसे जयंतभट्ट ने न्यायमंजरी में इस प्रकार बताया है–

तस्माच्छब्दार्थसंदेहे प्रयोक्ता वत्स पृच्छयते।
न त्वर्थान्तरमारोप्य तन्निषेधो विधीयते॥[12]

अर्थात् शब्दार्थ का संदेह होने पर प्रयोक्ता से उसका यथार्थ पूछा जा सकता है न कि अर्थान्तर का आरोप करके निषेध किया जाना चाहिए।

विश्वनाथ पञ्चानन ने वाक्छल को इस प्रकार परिभाषित किया है–*'यत्र शक्यार्थद्वयेसम्भवति एकार्थनिर्णायकविशेषा-भावादभिप्रेतशक्यार्थकल्पनेन दूषणाभिधानं तद् वाक्छलम्'*।[13]

अभिप्राय है कि– जहाँ दो वाच्य अर्थ होते हों, तथा एक अर्थ के निर्णायक किसी विशेष का अभाव हो, वहाँ अभिप्रेत अर्थ से भिन्नार्थ की कल्पना द्वारा दोष कथन वाक्छल कहलाता है। आचार्यविश्वनाथ ने वाक्छल के दो उदाहरण इस प्रकार प्रस्तुत किए हैं– प्रथम, जैसे *'गौर्विषाणी'* कहने से प्रतिवादी द्वारा 'गो' का अर्थ गज लिया जाय और वह यह दोष निकाले कि उसके दो सींग होते ही नहीं हैं। द्वितीय उदाहरण में इसी प्रकार *'श्वेतोधावति'* में वादी *'श्वेत अश्व दौड़ रहा है'*, इस अभिप्राय से श्वेतो धावति बोलता है किंतु प्रतिवादी *'श्वा+इतः'* इस प्रकार का विग्रह करके कहे कि यहाँ कोई कुत्ता नहीं दौड़ रहा है, तो वह वाक्छल होगा।

2. सामान्य छल–

क्रमानुसार सामान्यच्छलद्वितीय भेद है। न्याय सूत्र में इसका लक्षण इस प्रकार है–

'सभवतोर्थऽस्यातिसामान्ययोगादसम्भूतार्थ कल्पनासामान्यच्छलम्'[14]

अर्थात् जहाँ अर्थ सम्भव हो और अत्यंत सामान्य विचार से उसका कहीं ना होना भी पाया जाय वहाँ असम्भव अर्थ की कल्पना करना सामान्यच्छल कहलाता है। उदाहरणार्थ *'विद्या और आचरण से सम्पन्न ब्राह्मण'* कहा जाय और प्रतिवादी असम्भव अर्थ की कल्पना करे कि शूद्र में भी विद्या और आचरण हो सकते हैं, तो क्या वह भी ब्राह्मण होगा? प्रस्तुत उदाहरण में विवक्षित अर्थ केवल किसी एक ब्राह्मण की प्रशंसा मात्र है जो अतिसामान्य है।

एक अन्य उदाहरण यदि कहा जाए कि *'अमुक खेत में धान हो सकती है'* तो बीज का उगना सम्भव है, फिर भी वाक्य में उसका कथन अभीष्ट नहीं है, केवल क्षेत्र की प्रशंसा की गई है। इसी प्रकार ब्राह्मण की प्रशंसा वाले वाक्य में वचनविघात होना सामान्यच्छल कहलाता है।

3. उपचारच्छल–

यह छल का अंतिम प्रकार है। इसका लक्षण सूत्रकार ने इस प्रकार किया है–

'धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थसद्भावप्रतिषेध उपचारच्छलम्'[14]

अर्थात् जिस छल में धर्म (शब्द)का यथार्थ प्रयोग हो किन्तु अन्य अर्थ में देखे गए शब्द का अन्य अर्थ में प्रयोग हो वहाँ लक्षणा आदि से धर्म विकल्प का निर्देश होता है। ऐसे लाक्षणिक प्रयोगों में विवक्षित अर्थ की सत्ता का निषेध करना उपचारच्छल है। दूसरे शब्दों में–यदि वादी ने लक्षणा को मानकर लक्ष्य अर्थ में छल का प्रयोग किया हो और प्रतिवादी उस पद का शक्ति से वाच्य अर्थ को लेकर अर्थ की सत्ता का निषेध करता है, तो वह उपचारच्छल है।

प्रस्तुत सूत्र के भाष्य में वात्सायन ने *'उपचार'* पद को निम्न

प्रकार परिभाषित किया है-

'अतद्भावे तद्वदभिधानमुपचार:'[16]

अर्थात् वैसा अर्थ न होने पर उस अर्थ से युक्त कथन को उपचार कहते हैं। प्रस्तुत उदाहरण द्वारा उपचारच्छल को इस प्रकार समझा जा सकता है। यथा-*'मञ्चा: क्रोशन्ति' 'मञ्च चिल्ला रहे हैं'* प्रस्तुत वाक्य में प्रतिवादी यह दोष निकाले कि निर्जीव मञ्च कैसे चिल्ला सकते हैं? यह उपचारच्छल है। वस्तुत:वादी को भी यही अर्थ अभीष्ट है उसने लक्षणावृत्ति द्वारा कहा तथा प्रतिवादी ने इसे वाच्यार्थ में लेकर दोष निकाला। जयन्तभट्ट ने भी भाष्यकार के मत का समर्थन किया है-

कुर्यादाक्षेपं यश्च भाक्त प्रयोगे
वाच्यं मत्वार्थं तत्र वक्तुर्न दोष:।
तेन त्वात्मीयं शब्दवृत्तानभिज्ञं
रूपं व्यक्तं स्यादत्र वृध्दा: प्रमाणम्॥[17]

अर्थात् लाक्षणिक प्रयोग में वाच्य अर्थ को समझकर जब प्रतिपक्षी अपेक्षा करता है तब उसमें वक्ता का दोष नहीं होता, प्रतिवादी अपनी अज्ञानता/अनभिज्ञता को ही व्यक्त करता है। इस विषय में वृद्धजन ही प्रमाण हैं।

विश्वनाथपञ्चानन ने उक्त सूत्र की वृत्ति में लक्षण दिया कि-*'शक्तिलक्षणयोरेकतरवृत्त्याप्रयुक्ते शब्दे तदपरवृत्त्या य: प्रतिषेध: स उपचारच्छलम्'*[18]

अर्थात् अभिधा और लक्षणा में से किसी एक शब्दवृत्ति द्वारा शब्द का प्रयोग हुआ हो और प्रतिवादी अपरशब्दवृत्ति द्वारा निषेध करें तो उपचारच्छल होता है।

विश्वनाथ ने उदाहरण दिया है-*'अहं नित्य:'* यहाँ शक्ति नामक शब्दवृत्ति से आत्मा की नित्यता कही गई है। यदि प्रतिवादी यह कहे कि तुम तो अमुक व्यक्ति से पैदा हुए हो, नित्य कैसे हो सकते हो? तो वहाँ उपचारच्छल होगा क्योंकि शरीर अर्थ में आत्मा लाक्षणिक है। जहाँ वाच्य अर्थ का वक्ता को अभिप्रेत है जबकि प्रतिवादी ने लाक्षणिक अर्थ को लेकर छल किया।

निष्कर्ष -'छल' का सफलतापूर्वक प्रयोग विद्वान् ही कर सकता है, क्योंकि जो एक शब्द के अनेकार्थक नहीं जानता है वह स्वयं भी छल में फँस सकता है। अत: छल नामक पदार्थ शास्त्र एवं परम्परा की रक्षा हेतु तथा वाद्विद्या में विजय पाने में सहायक होता है।

इस प्रकार हम संक्षेप में कह सकते हैं कि न्यायदर्शन की परम्परा को सतत् रूप से आगे बढ़ाने में 'छल' पदार्थ का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। जिसका उल्लेख संक्षेप में प्रस्तुत शोधपत्र में किया गया है।

सन्दर्भ सूची-

1. न्या. भा., 1.1.1
2. त. सं. दी., पृ. 2
3. संस्कृत वाङ्मय क बृहद् इतिहास, उपाध्याय, बलदेव, पृ.-30
4. न्यायसूत्र 1/1/1
5. न्याय-परिचय, झा, डॉ. किशोरनाथ, पृष्ठ-260
6. न्या. सू.1/2/10
7. न्या. सू. वृ. 1/1/1
8. त.भा. पृ. 259
9. स. द. सं. (न्यायमत)
10. ता.र.पृ.150
11. न्या.सू.1/2/12
12. न्या.म.पृ-170 भाग-2
13. भा. द. बृ.को. पृ. 1534 भाग-4
14. न्या.सू.1/2/13
15. न्या.सू.1/2/14
16. न्यायभाष्य 1/2/14
17. न्या.सू.भाग-2, पृ.172
18. भा. द. बृ. को. पृ. 1536, भाग-4

संदर्भ- ग्रन्थसूची

- न्यायसूत्र, डॉ. हरिसिंह गौर, एकेडमी प्रेस, इलाहाबाद,प्रथमसंस्करण, 1948
- न्यायभाष्य, वात्यायन, स. नारायण मिश्र, काशी संस्कृत ग्रन्थमाला, वाराणसी, 1973
- संस्कृत वाङ्मय क बृहद् इतिहास,उपाध्याय, बलदेव, उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान लखनऊ
- न्याय-परिचय, झा, डॉ. किशोरनाथ, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी-1
- तर्कभाषा, मिश्र,केशव, चौखम्भा संस्कृत भवन वाराणसी
- भारतीय दर्शन की रूपरेखा, उपाध्याय, बलदेव, चौखम्भा पब्लिशर्स वाराणसी,1999
- न्यायदर्शन वात्स्यायनभाष्यसहित, शास्त्रि,आचार्य ढुण्ढिराज, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-11970
- तार्किकरक्षा- सारसंग्रह (हरिदत्तदीक्षितकृतविवृतिव्याख्ययासंवलित:) डा. पि. टि. जि. यतिराजसंपत्कुमाराचार्य:, तिरुपति:, हरिप्रियाप्रकाशनम्, 2004.
- भारतीय दर्शन बृहत्कोश, 'ज्ञान' बच्चूलाल अवस्थी, शारदा पब्लिशिंग हाउस, 2004

ISSN 2278 - 0327

प्राचीन व मध्यकाल की शिक्षा पर ज्योतिष का प्रभाव

डॉ. मंजू सिंह
व्याख्याता- इतिहास
केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, भोपाल

सभ्यता एवं संस्कृति के सम्यक् प्रसार तथा विकास के लिए एवं वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रिय प्रगति के लिए शिक्षा नितान्त आवश्यक है। मानव जीवन का उच्चतम ध्येय इहलोक की भौतिक उन्नति पूर्वक सृष्टि और जीवन की गुत्थियों को सुलझाना और ज्ञान का आलोक फैलाना है। प्राचीन भारतीय मनीषियों ने यह तथ्य भलीभाँति हृदयंगम किया था और इसीलिए सुदूर अतीत में भी भारत में शिक्षा की सुन्दर व्यवस्था दृष्टिगोचर होती है। प्राचीन शिक्षा प्रणाली की उपादेयता के कारण ही भारत का समस्त प्राचीन एवं विशाल वाङ्मय इतना सुरक्षित और समृद्ध बना रह सका तथा भारतीय मानव सुसंस्कृत बन पाया। 'शिक्ष्यते विद्योपादीयतेऽनया इति शिक्षा'[1] इस व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ से संसार की किसी भी विद्या का ज्ञान प्राप्त कराने का साधन ही शिक्षा है। यह छः वेदाङ्गों में सबसे पहले अपना स्थान रखता है क्योंकि इसी शिक्षा के माध्यम से हम अन्य पाँच वेदाङ्गों को भलीभाँति समझने में सक्षम होते हैं।

शिक्षा के साथ वेदाङ्ग का जो एक सबसे महत्त्वपूर्ण अङ्ग है वह है ज्योतिष। इसे वेदाङ्ग के छः अङ्गों के द्वारा ही हम सही व गलत की पहचान कर सकते हैं। ज्योतषशास्त्र में तीन स्कन्ध (अङ्ग) है जैसा कि आचार्य वराहमिहिर ने कहा है-

ज्योतिःशास्त्रमनेकभेदविषयं स्कन्धत्रयाधिष्ठतं,
तत्कात्स्न्योंपनयस्य नाम मुनिभिः सङ्कीर्त्यते संहिता।
स्कन्धोऽस्मिन् गणितेन या ग्रहगतिस्तन्त्राभिधानस्त्वसौ,
होरान्योऽङ्गविनिश्चयश्च कथितः स्कन्धस्तृतीयोऽपरः।।[2]

वराहमिहिर ने ज्योतिष के तीन अङ्ग बताये हैं- 1. तन्त्र, 2. होरा, 3. संहिता। तन्त्र वस्तुतः खगोल विद्या के लिए दूसरा नाम है। होरा तथा संहिता फलित ज्योतिष के अन्तर्गत आते हैं। ज्योतिषशास्त्र के तीनों स्कन्धों में होरास्कन्ध (फलित ज्योतिष) लोक (समाज) में अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस स्कन्ध के अन्तर्गत मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन विषयक पक्षों पर ज्योतिषशास्त्रीय एवं शिक्षा शास्त्रीय पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है।

ज्योतिषशास्त्र के अन्तर्गत काल की महिमा का विशेष महत्त्व और विहित काल पर अत्यधिक बल दिया गया है। जैसा कि आज वर्तमान समय के समाज में कभी-कभी यह सुनने में आता है कि अमुक बच्चे की कुण्डली में विद्या नहीं है परन्तु फिर भी वह अच्छी शिक्षा ग्रहण करके अपने लक्ष्य पर पहुँच जाता है। तो ऐसा कैसे हो जाता है इसका प्रमुख कारण यह है कि बच्चे का जो विद्यारम्भ विहित काल (उपनयन संस्कार) में किया गया है। तो उसका जो यह दूसरा जन्म हुआ उसमें विद्यायोग बना अर्थात् 'यज्ञोपनयन' होना अर्थात् दूसरा जन्म इसे द्विज कहते हैं। इस विहितकाल की महिमा वेदाङ्ग ज्योतिष में प्रतिपादित है। यथा-

वेदा हि यज्ञार्थमभि प्रवृत्ताः,
कालानुपूर्वा विहिताश्च यज्ञः।
तस्मादिदं काल विधानशास्त्रं,
यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञान्।।[3]

प्राचीन व मध्यकाल की शिक्षा पर ज्योतिष का प्रभाव -

शिक्षा व ज्योतिष वेदाङ्ग के एक अभिन्न अङ्ग है दोनों ही मनुष्य के जीवन में एक धुरी के रूप में कार्य करते हैं। जिस प्रकार शिक्षा जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त चलने वाली एक प्रक्रिया है। उसी प्रकार ज्योतिष भी गर्भधारण से प्रारम्भ होकर मृत्यु पर्यन्त होने वाले शुभ व अशुभ सूचनाओं का ज्ञान कराने वाला एक महत्त्वपूर्ण शास्त्र है जो समस्त मानव जीवन को प्रभावित करती है। शिक्षा द्वारा व्यक्ति का सर्वाङ्गीण विकास होता है जैसे- चरित्र का निर्माण, व्यक्तित्व का विकास, कर्त्तव्यों का ज्ञान तथा अपने साहित्य व संस्कृति का संरक्षण आदि। इसी तरह ज्योतिष द्वारा इन सभी प्रक्रियाओं को सुचारु रूप से पूर्ण करने का एक महत्त्वपूर्ण साधन है क्योंकि कालगणना या काल चक्र को ध्यान में रखकर किया गया कार्य व्यक्ति के मार्ग में पड़ने वाले समस्त बाधाओं को सन्तुलित या कम करने में सहायक सिद्ध होता है। क्योंकि यह व्यक्ति के जीवन के समस्त पहलुओं पर संस्कारों के महत्त्व को इंगित करता है। भारतीय ऋषियों ने संस्कारों के द्वारा

मनुष्य के व्यक्तित्व को परिष्कृत करने और एक विशिष्ट लक्ष्य की ओर प्रेरित करने का प्रयत्न किया है। जिस प्रकार कोई चित्र सुन्दर रंगों के समायोजन से शनैः शनैः अपने सौन्दर्य को उद्घाटित करता है उसी प्रकार विधि विधानपूर्वक किए गए संस्कारों से व्यक्ति में ब्राह्मण्य प्रतिष्ठित होता है।

उपनयन संस्कार में विहित काल -

सम्पूर्ण संस्कारों के मध्य उपनयन संस्कार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है। इसी संस्कार से व्यक्ति को द्विजत्व प्राप्त होता है। जिस बालक का उपनयन संस्कार नहीं होता था वह वर्ण तथा आश्रम के समस्त कर्त्तव्यों से बेदखल माना जाता था। उपनयन संस्कार प्राप्त करके ही व्यक्ति संस्कृत के विशाल ज्ञान भण्डार में प्रवेश करने का अधिकारी होता था। ब्रह्मविद्या की शिक्षा के लिए आचार्य के द्वारा विद्यार्थी को स्वीकार किए जाने का संस्कार उपनयन है। यह उपनयन संस्कार भारतीय समाज के तीनों वर्गों के लिए होता था। यथा-

विप्राणां व्रतबन्धनं निगदितं गर्भाज्जनेवष्टिमे
वर्षे वाप्यथ पञ्चमे क्षितिभुजां षष्ठे तथैकादशे।
वैश्यानां पुनरष्टमेऽप्यथ पुनः स्थाद्द्वादशे वत्सरे,
कालेऽपि द्विगुणे गते निगदितं गौणं तदाहुर्बुधाः।।[4]

वर्ण	काम्य	नित्य	गौड़
1. ब्राह्मण	05 वर्ष	08 वर्ष	16 वर्ष
2. क्षत्रिय	06 वर्ष	11 वर्ष	22 वर्ष
3. वैश्य	08 वर्ष	12 वर्ष	24 वर्ष

सूत्रों एवं स्मृतियों में यह संस्कार विशद रूप में वर्णित है। ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य- इन तीनों वर्णों के लिए इस संस्कार के भिन्न-भिन्न नियम निर्धारित किए गए।

आयु - प्रायः सभी सूत्रों एवं स्मृतियों में ब्राह्मण बालक के जन्म से आठवें वर्ष में, क्षत्रिय बालक के ग्यारहवें वर्ष में तथा वैश्य बालक के बारहवें वर्ष में उपनयन संस्कार किए जाने का विधान है। अधिक ज्ञान प्राप्ति, दीर्घ आयु, अधिक बल आदि की आकांक्षा होने पर उपनयन क्रमशः पाँचवें, छठे तथा आठवें वर्ष में भी किया जा सकता था। उपनयन संस्कार करने की अधिकतम सीमा का निर्धारण भी मिलता है। ब्राह्मण बालक का सोलह वर्ष, क्षत्रिय बालक का बाइसवें वर्ष तथा वैश्य बालक का चौबीस वर्ष की आयु तक उपनयन संस्कार हो ही जाना चाहिए। इस आयु का भी उल्लंघन होने पर तीनों ही वर्ण के बालक शिष्टों के द्वारा निन्दित 'व्रात्य' हो जाते थे। उपनयन संस्कार के लिए निश्चित आयु होना और यह संस्कार न होने पर 'व्रात्य' घोषित किया जाना इसी तथ्य को सूचित करता है कि समाज के सभी उपयुक्त बालक समय पर उचित शिक्षा प्रारम्भ करें तथा देश की सांस्कृतिक धरोहर को ग्रहण करके उसका संवर्धन एवं पोषण करें।

समय - इस संस्कार को सम्पन्न करने के समय का भी निश्चित निर्धारण किया गया है। सामान्यतः सूर्य की उत्तरायण स्थिति में यह संस्कार किया जाता था। किन्तु वैश्य बालक का उपनयन सूर्य के दक्षिणायन रहते समय भी किया जा सकता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य वर्ण के लिए क्रमशः वसन्त, ग्रीष्म एवं शरद ऋतु में उपनयन प्रशस्त कहा गया है। इसके पश्चात् यज्ञोपवीत एवं दण्ड भी संस्कार इसी के अन्तर्गत होते हैं।

सावित्री उपदेश - सम्पूर्ण उपनयन संस्कारों में यज्ञोपवीत धारण कराने के सदृश ही सावित्री उपदेश भी महत्त्वपूर्ण है। आचार्य के द्वारा सावित्री मन्त्र दिया जाना ही इस तथ्य का द्योतक है कि गुरु ने शिष्य को वेदाध्ययन के योग्य मान कर उसे स्वीकार कर लिया है। आचार्य बालक की ओर देखते हुए सावित्री मन्त्र का एक पाद फिर दो पाद फिर पूरा मन्त्र सुनाता है। सामान्यतः यह उपदेश उपनयन संस्कार के दिन ही होता है किन्तु इसे एक वर्ष छः मास चौबीस दिन, बारह दिन या तीन दिन के उपरान्त भी दिया जा सकता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य वर्ण के लिए सावित्री मन्त्र का उपदेश क्रमशः गायत्री, त्रिष्टुप् तथा जगती छन्दों में किया जाना चाहिए। इसी मन्त्र का उपदेश होने पर बालक का दूसरा जन्म सिद्ध होता है जिसमें उसकी माता सावित्री तथा पिता आचार्य ही है क्योंकि यह बुद्धि की प्रेरणा का मन्त्र है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उपनयन संस्कार के इस समग्र स्वरूप से इसकी महत्ता स्वतः स्पष्ट है कि जीवन में शिक्षा एवं ज्ञान के महत्त्व को सूचित करने के लिए उपनयन संस्कार के विविध विधान किया गया है और यह सभी ज्योतिषशास्त्र के अन्तर्गत काल गणना के द्वारा प्रयोग किया जाता है। प्राचीन काल से मध्यकाल तक हिन्दू समाज या धर्म में ब्रह्मचारी उपनय संस्कार से लेकर शिक्षा प्राप्त कर लेने तक गुरु गृह में ही निवास करता था। किन्तु शनैः शनैः गुरु गृहों में निवास समाप्त होता गया और घर पर ही शिक्षा ग्रहण की जाने लगी। इसी कारण इस संस्कार की विविध विधियाँ भी व्यर्थ होती गई। वर्तमान युग में उपनयन संस्कार का प्राचीन स्वरूप लगभग समाप्त होता जा रहा है। अब उपनयन अर्थ केवल जनेऊ धारण करना रह गया।

सन्दर्भसूची -

1. गुरोश्चहलः पाणिनि 3/3/103
2. बृहत्संहिता, अ.-1, श्लो.-9 **(शेष पृष्ठ-115 पर...)**

ISSN 2278 - 0327

योग का पर्यावरण से सम्बन्ध एक विवेचनात्मक अध्ययन

डॉ रजनी नौटियाल
सहायक आचार्य
प्राकृतिक चिकित्सा एवं योग विभाग
हे0 न0 ब0 गढवाल, केन्द्रीय विश्वविद्यालय, श्रीनगर

सारांश – प्रस्तुत शोध पत्र में योग का पर्यावरण से सम्बन्ध एक विवेचनात्मक अध्ययन पर चर्चा की गयी है। विश्व में आज प्रत्येक क्षेत्र में भागदौड़, तनाव और स्पर्धात्मक वातावरण के होने से मनुष्य का जीवन इसी भागदौड़ के चारों तरफ घूम रहा है परिणामस्वरूप वह तनावग्रस्त हो रोगी बनता जा रहा है, उसकी आवश्यकतायें असीमित होने के कारण इस भागदौड़ में वह अपने पर्यावरण को भी नुकसान पहुँचाकर अपने वर्तमान को बनाये रखने के पीछे अपने भविष्य को खराब कर रहा है। इतना ही नहीं अपने रोग को दूर करने के लिए उसके पास समय का अभाव है। आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह पर्यावरण को क्षतिग्रस्त कर रहा है। प्रकृति में विकार का अर्थ ही अष्टांग योग में उल्लेखित अपरिग्रह के सिद्वान्त को न अपनाना ही है। अपरिग्रह में स्थिर हो जाने पर व्यक्ति जन्म के विषय में ज्ञान प्राप्त कर लेता है कि किन करणों से यह जन्म हुआ, क्यू हुआ, आगे क्या होगा इत्यादि जिससे वह आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संचय करना छोड़ देता है और अपने पर्यावरण को सुरक्षित रखता है। वह पंचमहाभूतों में रहते हुए उनका आनन्द लेकर अष्टांग योग–यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि में लीन हो मोक्ष की तरफ अग्रसर होता है।

कूट शब्द–योगदर्शन, पर्यावरण, भारतीय दर्शन, प्राकृतिक–चिकित्सा।

प्रस्तावना – योगदर्शन के अनुसार योग की परिभाषा 'चित्तवृत्तिनिरोध:' अर्थात् चित्त की वृत्तियों पर रोक या नियन्त्रण आना ही योग है। इसलिए जिसकी वृत्तियाँ नियन्त्रण में होगी वह पर्यावरण के साथ मित्रता रखने में सहायक होगा और निरोगी हो अपने लक्ष्य की तरफ अग्रसर होगा। सामान्यत: शास्त्रों मे पर्यावरण दो शब्दों से मिलकर बना है 'परि और आवरण' परि का अर्थ है चारों तथा आवरण का अर्थ है ढके हुये अर्थात् प्राणी को छोड़कर जो कुछ उसके चारों ओर है, उसमें प्रकृति सामाजिक वातावरण अध्यात्मिक एंव प्रकृति क्रियायें ये सब पर्यावरण के अर्न्तगत आते हैं। जैसे गर्भावस्था में गर्भ ही बालक के लिए पर्यावरण है। जन्म लेने पर पारिवारिक तथा भौतिक दशायें पर्यावरण में आती है। प्राणी का पर्यावरण उसका समूह, खेल पड़ोसी वातावरण और प्राकृतिक सिद्वान्त में कहा गया है कि पर्यावरण उस सभी को कहते हैं जो किसी एक को चारों ओर से घेरे हुए है तथा उस पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालता है। पर्यावरण में दो दशायें होती है।

1. बाह्य पर्यावरण, 2. आन्तरिक पर्यावरण

पर्यावरण की बाह्य दशाओं मे भौतिक दशायें जिसमें जल, वायु, प्रकाश, ऋतु, मिटटी, आद्रता, आवास आदि सम्मिलित हैं। और जैवकीय इसमें पेड़ पौधे वनस्पति, जीव–जन्तु, पशु–पक्षी पोषण आदि।

सामाजिक जनसंख्या मानव जीवन संगठन, धर्म, शिक्षा, संस्कृति, आर्थिक, संस्थायें, समूह, नगरीकरण औद्योगीकरण, प्रतिस्पर्धा ये सभी सामाजिक दशायें हैं।

आन्तरिक पर्यावरण में जीवन की अन्तराल आवश्यकतायें उद्देश्य एंव लक्ष्य तथा विगत अनुभव सम्मिलित होता है। इस प्रकार पर्यावरण द्वारा प्रदत आठ तत्वों द्वारा प्राणी का यथा सम्भव विकास होता है। पंचमहाभूत, मन, निद्रा, व्यायाम ये आठ मानव जीवन के विशेष पहलू है। जो प्राणी के जीवन में महत्व रखते हैं।

पंच महाभूतों की उत्पत्ति – सबसे पहले पर्यावरण मे पंच तत्वों (पंच महाभूत) की उत्पति होती है जैसे अंहकार की सहायता से भूतादि अहंकार द्वारा पंच तन्मात्राऐं उत्पन्न होती है और इनकी सहायता से पंच महाभूतों की उत्पति होती है। माण्डूक्य उपनिषद, प्रश्नोपनिषद तथा शिव स्वरोदय मानते है कि मानव शरीर पंच तत्वों से निर्मित है।

आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई है।

आकाश – सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा को चेतना शक्ति की प्रेरणा से शब्द का प्रादुर्भाव हुआ जिसमें आत्मा का बोध होने पर

आकाश उत्पन्न हुआ। अन्य चार तत्वों को विश्राम देना सबके अन्दर बाहर वर्तमान रहना तथा प्राण, इन्द्रिय और मन का आश्रय होता है, ये ही आकाश के कार्य रूप व लक्षण है। आधुनिक युग के वैज्ञानिक आकाश को (ईथर) या स्पेस कहते हैं। आकाश का गुण शब्द है और मानव शरीर में इसका स्थान मस्तिष्क में रहता है आकाश अन्य चार तत्वों को विश्राम करवाकर उनके स्थान पर उनकी कमी को पूरा करता है। आकाश व्यापक है। जिस प्रकार खाली शंख मे फूँक मारने पर उसकी आवाज हमारे कानों में पहुँचती है। यह व्यापक कार्य सिर्फ आकाश का ही है। इसका कार्य निकलना एवं प्रवेश करना है यह इसका चिह्न भी है यह अत्यन्त सूक्ष्म है।

वायु – अकाश की कालगति से विकार से होने पर उससे वायु तत्व की उत्पत्ति होती है। तृणादि को एकत्र करना शखाओं को हिला देना यह रूप रहित है, इसका कोई स्वरूप नहीं है इसका गुण स्पर्श है। मानव शरीर में स्थान भेद से इसके पाँच भेद हैं जो शरीर में अलग रूप में स्थान ग्रहण करे हुए है। प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान हैं। मानव जीवन में वायु का विशेष महत्व है वेदो मे कहा गया है कि वायु में अमृत है। वायु ही प्राण रूप में स्थित है शुद्ध वायु ग्रहण करने से मानव बुद्धिमान् बलवान् बनता है मन को शान्ति मिलती है, इसका स्थान छाती में है नाभि में स्थित प्राण वायु से मानव जीवन यापन करता है।

अग्नि – तदन्तर महाबलवान् वायु के विकृत होने पर संसार में तेज का यानी अग्नि की उत्पति होती है। वायु गतिशील है और गति से अग्नि की उत्पति होती है। जैसे दोनों हाथों को आपस मे रगड़ने से वह गरम हो जाते है, इसीलिए अग्नि से वायु उत्पन्न होती है वायु में अधिक मात्रा में ऑक्सीजन और हाइड्रोजन नामक गैसें होती है, इनमे हाइड्रोजन ज्वलनशील तथा ऑक्सीजन जलने में सहायक होती है। इन्हीं की सहायता से अग्नि उत्पन्न होती है। अग्नि में शब्द, स्पर्श, रूप आदि तीनों गुण है। अग्नि प्राणी के शरीर में कंधों में स्थित है, जो पाचन क्रिया को बढ़ाता है। हम जितना भी सुबह-सुबह सूर्य की किरणों का सेवन करते हैं वह हमारे सभी रोगों का नाश करती है। हमारी दिमागी शक्ति बढ़ाती है। अग्नि तत्व से शेष चारों तत्व तृप्त होते है इससे संसार में सौन्दर्य व जीवन है।

जल – अग्नि के विकृत होने पर जल की उत्पत्ति होती है। यदि ठोस वस्तु को अग्नि पर गरम किया जाता है, तो वह द्रव्य रूप में बदल जाता है इसी से जल की उत्पत्ति होती है। जल के गुण शब्द, स्पर्श, रूप एवं रस है जिसका स्पर्श शीतल हो वह जल है। जीवित रखना प्यास बुझाना पदार्थों को मृदु कर देना ताप की निवृत्ति कर देना जल के कार्य हैं। मानव शरीर के 100 भागों में 70 प्रतिशत जल अर्थात् हमारी आँखों मे 98.7 प्रतिशत, फेफड़ों में 79 प्रतिशत, हृदय में 79.5 प्रतिशत, रक्त में 80 प्रतिशत हड्डियों मे 25 प्रतिशत, मस्तिष्क में 90 प्रतिशत जल होता है। मानव शरीर के पैरों में इसका स्थान है। जल में अग्नि ग्रहण करने की क्षमता है।

पृथ्वी – जल से गन्ध युक्त गुणवती पृथ्वी उत्पन्न हुई है। जल को यदि ठंडा कर दिया जाय तो वह द्रव अवस्था को छोड़कर बर्फ के ठोस रूप में हो जाता है। पृथ्वी, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि गुणों से युक्त है। यह मानव शरीर में जांघों में स्थित है। पृथ्वी के गुण अन्य किसी तत्व में नहीं पाये जाते हैं। इनमें गन्ध गुण पृथ्वी का तथा अन्य चार गुण अन्तः तत्वों में हैं। सम्पूर्ण प्राणियों के स्त्रीत्व पुरुषत्व आदि गुणों को प्रकट करना ये पृथ्वी के ही कार्य हैं जिन पाँच तत्वों से हमारा शरीर बना है उनमें पृथ्वी तत्व प्रधान है। श्रुति में पृथ्वी को अन्न भी कहा गया है। सभी मानवीय सृष्टि का उत्पादन पृथ्वी ही है। पृथ्वी से ही औषधि, औषधियों से अन्न की उत्पत्ति हुई।

वस्तुओं को धारण करने से इसे धरती कहते हैं। परन्तु मनुष्य ने इस पृथ्वी की धरोहर का अपमान जनक कार्य कर इसके अस्तित्व को खतरे मे डाल दिया है। मनुष्य के अतिरिक्त इस पृथ्वी पर अनेकों प्राणी थलचल में है, जो अपना जीवन-यापन इसी पृथ्वी माता में बनाये रखते है और वे आन्नद पूर्वक जीवन-यापन करते है उनमें मनुष्य की भाँति कृत्रिमता नहीं होती है।

पंच महाभूतों का आयुर्वेद में महत्व- आयुर्वेद में इन पंच महाभूतों का विशेष महत्व है। गर्भ विकास भी इन पंच-महाभूतों पर ही आधारित है। शरीर के भावों रचनाओं में पृथ्वी तत्व का प्रयोग होता है त्रिदोष में जल, अग्नि, वायु अधिक कार्यरत हैं। देह की प्रकृति पंच तत्वों के आधार पर की गयी है। जैसे –

आकाश से शब्द
वायु से शब्द, स्पर्श
अग्नि से शब्द, स्पर्श, रूप
जल से शब्द, स्पर्श, रूप, रस
पृथ्वी से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध

उपरोक्त क्रम ही हमारे जीवन स्वास्थ्य और आन्नद के लिए उपादेयता और मूल्य दृष्टिकोण से वास्तविक और प्रकृति क्रम है। ये तत्व मानव जीवन के सुख समृद्धि के लिए आवश्यक हैं। पर्यावरण के तत्व शास्त्रों में इनके दो रूप प्रतिपादित है-सूक्ष्म तत्व और स्थूल तत्व है। सूक्ष्म पंच तत्वों की उत्पत्ति स्थूल पंच तत्वों

से प्रथम हुई है और स्थूल पंच तत्व ही सूक्ष्म पंच तत्वों का ही रूप है इन पंच तत्वों के सूक्ष्मांश से ही मानव का अन्त:करण बना है। इसलिए यह समझना हमारी भूल है कि पर्यावरण से केवल मानव शरीर पर प्रभाव पड़ता है। यह हमारे जीवन के स्तर को बडा और निम्न करता है। यही अन्त:करण विकास करता है पर्यावरण में कृत्रिमता का प्रयोग कर ही हमारे मानसिक बुद्धि भी कृत्रिम हो जाती है। पर्यावरण और मानव शरीर में जन्म जात साहचार्य रहा है। मानव पर्यावरण (प्रकृति) की गोद में जन्म लेता है पलता है और उसी के विस्तृत प्रांगण में क्रीडा कर अर्न्तधान हो जाता है। इस शरीर का निर्माण धरती, जल, अग्नि, आकाश और वायु इन पाँच प्राकृतिक तत्वों से बना है ये पाँच तत्व मानव जीवन के लिए प्रत्येक क्षण कल्याणप्रद हैं। सांख्य दर्शन का विकास-वाद इन्हीं तत्वों पर निर्भर है। योग दर्शन तत्वों के द्वारा ही मोक्ष के मार्ग को प्राप्त करना है। पंचतन्मात्राओं के द्वारा अन्य तत्वों का निर्माण होता है प्राकृतिक चिकित्सा भी इन्हीं पर्यावरण के तत्वों पर आधारित है।

योग का पर्यावरण से संबन्ध - योग दर्शन में भी पर्यावरण के कारण ही त्रिविध दु:ख उत्पन्न होते हैं। और इसी पर्यावरण के कारण उनका हरण भी होता है। अध्यात्मिक दु:ख आदि भौतिक दु:ख तथा आदि दैविक दु:ख मानव की इच्छा के अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थों की क्रमश: प्राप्ति एंव वियोग दु:ख का करण बनता है। अत: पर्यावरण से मानव को ऐसे आठ चिकित्सक भी प्राप्त होते हैं जिनके सहयोग से मानव अपने अन्तिम लक्ष्य मोक्ष और दु:ख का निवारण कर सकता है। आदि काल से ही मानव प्रकृति का उपासक रहा है ऋग्वेद उपासना सूक्तों से भरा पड़ा है उसमें अष्ट रूपों की आराधना और उपासना की गयी है, पर्यावरण मानव पूर्वजों की पूज्य थी। शिव स्वरोदय भी इन्ही पंच तत्वों का आराध्य है। योग दर्शन में अष्टांग योग के अन्तर्गत यम के पाँच भाग अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रहमचर्य, अपरिग्रह का पालन करने वाला व्यक्ति कभी पर्यावरण को नुकसान नहीं पहुँचाता वह पर्यावरण के साथ हिंसक नहीं बनता, उससे दौहन अर्थात् चोरी करना (अस्तेय) और पर्यावरण से प्राप्त वस्तुओं का अधिक सेवन या संचित करना नहीं करता। वह अपरिग्रह का पालन करता है इसी प्रकार नियम के अन्तर्गत शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्राणिधान का पालन करने वाला व्यक्ति पर्यावरण में ईश्वर का अनुभव कर उससे आत्मसात होता है। क्योंकि वह जान जाता है कि कण-कण में ईश्वर है। इसी प्रकार आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि में लीन होकर पर्यावरण से मित्रता कर मोक्ष की तरफ अग्रसर होता है।

निष्कर्ष - अत: हम कह सकते हैं कि अष्टांग योग -यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि का पालन कर चित्त की वृत्तियों को नियन्त्रण में लाकर व्यक्ति अपने जीवन के लक्ष्य को शान्ति, आनन्द से प्राप्त कर स्वास्थय लाभ को प्राप्त करता ही है तथा साथ ही मोक्ष की तरफ अग्रसर होता है। ऐसा व्यक्ति अपने पर्यावरण को खराब न कर उससे मित्रता रखता है। इसलिए अब भी समय है मानव को उन कार्यो से विरत होना चाहिए जिनके करने से पर्यावरण कुलषित और प्रदूषित हो रहा है पर्यावरण यदि स्वच्छ निर्मल होगा तभी मानव सृष्टि का विकास होगा।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची -

1. आरोग्य अंक - गीता प्रेस,गोरखपुर
2. योग दर्शन - पांतजल कृत, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली।
3. प्राकृतिक चिकित्सा एवं पर्यावरण - डॉ0 एच0सी0 शर्मा, किताब महल,दरियागंज, नई दिल्ली
4. भारतीय दर्शन - डॉ0 शोभा निगम,मोतीलाल वाराणसीदास, वाराणसी।
5. प्राकृतिक आयुर्विज्ञान - डॉ0 राकेश जिन्दल, आरोग्य सेवा प्रकाशन, मोदीनगर।
6. प्राकृतिक चिकित्सा सिद्वान्त एवं व्यवहार - डॉ0 पी0डी0 मिश्रा, मधुकर द्विवेदी, लखनऊ।
7. स्वस्थवृत्त- विज्ञान - प्रो0 राम हर्ष सिंह, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली।
8. रेणु त्रिपाठी, अपर्णा त्रिपाठी (1 जनवरी 2006) पर्यावरण भूगोल, ओमेगा पब्लिकेशन्स, ISBN 9788189612337
9. एच0 एम0 सक्सेना (2017) इनवायरमैन्ट जोगरफी, रावत पब्लिकेशन्स ISBN 978-81-316-0848-7

(पृष्ठ 112 का शेष....)

3. वेदाङ्ग ज्योतिष, श्लो.3, पृष्ठ-47
4. मुहूर्त्तचिन्तामणि।

सन्दर्भग्रन्थ -

1. मुहूर्त्तचिन्तामणि - केदारदत्त जोशी
2. भारतीय शिक्षा का इतिहास - सूबेदार सिंह
3. प्राचीन भारतीय शिक्षा और शिक्षाशास्त्री-डॉ. नत्थूलाल गुप्त
4. बौधायन्-धर्मसूत्र - डॉ. नरेन्द्र कुमार
5. शिक्षा के दार्शनिक आधार - डॉ. गिरीश पचौरी
6. वैदिक शिक्षा पद्धति - डॉ. भास्कर मिश्र

ISSN 2278 - 0327

रचनात्मक आकलन का स्वरूप

डॉ. अनूप कुमार पाण्डेय
प्राध्यापक, शिक्षा संकाय
केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, भोपाल परिसर

इहलोक में जन्म लेने वाला प्रत्येक मानव आत्मनिर्भर होने से पूर्व पूर्णत: पराश्रित और नि:सहाय होता है। अपने प्रत्येक वैयक्तिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए उसे दूसरे पर निर्भर होना पड़ता है। जैसे-जैसे शिशु की अभिवृद्धि और विकास होती जाती है, वह धीरे-धीरे समायोजन करना सीखने लगता है। समायोजन की इस प्रक्रिया में मानव की प्रत्येक अनुक्रिया अर्थपूर्ण ही नहीं होती अपितु उसे परिस्थिति के साथ सांमजस्य स्थापित करने के लिए कई निरर्थक अनुक्रियाएँ भी करनी होती है। इन्हीं निरर्थक अनुक्रियाओं में से कुछ अनुक्रियाएँ समय सापेक्ष होती हैं और सार्थक मानी जाती हैं। तभी तो थॉमस एल्वा इडिसन के द्वारा बल्ब बनाने की कहानी हम बड़े ही तल्लीनता से सुनते हैं।

नि:सन्देह एडिसन ने जिस बल्ब का आविष्कार किया था और जिस तकनीकि का प्रयोग किया था वह बल्ब और वह तकनीकि दोनों ही आज प्रासङ्गिक नहीं हैं। क्योंकि समय के सापेक्ष नहीं है। लेकिन 19 वीं शताब्दी में एडसिन का बल्ब अवश्य ही समय सापेक्ष था।

यहाँ आकलन के सन्दर्भ में एडिसन का जिक्र करना भी एक सुखद संयोग है। 19 वीं शताब्दी का 9 वा दशक में एक ओर अमेरिका में एडिसन जहाँ बल्ब को एक सार्थक स्वरूप प्रदान करने में जुटे थे वही जर्मनी के लिपजिंग विश्वविद्यालय में आकलन की आधारभूत शाखा संज्ञानात्मक मनोविज्ञान के अकल्पतरु संरचनावाद का अभिसिंचन किया जा रहा था। यूँ तो आकलन अपने आप में एक सार्वभौमिक शब्द है। इसीलिए इसकी विस्तृति भी अपार है, भारतीय काव्यशास्त्र के समीक्षकों ने शृङ्गार रस के उदाहरण में एक श्लोक का बहुधा उल्लेख किया है-

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिद्दनै-
निद्राव्यायामुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।।

उपयुक्त श्लोक में निर्वर्ण्य शब्द भी आकलन के सन्दर्भ में ही प्रयुक्त हुआ है।

सामान्य बोलचाल की भाषा में भी उपयोग होने वाले आकलन शब्द की यदि ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को देखें तो ज्ञात होता है कि वर्तमान काल में शैक्षिक प्रक्रिया में प्रचलित आकलन वस्तुत: ASSESSMENT का ही हिन्दी रूपान्तरण है और Assessment शब्द यूनान से आयात किया हुआ भारतीय शब्द है।

मूलत: Assess शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन भाषा के शब्द 'ad redere' (To Sit beside) से मानी जाती है। जिसका अर्थ होता है 'पास में बैठना' वस्तुत: मध्यकालीन समय में यूनान क्षेत्र में न्यायाधीश के पास बैठने के लिए एक सहायक की नियुक्ति होती थी इसका कार्य होता था कर (Tax) की गणना करना। अर्थात् न्यायाधीश के पास में बैठा व्यक्ति 'कर' निर्धारण की दृष्टि से लोगों की सम्पत्ति का अनुमान लगाता था। कालान्तर में इस शब्द का अर्थ परिवर्तित होकर- 'किसी व्यक्ति अथवा विचार के बारे में निर्णय लेना हो गया।' इस प्रकार से सामान्य अर्थों में आकलन से आशय किसी व्यक्ति या समूह से सम्बन्धित सूचना संग्रहण की प्रक्रिया से है। जिससे कि किसी व्यक्ति या समूह विशेष के सन्दर्भ में कोई निर्णय लिया जा सके।

शैक्षिक शब्दकोष के अनुसार आकलन का तात्पर्य किसी वस्तु की कीमत, गुणवत्ता या महत्त्व का निर्णय करना है। (The Act of judging or deciding the amount, Value, quality or Importance of Something)

बालेस, लार्सन एवं एल्क्सनीन ने इसे परिभाषित करते हुए कहा है-'आकलन का तात्पर्य किसी व्यक्ति या समूह के बारे में सूचना संग्रहण, विश्लेषण एवं उनके अर्थ निकालने की प्रक्रिया से है, जिससे किसी व्यक्ति के बारे में अनुदेशनात्मक, निर्देशनात्मक अथवा प्रशासनिक निर्णय लिया जा सके। अर्थात् शैक्षिक सन्दर्भ में कुछ उद्देश्यपूर्ण क्रियाओं के द्वारा (जैसे छात्रों के सामाजिक, आर्थिक स्तर को जानने के लिए) सूचना संग्रहण एवं व्यवस्थापन की प्रक्रिया ही आकलन है। इस प्रकार से स्पष्ट होता है कि आकलन में प्राय: पाँच पहलू हैं -

1. उद्देश्यपूर्ण कार्य (Porpuseful Acliuity)

2. सूचनाओं का संग्रहण (Collection of Information)
3. सूचनाओं का विश्लेषण (Analysis of Information)
4. सूचनाओं का अर्थापन (Interpretation of Information)
5. अनुदेशनात्मक, प्रशासनिक अथवा निर्देशनात्मक निर्णय (Instruetional, Administ ratione or Guidence related decision Making)

इन बिन्दुओं से स्पष्ट होता है कि आकलन एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसके माध्यम से किसी व्यक्ति वस्तु अथवा तथ्य के सन्दर्भ में सूचनाएँ एकत्रित की जाती है, फिर पौर्वापर्य सम्बन्ध के आधार इन सूचनाओं का विश्लेषण किया जाता है। इस विश्लेषण के आधार पर एकत्रित सूचनाओं का कोई अर्थ निकालने का प्रयास किया जाता है। इस अर्थ निकालने की प्रक्रिया को ही अर्थापन कहा जाता है। इन सूचनाओं के आधार पर कोई अनुदेशनात्मक प्रशासनिक अथवा निदेशनात्मक निर्णय लिया जाता है।

इस क्रम में यह भी स्पष्ट करना उचित होगा कि आकलन के प्राय: दो स्वरूप दिखाई देते हैं –

1. रचनात्मक आकलन, 2. योगात्मक आकलन

1. रचनात्मक आकलन –

आकलन रचनावादी दृष्टिकोण निर्माणवादी प्रकृति की ओर अग्रसर है। इस सन्दर्भ में आकलन शिक्षण और अधिगम प्रक्रिया के साथ ही समेकित है जो विद्यार्थियों के अधिगम उन्नति के लिए प्रतिपुष्टि प्रदान करता है। अर्थात् सामान्य मूल्याङ्कन प्रक्रिया जहाँ छात्रों के अर्जितांश का मूल्याङ्कन करके परिणामात्मक प्रतिपुष्टि प्रदान करती है। वही रचनात्मक आकलन का दृष्टिकोण सृजनात्मकता को जन्म देना होता है। इस अर्थ में रखते हुए छात्रों के अधिगम प्रक्रिया का वस्तुनिष्ठ रूप से सतत व विस्तृत आकलन करता है तथा एक शिक्षण बिन्दु के समाप्ति के अनन्तर छात्रों के अधिगम प्रक्रिया के आकलन से प्राप्त परिणामों के आधार पर यह बताता है कि जो उद्देश्य निर्धारित किए गए हैं, उनकी पूर्ति यथोचित रूप से हो रही है या नहीं। इसमें आवश्यकतानुसार अध्यापन को भी अपनी शिक्षण शैली, शिक्षण स्तर तथा शिक्षण विधि-प्रविधि में भी सुधार करने का अवसर प्राप्त होता है, जिससे समुचित रूप से निर्धारित उद्देश्यों के अनुरूप छात्र का अधिगम हो सके।

रचनात्मक आकलन को इसी अर्थ में निर्माणवादी आकलन कहते हैं, कि यह प्रचलित शिक्षणाधिगम का सतत मूल्याङ्कन करके तात्कालिक सुधार का प्रयास करता है, जिससे कि प्रथम आन्विति की समस्याओं का समाधान अग्रिम अन्विति ही किया जा सके और वार्षिक परीक्षा के उपरान्त छात्रों की गलतियाँ न गिनाई जाए अपितु उनकी उपलब्धियों को स्वर्णाक्षरों में उकेरा जाए। रचनात्मक आकलन के स्वरूप को स्पष्ट करने के बाद यहाँ में योगात्मक आकलन के स्वरूप को भी स्पष्ट करना चाहूँगा।

योगात्मक आकलन –

योगात्मक आकलन का दृष्टिकोण व्यवहारवादी होता है। योगात्मक मूल्याङ्कन की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि भी व्यवहारवाद से ही जुड़ी हुई है। व्यवहारवादियों का मानना है कि मनुष्य का सम्पूर्ण अधिगम मानव एवं उसके वातावरण के पारस्परिक अनुक्रिया के कारण विभिन्न उद्दीपक एवं अनुक्रिया के सम्बन्ध का परिणाम है। उद्दीपक और अनुक्रिया के सम्बन्ध में विचार करते समय व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक चिन्तन, समस्या समाधान स्मृति जैसी जन्मजात मानसिक प्रक्रियाओं की उपेक्षा की। फलत: प्रदर्शित व्यवहार की मापना ही व्यवहारविादियों का ध्येय रहा। फलत: प्रदर्शित व्यवहार को मापना ही व्यवहार को मापना ही व्यवहारवादियों का ध्येय रहा। इस स्थिति में आवर्ष संचालित शिक्षणाधिगम प्रक्रिया की समाप्ति के अनन्तर प्राप्त परीक्षा परिणाम ही भोगात्मक मूल्याङ्कन है। इस आधार पर परिणामात्मक अन्तिम कथन भोगात्मक मूल्याङ्कन है, इसके आधार पर छात्रों में जो कमियाँ हैं उनका तत्काल सुधार या समाधान नहीं हुआ अपितु छात्रों के समूह में अधिक अकं पाने वाले और कम अंक पाने वाले छात्रों के बीच एक गहरी खाई बना दी जाती है। इसी अमनोवैज्ञानिक आकलन के स्थान पर आज रचनात्मक और सुधारात्मक आकलन को प्रवर्तित किया जा रहा है।

अधिगम के आकलन की एक और विशेषता यह है कि इसके माध्यम से विद्यार्थी की उपलब्धि का प्रमाण उसके माता पिता, शिक्षक या अभिभावक को दिया जाता है। जबकि रचनात्मक आकलन विद्यार्थी के अधिगम में सहायता के लिए होता है।

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि रचनात्मक आकलन विद्यार्थियों के अधिगम से सम्बन्धित सूचना प्राप्त करके विस्तृत विश्लेषण की प्रक्रिया है। जिसका उद्देश्य छात्र के अधिगम में सहायता करना और शिक्षक के शिक्षण हेतु उपयुक्त परिस्थिति का निर्माण करना है। नि:सन्देह यह श्रेष्ठ व अनुकरणीय है।

ISSN 2278 - 0327

मूल्याङ्कन के सन्दर्भ में कक्षा शिक्षण की समीक्षा

डॉ. करुणाकर मिश्र
NET JRF नव्यव्याकरण
समर्पित शोध: शिक्षा के. सं. विद्यापीठ तिरुपति
Email I.D – karunakar.sonu111@gmail.com

भारत वर्ष की परम्परा में सास्वतिक भाव से सम्पन्न ज्ञान का स्वरूप तेजोमय होते हुए जगत् प्रसिद्ध है। इस ज्ञान परम्परा के आधार पर छह वर्ष से छोटा बालक भी बादशाह के आगे सर उठाकर कहता है– *न मे बाला सरस्वती।*[1]

यह ज्ञान ही भारत का आत्मतत्त्व है; जो तेजोमय है। अत: भारत की उत्पत्ति प्रभा में (ज्ञान में) जो रत रहे वह भारत कहलाता है – *भायां = प्रभायां रत: देश:= भारतदेश:।*[2]

इस ज्ञान परम्परा का साम्राज्य इतना विशाल था कि गुरू मौन रूप से व्याख्यान देते थे और शिष्य संशय रहित हो जाते थे– *गुरोस्तु मौनव्याख्यानं शिष्या: छिन्नसंशया:।*[3]

इस ज्ञान विधान की परम्परा में कोई उपचार नहीं देखा जाता था। यहाँ गुरु छ: वर्ष का होता था और शिष्य सत्तर साल का न कोई समय की सीमा रहती थी न ही कोई पुस्तक का आकार तभी तो हिन्दी साहित्य में यह कथानक प्रसिद्ध है– *मसि कागज छूयों नहीं कलम गहियों नहीं हाथ।*[4] यहाँ मानसिक आयु का निर्धारण ज्ञान के आधार पर होता था– *न ज्ञान वृद्धेषु वय: समीक्ष्यते।*[5]

जिनका आश्रयण करते हुए पाश्चात्त्य वैज्ञानिक 'विनेट' प्रभृति ने बुद्धिलब्धि को परिभाषित किया और उसके आधार मूल्याङ्क की चर्चा की।[6] इस चर्चा के आधार पर प्रतिभाशाली से महामूर्ख तक की अवधारणा परिभाषित की गई है। जहाँ चार वेद; अंग सहित[7] अपने रस रहस्य को परिभाषित करता था। तो भाषा का सौन्दर्य यमक अनुप्रास से सुशोभित रहता था।[8]

व्यवहार का प्रतिपद ज्ञान सम्पन्न था। तो उसका कोई न कोई वैज्ञानिक आधार होता ही था। इतना ही नहीं धर्मशास्त्रीय कृतकृत्यों की मीमांसा भी यहाँ व्यवहार से परिष्कृत थी।[9] परन्तु उस ज्ञान की परम्परा का मान–मर्दन विदेशी आक्रान्ताओं के द्वारा बहुधा देखा गया, पुराण पानी के श्रोतों में घोला गया, तो धर्मशास्त्र धूमध्वज के हवाले किया गया। वैद्यक शास्त्र वीथियों पर विखेड़ा गया।[10]

एतावता वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल पर्यन्त शिक्षा व शिक्षण की व्यवस्था में परिवर्तन द्रष्टव्य है। जहाँ आज भी शिक्षक केन्द्रिय भूमिका में रहता है। परन्तु शिक्षक बनने के लिये प्रशिक्षण की अनिवार्यता अत्यावश्यक है। प्राचीन काल में शिक्षक शिक्षण की व्यवस्था का वर्णन करते हुए डॉ. श्रीधर मुखोपाध्याय ने कहा है कि 'आचार्य या गुरु सबसे उपर के वर्गों के छात्रों को पढ़ाते थे और ये छात्र अपने से निम्न वर्ग के छात्रों को सिखाते थे।[11] इस प्रकार प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल पर्यन्त शिक्षक प्रशिक्षण के चतुर्विध स्वरूप दृष्टिगोचर होते है।

आधुनिक शिक्षक–प्रशिक्षण को दो भागों में बांटा जाता है– सैद्धान्तिक भाग व प्रायोगिक भाग

सैद्धान्तिक भाग का आशय यह है कि कक्षा में शिक्षक प्रशिक्षक को प्रशिक्षण महाविद्यालय के अध्यापक शिक्षा के अर्थ, अवस्था, चर, नीतियाँ, विधियाँ, प्रविधियाँ तथा सूक्तियों का विधिवत प्रतिपादन करता है और प्रायोगिक भाग का तात्पर्य उन विधियों और नीतियों को अधिगत कर उनकी प्रयोगावस्था से है। यहाँ प्रयोगावस्था में कक्षा शिक्षण का महत्त्व अतिशय होता है।

इस कक्ष शिक्षण का मूल्यांकन आन्तरिक और बाह्यमूल्यांकन के द्वारा किया जाता है। इस उभय–विध मूल्यांकन में आज भी कतिपय दोष विद्यमान है। उन सभी दोषों के निराकरण करने के लिये और दोषों के यथातथ्य को उद्भावन करने के लिये प्रकृत विषय 'मूल्यांकन के सन्दर्भ में कक्षा शिक्षण की समीक्षा' संगत प्रतीत होता है।

उद्देश्य के बिना किसी भी विषय वस्तु का यथार्थ स्वरूप सम्मुख नहीं आता है। अत: समीक्षा के सम्बन्ध में प्रकृत विषय का उद्देश्य अधोलिखित है।

शिक्षण के स्वरूप का प्रतिपादन, प्रशिक्षण का स्वरूप व उसकी वास्तविकता, कक्षा के स्वरूप, आकार, प्रकार का प्रशिक्षण के सन्दर्भ में निरूपण, मूल्यांकन के वास्तविक स्वरूप का

प्रतिपादन; कक्षा शिक्षण के मूल्यांकन में होने वाली कमियों का उपस्थापन, कक्षा शिक्षण की मूल्यांकन की समीक्षा, द्विवर्षीय, चतुर्वर्षीय प्रशिक्षण परम्परा में कक्षा शिक्षण के मूल्यांकन का स्वरूप।

1. शिक्षण का स्वरूप –

विद्या के अर्थ में प्रयुक्त पाणिनीय धातु 'शिक्ष्' इस आनुपूर्वी से करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय करने पर शिक्षण शब्द निष्पन्न होता है।[12] संस्कृत वाङ्मय में आचार्य, अन्तेवासी और पाठ्यवस्तु के पारस्परिक सम्बन्ध को शिक्षण कहा जाता है।

यह प्रकरण तैत्तिरीयोपनिषद् के शिक्षावल्ली में प्रसिद्ध है – आचार्यः पूवरूपम्, अन्तेवासी उत्तररूपं, विद्यासन्धानं सैषा शिक्षा।[13]

इतना ही नहीं शिक्षण के सन्दर्भ में अनुबन्ध चतुष्टय का अपना विशेष महत्त्व है। जिसके अन्तर्गत विषय, प्रयोजन, अधिकारी व सम्बन्ध का एक मार्मिक सम्बन्ध था।[14] शिक्षण के समस्त परिभाषाओं का विहंगम दृष्टि से अनुशीलन किया जाय तो शिक्षक और छात्र में अगर तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित नहीं हुआ तो शिक्षण का कोई औचित्य नहीं रहता है। जैसा कि ऋग्वेदीय भावना अनादि काल से ही उद्घोष करती है। *सहनाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद् विषा वहै।*[15]

इसी बात को पाश्चात्त्य शिक्षा विद् एच.सी.मौरिसन ने अपनी भाषा में इस प्रकार व्यक्त किया 'शिक्षण एक परिपक्व व्यक्तित्व तथा कम परिपक्व व्यक्तित्व के मध्य आत्मीय या घनिष्ठ सम्बन्ध है जिसमें कम परिपक्व को शिक्षा की दिशा की ओर अग्रसारित किया जाता है। [16]

अन्ततोगत्वा हम यही कहेंगे की स्वतन्त्र चर और परतन्त्र चर के मध्य हस्तक्षेप चर के द्वारा जायमान प्रक्रिया ही शिक्षण है। जिसमें स्वतन्त्र चर और परतन्त्र चर का तादात्म्य होना नितान्त आवश्यक है।

2. प्रशिक्षण के सन्दर्भ में कक्षा शिक्षण के आकार, प्रकार का निरूपण–

प्रशिक्षण कार्यक्रम के प्रायोगिक मूल्यांकन के अन्तर्गत कक्षा शिक्षण का स्वरूप प्रशिक्षण के दृष्टि से नियोजनावस्था, अभ्यास की अवस्था और मूल्यांकन की अवस्था में परिवर्तित होता है। यहां प्रशिक्षु शिक्षण के अभ्यास के लिये विद्यालय जाने से पहले जो जो क्रियाएँ करते हैं वे सभी क्रियाएँ शिक्षण नियोजन के अन्तर्गत आता है। यह कक्षा शिक्षण का प्रारम्भिक आधार है जो शिक्षण का मूलाधार है।

प्रशिक्षु नियोजनात्मक भाव से सन्नद्ध होकर शिक्षण के व्यूह युक्तियों प्रस्तावना, आदर्शवाचन आदि को जब छात्रों के मध्य छात्र के ज्ञानात्मक व्यवहार परिवर्तन के लिये उपस्थित करता है तो यह कक्षा शिक्षण के प्रशिक्षण के अभ्यास की अवस्था कहलाती है और नियोजन और अभ्यास में होने वाले सभी गुण दोषों की समीक्षा कक्षा शिक्षण की मूल्यांकन की अवस्था कहलाती है। इस प्रकार प्रशिक्षण के सन्दर्भ में कक्षा शिक्षण का आकार प्रकार स्पष्ट है।

3. मूल्यांकन के वास्तविक स्वरूप का प्रतिपादन

मूल्यांकन दो शब्दों के मेल से बना है। मूल्य + अंकन, मूल्य शब्द मूल शब्द से यत् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है।[17] अंग्रेजी भाषा में मूल्यांकन का अपर पर्याय EVALUATION कहलाता है। जिसकी उत्पत्ति फ्रेंच भाषा के Evaluer शब्द से हुआ है। जिसका तात्पर्य मूल्यों का संचयीकरण है।

दार्शनिक अर्थ में यह इच्छा रूपी अर्थ, प्रयास, तर्क को प्रतिपादित करता है तो व्यावहारिक अर्थ में योग्यता और महत्त्व को NCERT के अनुसार एक अनुपमा व्याख्या सामने आती है। जिसमें त्रिविध भावों का समावेश देखा जाता है।

3.1 पूर्व में निर्धारित शिक्षा की उद्देश्यों की प्राप्ति हुई या नहीं हुई।
3.2 कक्षा में दिया जाने वाला अधिगम प्रभावोत्पादक है या नहीं।
3.3 शैक्षिक उद्देश्यों की प्राप्ति सम्पन्न हुई या नहीं हुई।

इन त्रिविध भावों का जिसमें अंकन किया जाता है वह मूल्यांकन कहलाता है।[18] यह मूल्यांकन आन्तरिक व बाह्यभेद से द्विविध है।

4. कमियों का उपस्थापन

मूल्यांकन के बिना शिक्षण व शिक्षणाभ्यास से होने वाले व्यवहार परिवर्तन का सत्यापन नहीं होता है। अतः शिक्षण व शिक्षणाभ्यास में मूल्यांकन अत्यावश्यक है। शिक्षण के अभ्यास में छात्र और अध्यापक का व्यवहार अन्तः क्रिया में कैसा है, भाषिक व्यवहार सुबद्ध है, विषय सम्बद्ध है या विषयेतर है, प्रस्तुतीकरण में अभिनवता है या नहीं। इन सभी भावों का मूल्यांकन शिक्षण के मूल्यांकन के अन्तर्गत आता है। इनमें बहुत सारी कमियां देखी जाती है। उन कमियों का उपस्थापन अधोलिखित है।

4.1 औपचारिकता–

कक्ष शिक्षण के मूल्यांकन में प्रायः उपचार का दर्शन ही होता है। आन्तरिक मूल्यांकन कर्त्ता समय का अतिक्रमण कर छात्र और अध्यापक के प्रत्येक व्यवहार का मीमांसा नहीं करता है। यहां समग्र भारत वर्ष में गलतियां तो बतला दी जाती है; परन्तु उन गलतियों को कैसे सुधारा जाय इसके विषय में कोई निर्देश नहीं प्राप्त होता है। इस प्रकार असंगठित व्यवहार सम्पन्न छात्र और

अध्यापक शिक्षक बन शिक्षण की महनीयता को नष्ट करते हुए उसे रुचिकर बनाने में असमर्थ रहता है।

वस्तुत: शिक्षक छात्र के कुसंस्कार का नाशक होता है। तथा उसके भ्रम का नाशक होता है[19] और यदि शिक्षक ही भ्रम से युक्त हो तो वह छात्र की समस्या को दूर करने में असमर्थ ही होगा। अत: कक्ष शिक्षण में होने वाली औपचारिकता को यथाशीघ्र दूर किया जाय जिससे संस्कृत समाज व सभ्य राष्ट्र का निर्माण होगा।

4.2 आर्थिक सहायता का अभाव-

शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रम में छात्राध्यापकों को आर्थिक सहायता नहीं प्रदान की जाती है। भारत वर्ष में कोई भी कार्यक्रम हो उनमें प्रशिक्षुओं को प्रशिक्षण अवधि का मूल्य दिया जाता है। परन्तु शिक्षण के क्षेत्र में इन दोनों विषयों का अभाव देखा जाता है। प्रशिक्षण में यदि सरकार के द्वारा कुछ आर्थिक सहायता प्रदान की जाय तो शिक्षण व प्रशिक्षण अपने उद्देश्य को शत प्रतिशत प्राप्त करेगा इनमें कहीं संशय नहीं है।

4.3 अशाब्दिक व्यवहार का निर्मूल्यांकन-

प्रशिक्षु शिक्षणाभ्यास हेतु कक्षा में जब शिक्षण करता है तो उसके समस्त-व्यवहारों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।

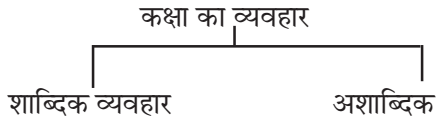

मूल्यांकन कर्त्ता मूल्यांकनीय घटकों में शाब्दिक व्यवहार का आधिक्येन चयन कर व्यवहार करते हैं। जिससे अशाब्दिक व्यवहार की उपेक्षा हो जाती है। परन्तु शिक्षण में अशाब्दिक व्यवहार का उतना ही महत्त्व है जितना की शाब्दिक व्यवहार का; यदि ज्ञान का उपस्थापन शाब्दिक व्यवहार से होता है तो उसका दृढीकरण अशाब्दिक व्यवहार से होता है। संस्कृत वाङ्मय में अशाब्दिक व्यवहार की प्रशंसा बहुधा देखी जाती है। अनकहीं बातों को भी ऊहन करना ही पाण्डित्य है। इस विषय के सन्दर्भ में नीतिकारों का यह मन्तव्य तुलनीय है।[20]

शिक्षण सम्प्रदाय में यह भ्रम है कि कक्षा में कुछ ही बच्चे तेज होते है और बाँकि मूर्ख होते हैं। इस सन्दर्भ में मेरा मानना यह है कि शाब्दिक, अशाब्दिक व्यवहार के सम्मिश्रण से अगर शिक्षण किया जाय तो कक्षा सम्बन्धित यह भावना अपने आप विलुप्त हो जाएगी। क्योंकि इस संसार में कुछ भी निरर्थक नहीं है। जैसा की नीतिकारों ने कहा है।[21]

इस प्रकार शिक्षण की सफलता की कारणता जिस प्रकार शाब्दिक व्यवहार में है। उसी प्रकार अशाब्दिक व्यवहार में भी कारणता को उपस्थापित कर मूल्यांकन हेतु प्रयत्न करना चाहिये। जिससे शिक्षण व शिक्षक में सुवर्ण सौरभ गुण का विकास होगा। अत: अशाब्दिक व्यवहार का मूल्यांकन परमावश्यक है।

4.4 निरीक्षण में न्यूनता-

कक्ष शिक्षण के निरीक्षण में बहुत सारी न्यूनता देखी जाती है। जहाँ छात्राध्यापक पाठ्ययोजना को अन्तिम बेंच पर रखकर पढ़ाता है और निरीक्षक उसके व्यवहार का निरीक्षण करता है। यहां मूल्यांनकर्त्ता, पाठ्ययोजना, शिक्षक व्यवहार व छात्र शिक्षक संवाद के सन्दर्भ में अपने मूल्यांकन पत्रक के अनुसार मूल्यांकन करता है। जो पच्चीस (25) मिनट के अन्तर्गत एक व्यक्ति के द्वारा सम्भव नहीं है।

इतना ही नहीं पाठ्ययोजना के क्रम में आव्यूह व्यूहों के प्रति दी जाने वाली टिप्पणीयों में भी वैयक्तिकभाव दृष्टिगोचर होता है। कहीं-कहीं प्रिय शिष्यों को आन्तरिक मूल्यांकन में प्रशंसा के वाक्य मिलते है तो वास्तविक छात्र उपेक्षित रह जाते है। इतना ही नहीं यहां छात्रों की व्यक्तिगत भावना व शाब्दिक भावना की सर्वथा उपेक्षा की जाती है। यह जरुरी नहीं की शिक्षण सूत्र व शिक्षण के सूक्तियों का आश्रयण कर ही पढ़ाया जाय; आशय यह है कि पारस्परिक भाव का त्याग कर नई विधा से किया गया शिक्षण अगर व्यवहार परिवर्तन के प्रति यदि कारण है तो उसे अंगीकार करना चाहिये।

4.5 उपकरणों का अभाव-

प्रशिक्षण महाविद्यालयों में उपकरणों का अभाव देखा जाता है। जिसके प्रति संस्था व सरकार की उदासीनता कारण है।

5. मूल्यांकन की समीक्षा व दोषों का परिहार-

उपर्युक्त दोषों के परिशीलन से यह ज्ञात होता है कि शिक्षण प्रशिक्षण व्यवस्था में कक्ष शिक्षण के प्रति अत्यधिक ध्यान दिया नहीं जाता है। मेरा तो मानना यह है कि समग्र प्रशिक्षण व्यवस्था का मूल आधार कक्षा में दी जाने वाली शिक्षण का अभ्यास ही है इसी शिक्षण का सामाजिक उपागम, प्रविधि उपागम, दार्शनिक उपागम, मनोवैज्ञानिक उपागम विद्यालयीय उपागम ही प्रशिक्षण के सैद्धान्तिक भाग के तौर पर अवतरित होता है। अत: कक्ष शिक्षण व उसके मूल्यांकन के सन्दर्भ में अधोल्लिखित निर्देशों का अनुशीलन किया जाय तो प्रशिक्षण व्यवस्था परिवर्तित होगी ही; यह मेरा मानना है।

5.1 कक्ष शिक्षण के नियोजन कि अवस्था में छात्राध्यापक व उसका प्रशिक्षक पाठ्यमान विषय वस्तु के प्रति व्यक्तिगत चर्चा करें।

5.2 प्रशिक्षक का यह दायित्व होता है कि पाठ्यमान अंश में विद्यमान कठिन अंशों को वह समझाए और उसे पढ़ने के विविध विधि व तरीकों को बतलाएँ।

5.3 पाठ्यांश के प्रत्येक घटकों की सामुदायिक चर्चा हो इस समुदाय में प्रशिक्षक का समुदाय व छात्राध्यापकों का समुदाय आवश्यक हो

5.4 कक्ष शिक्षण के समस्त क्रियाओं का RECORDING किया जाय व शिक्षण की उत्तरावस्था में प्रत्येक व्यवहार के सन्दर्भ में चर्चा की जाय। आन्तरिक मूल्यांकन कर्त्ता, बाह्यमूल्यांकन कर्त्ता व उच्च कक्षीय छात्रों का एक दल और छात्राध्यापकों का प्रतिनिधि कक्ष शिक्षण के समय उपस्थित हो और मूल्यांकन करें।

5.5 शाब्दिक, अशाब्दिक व्यवहार का पृथक्तया मूल्यांकन हो।

5.6 संस्था या सरकार शिक्षणाभ्यास के प्रत्येक कालांश के लिये निर्धारित राशि उपलब्ध कराएँ जिससे शिक्षणोपकरण का निर्माण सुगमतया हो जाय।

इस प्रकार प्रशिक्षण महाविद्यालयों में उपर्युक्त व्यवस्था अन्वित हो तो प्रशिक्षण में निश्चय ही परिवर्तन होगा और ऐसे शिक्षक का निर्माण होगा जो राष्ट्रिय-भावना को विकसित करते हुए छात्र के सर्वांगीण व्यक्तित्व को विकसित करेगा व समाज में विद्यमान कुरीतियों को दूर करेगा ही साथ ही साथ अपने शिक्षण विधा के द्वारा समाज की सेवा भी करेगा। शिक्षक समाज का मूल है और मूल रहित समाज कभी भी वर्धित नहीं होता है। भारत के सन्दर्भ में शिक्षकों की दुर्दशा को देखकर हंसी आती है। जहाँ शिक्षकों से राशन बटवाया जाता है तो दूसरी तरफ चुनाव की भी जिम्मेदारी शिक्षकों के ही ऊपर होती है। यदि सरकार का वश चले तो बच्चों का डायपर भी शिक्षकों से ही बदलबायेगा। कभी पशुओं की गणना तो कभी राजस्थान जैसे स्टेट में टिड्डियों की रोकथाम करते हुए आज शोषित जामात में अपना नाम दर्ज करवा रहा है। शिक्षकों के प्रति यह उपेक्षा उचित नहीं है।

यहां शिक्षकों को भी यह समझना चाहिये की वह एक श्रमजीवी है जिसका कार्य दश बजे प्रारम्भ होकर चार बजे समाप्त होता है और वह अपने पैरों की धूल झारकर जीविका प्रदान करने वाले फैक्ट्री से बाहर जा सकता है।[22]

6. द्विवर्षीय या चतुर्वर्षीय प्रशिक्षण परम्परा में कक्षा शिक्षण के मूल्यांकन का स्वरूप -

आज से दो साल पहले एक वर्षीय प्रशिक्षण का स्वरूप देखा जाता था। अभी दो वर्षीय प्रशिक्षण का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है और कुछ विश्वविद्यालय के सम्बद्ध प्रशिक्षण महाविद्यालय में चतुर्वर्षीय कार्यक्रम जिसमें तीन वर्ष स्नातक के उपाधि के साथ साथ प्रशिक्षण का स्वरूप द्रष्टव्य है। यहां अधोलिखित विचार समीक्षणीय है।

6.1 कक्षा शिक्षण का स्वरूप स्नातक के प्रथम वर्ष से ही प्रारम्भ हो।

6.2 एक विषय का विशेषज्ञ दिन में तीन विद्यालय जाकर कक्षा शिक्षण का अभ्यास करें।

6.3 इस शिक्षणाभ्यास का मूल्यांकन विद्यालय का प्रधानाचार्य व विषय शिक्षक करें।

इस प्रकार की बातों का स्थान यहाँ दिया जाता है तो निश्चय ही चार वर्ष के लिये किसी एक विषय के शिक्षक की कमी दूर हो जाएगी और सरकार को उसके लिये वेतन भी नहीं देना पड़ेगा और एक सुयोग्य शिक्षक का भी निर्माण हो जाएगा।

सन्दर्भसूची -

1. प्रसिद्ध दार्शनिक शंकर मिश्र, पृ. भूमिका भाग
2. शब्दकोष, पृ. 436
3. शंकर दिग्विजय, पृ. भूमिका भाग
4. कबीर दोहा, पृ. 74
5. कुमार सम्भव, श्लो. 5/16
6. भारतीय शिक्षा मनोविज्ञान, पी.डी. पाठक, पृ. 361
7. चत्वारोवेदा: सांगात सरहस्या:
8. ऐ सुमन: सुमन: सुमन:
9. धर्मस्य निर्णयोज्ञेय:, वर्षकृत भूमिका भाग
10. शिवराज विजय, अम्बिकादत्त व्यास, पृ. 14
11. भारतीय शिक्षा का इतिहास। श्रीधर मुखोपाध्याय। पृ. 41
12. शिक्ष्यते विद्योपादीयते यया क्रियया सा क्रिया शिक्षणम्, E शब्दकल्पद्रुम
13. तैतिरीयोपनिषद्, शिक्षावल्ली
14. न्याय कोष, पृ. 28
15. ऋग्वेद
16. शैक्षिक तकनीकि के मूलाधार, एच. पी. कुलश्रेष्ठ, पृ. 50
17. पानिणि सूत्र 4.4.88
18. उपकार ग्रन्थ यू.जी.सी, पृ. 79
19. अथर्ववेद 11.5.14
20. उदीरितोऽर्थ: बुद्धय:। शेमुशी, अध्याय 7, श्लो. 4
21. वही.
22. भारतीय शिक्षा व उसकी समस्या। पी.डी. पाठक पृ. 370

ISSN 2278 - 0327

वैशेषिकसूत्रोपस्कार के सन्दर्भ में 'आत्मवाद' की समीक्षा

ओम प्रकाश झा
शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग
जामियामिल्लियाइस्लामिया, नई दिल्ली –110025
सम्पर्कसूत्र–9555227616

उद्देश्य, लक्षण, परीक्षा से सम्पन्न दार्शनिक प्रक्रिया के कतिपय विवेच्य विषयों में 'आत्मन्' पदार्थ का स्थान अन्यतम है। यह आत्मन् पदार्थ न तो प्रवचन के द्वारा लभ्य है और न मेधा के द्वारा।[1]

अदादिगणीयसतत् गमन के अर्थ में प्रसिद्ध अत् धातु से औणादिकमनिण् प्रत्यय करने पर 'आत्मन्' शब्द निष्पन्न होता है । यहाँ इसकी सातत्यता कभी पुत्र के रूप में उपस्थित होती है,[2] तो कभी यह शरीर को वस्त्र समझ नये–नये वस्त्रों को पहनने वाला कहलाता है।[3] कोष की मानें तोस्व, क्षेत्रज्ञ, पुरुष, भाव, स्वरूप, यत्न ये सभी आत्मन् के पर्याय हैं।[4] व्युत्पत्तिशास्त्र के परममूर्धन्य आचार्य यास्क ने इसकी व्यापकता प्रकारान्तर से सिद्ध की है।[5] शंकराचार्य ने तो आत्मन् शब्द का निर्वचन 'आप' धातु,आङ् उपसर्ग पूर्वक 'दा' धातु तथा भक्षणार्थक 'अद्' धातु से कर इसकी व्यापकता को दर्शाया है।[6]

इस प्रकार नित्य और व्यापकीभूत आत्मतत्त्व का स्वरूप दर्शन निकाय में किस तरह परिभाषित किया गया है; विशेषकर वैशेषिकसूत्रोपस्कार में इसका क्या स्वरूप है जो दर्शनान्तर से साम्यता रखता है अथवा भिन्न है। इन सभी विषयों के सन्दर्भ में 'आत्मवाद' की समीक्षा अत्यावश्यक प्रतीत होती है। अत: अनुसन्धान पत्र का यह विषय– सूत्रोपस्कार के सन्दर्भ में 'आत्मतत्त्व' की समीक्षा प्रासंगिक है व अनुसन्धेय है। प्रस्तुत शोधपत्र का क्षेत्र वैशेषिक दर्शन के वैशेषिकसूत्र एवं उपस्कार भाष्य है।

1. अनुसन्धेय विषय का उद्देश्य–

उद्देश्य के बिना कोई क्रिया नहीं होती है। मन्द व्यक्ति भी उद्देश्य हीन किसी भी क्रिया में प्रवर्तित नहीं होता है[7] तो अनुसन्धान का कहना ही क्या है और उसमें समीक्षा। यहाँ तो विविध विषयों के पक्ष, पक्षान्तर की चर्चा होती है। अत: प्रस्तुत शोधपत्र का उद्देश्य इस प्रकार है–

आत्मन् व उसके विविध अर्थों का समुचित उपस्थापन, जनसामान्य में विद्यमान आत्म पदार्थ की अवधारणा का उपस्थापन, आत्मा की अजता, नित्यता व विभुता का समन्वयन, दर्शनान्तर में विद्यमान आत्म–सम्बन्धी अवधारणा, आत्मा के दार्शनिक अर्थ का प्रतिपादन, आत्मतत्त्व का स्वरूप, आत्मसाधकवैशेषिक हेतु, आत्मन् के विशेष गुण तथा आत्मा के सन्दर्भ में उपस्कारकार का विचार ये सभी इस शोधपत्र का उद्देश्य हैं।

2. वैशेषिक दर्शन में विद्यमान आत्म–पदार्थ–

वैशेषिक दर्शन में नव द्रव्य प्रसिद्ध हैं, उसे दो भागों में विभक्त किया गया है। नित्य द्रव्य व अनित्य द्रव्य, जहाँ अनित्य द्रव्य के परमाणु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा व मन नित्य द्रव्य के तौर पर व्याख्यात हैं।

यह उद्देश्य क्रम के अनुसार 'अष्टम' (आठवाँ) द्रव्य है।[8] वैशेषिक दर्शन के अनुसार यह नित्य है।[9] यह द्रव्य प्रत्यक्ष का अविषय है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार आत्मा विभु है और महत् परिमाण वाला है। [11] आत्मा द्रव्य है अत: यह गुणाश्रय होगा ही और यह समवायिकारण भी होगा।[12] यह आत्मा–बुद्धि, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्माधर्म व संस्कार इस विशेष गुण से विशिष्ट है तथा इसके संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग यह पाँच सामान्य गुण हैं।[13]

3. आत्मा की सिद्धि –

सभी शास्त्रों के समन्वयकर्त्ता महर्षि कणाद कतिपय हेतुओं के द्वारा आत्मतत्त्व का प्रतिपादन करते हैं। जहाँ हेतु के तौर पर अधोलिखित विषय द्रष्टव्य हैं। यहाँ यह भी कहना है कि सूत्रकार ने आत्म–सिद्धि के लिये अनुमान का आश्रयण किया है।[14] अनुमान, क्रिया व गुण के आधार पर आत्मतत्त्व का प्रतिपादन किया है जो इस प्रकार है।

प्राण और अपान के द्वारा आत्मतत्त्व का अनुमान–

प्राण, अपान का तात्पर्य शरीर में चलने वाली वायु से है। सूत्रकार कहते हैं कि जिस प्रकार भस्त्रिका के द्वारा हवा निकलती है और उसका कोई कर्त्ता होता है अर्थात् जब एक लोहार या कोई व्यक्ति भाँथी में लगे डण्डे को ऊपर नीचे करता है तो उस भाँथी से हवा अन्दर जाती है और बाहर आती है, उसी प्रकार शरीर के

ऊर्ध्वदेश और अधोदेश में चलने वाली हवा का कोई कर्त्ता होगा, जो आत्मतत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित है।[15]

निमेष और उन्मेष के द्वारा आत्मतत्त्व का अनुमान[16]–

प्रशस्तपाद के अनुसार जैसे कठपुतली को देखकर नचाने वाले का हम अनुमान करते हैं, अर्थात् कठपुतली की गति के प्रति किसी अन्य का कर्तृत्व स्पष्ट है। उसी प्रकार निमेष और उन्मेषात्मक क्रिया का भी कर्त्ता आत्मा है।[17]

जीवन के द्वारा आत्मतत्त्व का अनुमान–

शरीर का बढ़ना, पुष्ट होना व सुसंगठित होना इन सभी क्रियाओं के आधार पर गृहपति का अनुमान किया जाता है, जो आत्मा है।[18]

मनोगति के द्वारा आत्मतत्त्व का अनुमान –

मन की चंचलता सर्वजनवेद्य है। इस चंचलता के द्वारा आत्मतत्त्व को सिद्ध किया जाता है। इस सन्दर्भ में न्यायकन्दलीकार का कहना है कि वस्तु के साथ चक्षु का संयोग मन सहित होता है और मनस् का चैतन्य के साथ और वह चैतन्य ही आत्मा है।[19]

इन्द्रियान्तर विकार के द्वारा आत्मतत्त्व का अनुमान–

सूत्रकार कणाद ने इन्द्रियान्तर विकार के द्वारा आत्मतत्त्व को परिभाषित किया है। इस सन्दर्भ में श्रीधराचार्य का यह कथन अतीव द्रष्टव्य है– उनका कहना है कि किसी भी फल को देखकर उसके पूर्वानुभूतरस की स्मृति आती है और उस रस के आस्वादन की इच्छा होती है। इच्छा से प्रयत्न की उत्पत्ति होती है और यह प्रयत्न आत्ममन:संयोगात्मक होता है, जिससे मुख में रस उत्पन्न होता है। इस प्रयत्न से विशिष्ट तत्त्व को हम आत्मा कहते हैं।[20]

सुख, दु:ख के द्वारा आत्मतत्त्व का अनुमान –

सूत्रकार कणाद ने सुख, दु:ख के सम्बन्ध में यह हेतु निकाला कि शरीर को सुख या दु:ख नहीं होता न ही इन्द्रिय को। अत: शरीर और इन्द्रिय से अतिरिक्त कोई है, जिसे सुख या दु:ख होता है वही आत्मा है।

इच्छा, द्वेष के द्वारा आत्मतत्त्व का अनुमान –

इच्छा द्वेष के आधार पर आत्मतत्त्व के निरूपण में भी शरीर से इतर तत्त्व और इन्द्रिय से इतर तत्त्व का आश्रयण कर आत्मतत्त्व सिद्ध करते हैं। यहाँ यह कहना है कि इच्छा और द्वेष न तो शरीराश्रय हैं न तो इन्द्रियाश्रय हैं।

प्रयत्न के द्वारा आत्मतत्त्व का अनुमान–आत्ममन: संयोग एक विशिष्ट प्रयत्न है। उस प्रयत्न का आश्रय आत्मतत्त्व के द्वारा परिभाषित है।

इस प्रकार सूत्रकार ने अनुमान प्रमाण के आधार पर आत्मतत्त्व को सिद्ध किया परन्तु प्रशस्तपाद ने प्रवृत्ति, निवृत्ति, श्रोत्रादिकरणत्व, ज्ञानादिक्रिया के आधार पर भी आत्मतत्त्व का उपस्थापन किया है।[21] अन्ततोगत्वा वादी, प्रतिवादी की शंकाओं के समाधान हेतु चैतन्य स्वरूप का आविर्भाव होता है और सभी दबे जुवान से ही सही आत्मतत्त्व को मानने के लिये तत्पर हो जाते हैं।[22]

4. आत्मा का स्वरूप–

आत्मा क्या है? वह कैसा है? या आत्मा किसे कहते हैं? इस सदर्भ में वैशेषिकों का अपना एक विशिष्ट मार्ग है। प्रशस्तपाद के अनुसार आत्मा, आत्मत्व नामक पदार्थ से सम्बद्ध होने के कारण एक पृथक् द्रव्य है।[23]

लौगाक्षीभाष्कर अपने तर्ककौमुदी में भाष्यकार की बातों को दोहराते हुए कहते हैं कि– समवाय सम्बन्ध से आत्मत्त्व विशिष्ट पदार्थ आत्मा है।[24] यही बात सर्वदर्शनसंग्रहकार ने भी कही कि आत्मा अमूर्तद्रव्य है और उस आत्मा में आत्मत्वसमवाय सम्बन्ध से रहता है।[25] पूर्वोक्त आचार्यों ने आत्मतत्त्व को आत्मत्व से ही समझाया है, परन्तु मुक्तावलीकार ने एक नये स्वरूप को दर्शाया, जहाँ आत्मत्व सुख, दु:ख के समवायिकारणतावच्छेदक के रूप में प्रसिद्ध है।[26] वादिवादीश्वर और अन्नम्भट्ट ने ज्ञानस्वरूप को पकड़कर आत्मतत्त्व को दर्शाया है।[27] इस सन्दर्भ में एक नई व्यवस्था देखी जाती है। जहाँ तर्कसंग्रह की टीका सिद्धान्तचन्द्रोदय का कहना है कि आत्माजन्य ज्ञान का अधिकरण है।[28] आत्मा द्रष्टा है, भोक्ता है, अनुभविता है। यह वात्स्यायन का मत है[29] तो आत्मा प्रतिसन्धाता है; यह उद्योत्करार्चार्य का मत है।[30]

इस प्रकार आत्मा का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए आचार्यों ने कहा कि आत्मा बन्ध व मोक्ष के भोग्य है।[31] यह आत्मा शरीर और ज्ञान की अपेक्षा करता है।[32] इतना ही नहीं यह एक बोधात्मक जीव भी है।[33]

5. आत्मा का बहुत्व–

आत्मा एक है या अनेक है इस सन्दर्भ में दर्शन के आस्तिक निकाय में परस्पर भेद है। जहाँ वैशेषिक आचार्यों ने जीवात्मा और परमात्मा के भेद से द्विविधभूत आत्मा के जीवात्मक भेद की बहुत्व की व्यवस्था की है।[34] इतना ही नहीं दार्शनिक निकाय में विद्यमान पुनर्जन्म की प्रक्रिया इसी बहुत्ववाद के आधार पर आधारित है।

6. उपस्कार सम्मत आत्मवाद–

वैशेषिक दर्शन में उपस्कारभाष्य का अपना एक अन्यतम स्थान है। उन्होंने न केवल वैशेषिक सूत्रों की व्याख्या की अपितु वैशेषिक सूत्रों के सिद्धान्तों के ऊपर बौद्धादि सिद्धान्तों का भी युक्तियुक्त खण्डन किया है। आत्मा के सन्दर्भ में उपस्कारकार

कहते हैं कि ज्ञान की उत्पत्ति आत्मा, इन्द्रिय और उसके सन्निकर्ष से होती है। यह ज्ञान आत्मतत्त्व में साधक है।[35]

आत्मा की सिद्धि ज्ञानाधिकरण के द्वारा द्रष्टव्य है और इसका मानस प्रत्यक्ष भी होता है। इस मानस प्रत्यक्ष को उपस्कारकार ने बढ़े ही रोचक ढंग से बताया है। वे कहते हैं कि मैं हूँ यह प्रतीति व्यक्ति को अपनी ही आत्मा में होती है न कि राम की श्याम में और श्याम की राम में, जो मैं देखता हूँ उसे मैं स्पर्श करता हूँ। इस प्रकार ज्ञान की व्यापकता सिद्ध है, जो आत्मतत्त्व के साधन में सर्वथा युक्त है।

इस ज्ञानतत्त्व के हेतु में बौद्धों के मत का खण्डन करते हुए बौद्धमत को पूर्वपक्ष के तौर पर उपस्थापन करते हैं कि क्षणिक विज्ञान ही आत्मा है। यह मत भी प्रसंगतया अन्वित हो जाएगा, क्योंकि प्रत्यभिज्ञान अन्य का नहीं होता है।[36]

इस पूर्वपक्ष के अन्वयन को खण्डन करते हुए कहते हैं कि क्षणिकविज्ञानवाद के द्वारा उत्पन्न आत्मतत्त्व अगर माना जाय तो गुरु शिष्य के ज्ञान में तो गुरु का ज्ञान शिष्य के ज्ञान के प्रति कारण होने के कारण गुरु का जो अनुभव है, वह शिष्य को होने लगेगा। अगर यह कहा जाय कि गुरु का ज्ञान शिष्य के ज्ञान में निमित्तकारण है तो वह भी उपयुक्त नहीं है, क्योंकि निमित्तता द्रव्य का गुण है जो बुद्धि रूपी गुण में असम्भव है अथवा बुद्ध्यादि की क्षणिकता के द्वारा पूर्वानुभूतप्रतिसन्धान की उत्पत्ति नहीं हो पाएगी। अगर बौद्ध यह कहें कि पूर्वबुद्धि से उत्तरबुद्धि में संस्कार का आधान होता है, तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि बुद्धि कालान्तर में प्रतिसन्धान करने में असमर्थ है।

उपस्कारकार यहाँ यह कहते हैं कि यदि आलय विज्ञान ही ज्ञान को उत्पन्न करता है अर्थात् आलय विज्ञानरूप आत्मतत्त्व प्रवृत्ति से भिन्न स्मरण और अनुभव को सम्पन्न कराने वाला है तो यह पक्ष नैयायिकों और वैशेषिकों का ही है।[37]

और अगर आलय विज्ञान के ज्ञान की क्षणिकता मानते हैं, तो प्रवृत्ति विज्ञान और आलय विज्ञान दोनों को भिन्न-भिन्न मानना पड़ेगा जो उचित नहीं है। इस प्रसंग में शंकर मिश्र सांख्य की भावना का उपस्थापन करते हुए कहते हैं कि बुद्धि नित्य है, उसका कारण आत्मा नहीं है। यहाँ *आत्मेन्द्रयार्थसन्निकर्षाद्यन्निष्पद्यतेत-दन्यत्*[38] इस सूत्र के तदन्यत् शब्द की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान ये सभी पर्याय हैं और आत्मेन्द्रियार्थ के सन्निकर्ष से जो निष्पन्न होता है वह अन्य है। यहाँ गवेषणा की दृष्टि से यह कहना चाहता हूँ कि सांख्य मताबलम्बी बुद्धि की परिगणना पदार्थ में करते हैं और नैयायिक व वैशेषिक इसे गुण मानते हैं। अत: सांख्याभिमत बुद्धि, न्याय-वैशेषिक प्रसिद्ध बुद्धि से भिन्न है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शंकरमिश्र बड़े ही सुन्दर तरीके से बौद्धादि पक्षों का खण्डन और सांख्य का समन्वयन कर रहे हैं। यहाँ आत्मसाधक कतिपय हेतुओं में तथा पूर्वपक्षियों की शंकाओं में शरीरात्मवाद बड़ा ही प्रसिद्ध है।

6.1 शरीरात्मवाद का खण्डन उपस्कारभाष्य के सन्दर्भ में-

वैशेषिक सूत्र के अनुसार आत्मतत्त्व की सिद्धि के हेतु निमेष व उन्मेष की चर्चा की गई है। जहाँ कहा गया है कि जैसे कठपुतली को नचाने वाला कठपुतली से अन्य होता है। उसी प्रकार शरीर में उन्मेष व निमेष करवाने वाला शरीर से कोई अन्य है, जो आत्मा है।

इस वाद के अनुसार शरीर और आत्मा दो अलग-अलग तत्त्व सामने उपस्थित होते हैं। परन्तु बौद्ध यहाँ शंका करता है कि कठपुतली को नचाने वाला अथवा गोली को चलाने वाला अथवा स्पर्श करने वाला मोटे तौर पर चैतन्य का आश्रय शरीर है, जो अहंकार के उद्भव का भी अधिकरण है। मैं गोरा हूँ, मैं काला हूँ, मैं मोटा हूँ इस तरह की उपपत्ति शरीर को ही होती है न कि आत्मा नामक किसी तत्त्व को।[39] इस प्रकार शरीर और आत्मा की एकता का जो स्वरूप बौद्धादियों के द्वारा बतलाया गया है, उसके खण्डन में शंकर मिश्र कतिपय हेतु प्रदर्शित करते हैं, जो इस प्रकार है।

शंकर मिश्र तुष्यतुदुर्जनन्याय के आधार पर कहते हैं कि आपके अनुसार शरीर और आत्मा दोनों अगर एक ही हैं, तो शरीर में भिन्नता देखी जाती है। बाल्यावस्था का शरीर, युवावस्था का शरीर, वृद्धावस्था का शरीर।

यदि शरीर और आत्मा एक ही हैं, तो बाल्यावस्था में अनुभूत पदार्थ व दृष्टपदार्थ का स्मरण वृद्धावस्था में क्यों होता है क्योंकि बाल्यावस्था का आलयविज्ञान और प्रवृत्तिविज्ञान युवावस्था व वृद्धावस्था के आलयविज्ञान व प्रवृत्तिविज्ञान से भिन्न है।

इस सन्दर्भ में बौद्धादियों का कहना है कि अवस्था के अनुसार शरीर का आलय विज्ञान और प्रवृत्ति विज्ञान भिन्न-भिन्न है, तथापि शरीर सन्तान विज्ञान एक ही है। अत: बाल्यावस्था में अनुभुत पदार्थों का वृद्धावस्था में स्मरण होगा। इस पक्ष पर शंकर मिश्र कहते हैं कि अगर ऐसा तुम मानते हो तो पिता से उत्पन्न पुत्र को पिता के अनुभूत पदार्थों का ज्ञान होना चाहिये क्योंकि शरीर सन्तान विज्ञान एक ही है। यदि अनुभूत नहीं होता है तो आपके द्वारा कल्पित शरीर सन्तान विज्ञान के आधार पर दिया गया शरीरात्मवाद के ऐक्य का समाधान स्वत: निरस्त हो जाता है और

दोष स्वत: स्थिर हो जाता है। अत: शरीर से भिन्न कोई अन्य पदार्थ है जो मानवीय प्रवृत्ति को एवं ज्ञान के आधार को उत्क्रमित करता है जो आत्मा है।

यहाँ अगर पूर्वपक्षी यह कहे कि यह मेरा शरीर है, यह मेरी आत्मा है, तो इस प्रयोग में षष्ठी की अनुत्पत्ति होने लगेगी क्योंकि आत्मरूप अमूर्त है। इस सन्दर्भ में शरीर को ही आत्मा मानना उचित होगा। यहाँ शंकर मिश्र कहते हैं कि यह मेरा शरीर है, यह मेरी आत्मा है; यह साहित्यिक प्रयोग है; जो उपचारवश किया गया है।

लोगों में यह देखा जाता है कि शिर मात्र को राहु का शिर कहा जाता है; यह व्यवहार होता है। अत: यह मेरा शरीर है, यह मेरी आत्मा है; इस आधार पर कोई यह कहे कि शरीर और आत्मा एक ही है; वह गलत है। इस प्रकार शंकर मिश्र के द्वारा देहात्मवाद के विभिन्न तथ्यों का प्रतिपादन करते हुए पूर्वपक्षियों के दोषों का निराकरण किया गया है। [40]

इस प्रकार शंकर मिश्र ने आत्मसाधक हेतुओं की विधिवत् व्याख्या करते हुए उसके नित्यत्व का प्रतिपादन किया तो गुणाश्रय के तौर पर उसके द्रव्यत्व को भी दर्शाया है। उन्होंने आगम मात्र को आत्मा की सिद्धि के लिए एकहेतुवादियों के पक्ष का खण्डन कर अनुमान के द्वारा आत्मसाधनत्व को दर्शाया और इतना ही नहीं उपस्कार में उन्होंने मध्य-मध्य में विभिन्न दार्शनिकों के पक्ष को दर्शाया और बड़े ही रोचक तरीके से उसका खण्डन व मण्डन किया है।

7. दर्शनान्तर में आत्मतत्त्व -

दार्शनिक परिकर में किसी भी विषय को अपने शास्त्रीय उद्देश्य के अनुसार व्याख्या की जाती है। जहाँ कोई किसी भी वस्तु को द्रव्य मानता है, तो वहीं किसी अन्य दर्शन में उसी वस्तु को गुण मानता है। इसीलिये तो योग को हम सेश्वरसांख्य कहते हैं। आत्मतत्त्व के सन्दर्भ में विभिन्न दर्शनों की क्या व्याख्या है। यह उपस्थापन करना समीक्षा के दृष्टिकोण से उपयुक्त प्रतीत होता है।

7.1 न्याय-सम्मत आत्मतत्त्व- आत्मा के सन्दर्भ में न्याय और वैशेषिकों की व्याख्या समान ही है, परन्तु कुछ विशेषता इस प्रकार है-

- मन, बुद्धि, देह, सम्वेदनाओं का समष्टि रूप ही आत्मा है या उससे भिन्न इस सन्दर्भ में शरीर से भिन्न आत्मा के अस्तित्व को दिखलाया गया है एवं इन्द्रियादि करण के द्वारा जिस कर्तृत्त्व का उपादान होता है, वही आत्मा है।[41]
- नैयायिकों का कहना है कि मृत शरीर को जलाने में कोई पाप नहीं लगता और जीवित शरीर को जलाने में प्रायश्चित्त की व्यवस्था देखी जाती है। अत: शरीरातिरिक्त कोई जीव विशेष है वही आत्मा है।
- बायीं आँख से देखे हुए व्यक्ति को लोग दांयी आँख से देखने पर भी पहचान लेते हैं। अत: प्रवृत्ति निवृत्ति के प्रति कारणत्व और कर्तृत्व दोनों ही स्पष्ट है। इस प्रकार नैयायिकों ने आत्मतत्त्व के स्वरूप को यथावत् स्थापित किया है और जीवात्मा, परमात्मापरक भेद को भी प्रदर्शित किया है।

7.2 सांख्यसम्मत आत्मतत्त्व-सांख्य में आत्मतत्त्व का विवेचन स्पष्ट रूप से नहीं देखा जाता है, परन्तु गौडपादभाष्य के अनुसार पुरुष ही आत्मा है जिसका अस्तित्व अनुमान के आधार पर होता है।[42]

यहाँ अनुसन्धान के आधार पर अनुसन्धाता यह कहना चाहता है कि गौडपाद का अनुकरण करते हुए वाचस्पति मिश्र, विज्ञानभिक्षु ने भी पुरुष को आत्मा और प्रकृति को अनात्म माना है और अन्ततोगत्वा अहंकार से युक्त आत्मा ही जीव है; ऐसा कहकर अपने पक्ष को प्रदर्शित किया है।

7.3 योग सम्मत आत्मतत्त्व-योग दर्शन सांख्य के समान ही आत्मा के सन्दर्भ में अपनी बातों को रखता है और कहता है कि अधिष्ठाता होना ही आत्मतत्त्व है तथा चैतन्यता ही इसका अधिष्ठातृत्त्व है।

7.4 वेदान्त सम्मत आत्मतत्त्व-सांख्यानुयायियों के पक्ष को पूर्वपक्ष बनाकर वेदान्ती कहते हैं कि यदि प्रकृति को प्रधान अगर कोई माने तो आत्मा गौण है, लेकिन आत्मा गौण नहीं है। आत्मा शब्द ही प्रधान है।[43] वह आनन्दमय है, वही आनन्द का कारण है, वही परमात्मा है, जीव आनन्दमय नहीं होता है। अत: जीव और आत्मा भिन्न-भिन्न है।

7.5 विशिष्टाद्वैतवेदान्त सम्मत आत्मतत्त्व-इसके अनुसार चित्, अचित् और परमात्मा इन तत्त्वत्रय में चिद्रूप ही आत्मतत्त्व है। वह आत्मा शरीर, इन्द्रिय, प्राण और मन से भिन्न है, नित्य है व व्यापक है।[44]

7.6 चार्वाक सम्मत आत्मतत्त्व-चार्वाक ने आत्मतत्त्व को नहीं माना है और शरीर को ही आत्मा माना है, जो जीवात्मा के नाम से प्रसिद्ध है। चार्वाक का कहना है कि पृथिवी, जल, तेज व वायु के सम्मिश्रण से शरीर की उत्पत्ति होती है और वह लोक सिद्ध अनुभव के आधार पर चैतन्य की व्याख्या करता है कि जिस प्रकार मद्यपान से शरीर में एक गतिविशेष उत्पन्न हो जाती है या यूँ कहें चूना, पान, खैर व सुपारी को मिलाकर खाने से मुँहलाल जैसा होता है; उसी प्रकार पृथिवी, जल, तेज व वायु के सम्मिश्रण से चैतन्यतत्त्व उत्पन्न होता है। आत्मा नामक कोई तत्त्व नहीं है।

8 आत्मतत्त्व की महत्ता-

दार्शनिक निकाय में आत्मतत्त्व प्रतिपादन हेतु परस्पर श्रद्धा

देखी जाती है। औपनिषदिक प्रमाण के अनुसार जहाँ मुक्त्यर्थ आत्मतत्त्व का ज्ञान अत्यावश्यक है। चाहे वह आत्मा ब्रह्म हो या उससे भिन्न हो वह प्रधानतया प्रतिपाद्य है। भगवती श्रुति कहती है कि आत्मा को देखना चाहिये, मनन करना चाहिये, निदिध्यासन करना चाहिये तथा सुनना चाहिये क्योंकि आत्मतत्त्व के दर्शन, मनन, श्रवण व निदिध्यासन से सभी विज्ञान जाना जा सकता है।[45]

यह आत्मतत्त्व व्यवहार का मूल साधक है, जो प्रवर्तन को नियन्त्रित करता है। यह सर्वत्र व्याप्त है। सभी पदार्थों को ग्रहण करता है और सभी शास्त्रों को अपना विषय बनाता है। यह आत्मा शुद्ध चैतन्य है; जाग्रतावस्था, स्वप्नावस्था व सुषुप्त्यवस्था इसके सद्भाव में प्रमाण है। कठोपनिषद का वह रूपक जिसकी चर्चा करना यहाँ मैं अत्यावश्यक समझता हूँ; जहाँ शरीर को रथ, इन्द्रिय को अश्व, बुद्धि को सारथी और आत्मा को रथी कहा गया है।[46]

इस प्रकार आत्मतत्त्व की श्रेष्ठता सभी आस्तिक दर्शनों के द्वारा प्रस्तुत की गई है; जो व्यवहार नियन्त्रण से लेकर के मोक्षपर्यन्त तक की समुचित व्याख्या करता है। यही याज्ञवल्क्य का आध्यात्मिक उपदेश है तो यही ब्रह्म है।

सन्दर्भसूची –

1. नायमात्माप्रवचनेनलभ्यो न मेधया न बहुधा श्रुतेन। कठोपनिषद्– 1/2/23
2. आत्मा वैतनुः। सत्पथ ब्राह्मण, श्लो.– 6.7.6
3. वासांसिजिर्णानि यथा विहाय, नवानिगृह्णातिनयोऽपराणि । तथा शरीराणिविहायजीर्णा, न्यन्यानिसंयातिनवानिदेही ॥ गीता श्लो.– 2.22
4. अमरकोष
5. अत्माअततेरवाआप्तेरवा। निरुक्त, 3/15
6. कठोपनिषद्, शांकरभाष्य।
7. प्रयोजनमनुदिश्यमन्दोऽपि न प्रवर्तते।
8. पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशंकालोदिगात्मा मन इति द्रव्याणि। – वै. सू . , 1.1.5
9. तस्यद्रव्यत्वनित्यत्वेवायुनाव्याख्याते । वै. सू – 3.2.5
10. तत्रात्मामनश्चाप्रत्यक्षे। वै. सू.– 8.1.2
11. विभवान्महानाकाशस्तथाचात्मा। वै. सू. –7.1.22
12. क्रियागुणवत्समवायिकारणमितिद्रव्यलक्षणम्। – वै. सू. , 1.1.15
13. कणादरहस्य , पृ. 36
14. प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनोलिङ्गानि। वै. सू. , 3.2.4
15. स एवजीवनयोनिः प्रयत्न इत्युच्यते। उपस्कारपृ. 240
16. निमेषोन्मेषावपिशरीररस्याधिष्ठातारमनुमापयतः। उपस्कारपृ. 241
17. प्र. पा. भाष्य , पृ. 55
18. वही
19. न्या. क., पृ. 203
20. वही
21. प्र.पा.भा., पृ. 57–58
22. वही
23. वही
24. त. कौ., पृ. 4
25. स. द. सं., पृ. 415
26. न्या. सि. मु., पृ. 153
27. मा. म., पृ. 41
28. सि. चन्द्रिका, पृ. 12
29. न्या. भा. , पृ. 39
30. न्या. वा. , पृ 64
31. सि. चन्द्रिका , पृ. 12
32. प्रमाणादिपदार्थप्रकाशिका, पृ. 10
33. स. द.सं., पृ. 76
34. किरणावली, पृ. 151
35. आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षात्तावज्ज्ञानमुत्पद्यतेतच्चात्मनिलिङ्गम्। उपस्कारभाष्य, पृ. 228
36. प्रत्यभिज्ञानन्तुभिन्नकर्तृकेभ्योव्यावर्त्तमानमेककर्तृकतायांपर्यवस्यति। उपस्कारभाष्य, पृ. 229
37. स यदि स्थिरः तदा सिद्धंनःसमोहितम् । उपस्कारभाष्य , पृ. 230
38. वैशेषिक सूत्र 3.1.18
39. शरीरमेवचैतन्याश्रयः अहङ्कारास्पदत्वात्, भवतिहिगौरोऽहंस्थूलोऽहमित्याद्यहङ्कारसामानाधिकरण्येनप्रत्ययः। उपस्कारभाष्य, पृ. 242
40. ममशरीरमितिममकारसामान्येनाहङ्कारस्य भावात्ममात्मेत्यत्रापितथेति चेन्नतत्रममकारस्यौप–चारिकत्वात्राहोःशिरःइतिवदभेदेऽपि षष्ठ्युपपत्तेः। उपस्कारभाष्य , पृ. 242–243
41. न्यायभाष्य 3.1.1
42. सांख्यकारिका श्लोक 17
43. गौणश्चेन्नात्मशब्दात्। ब्रह्मसूत्र –1.1.6
44. देहेन्द्रियमनःप्राणःधीभ्योऽन्योन्यसाधनः । नित्योव्यापिप्रतिक्षेत्रमात्माभिन्नः स्वतः सुखी। आत्मसिद्धि –यमुनाचार्यकृत । श्लोक – 03
45. आत्मावारेद्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः । बृहदारण्यकोपनिषद्– 2.4.8
46. आत्मानँरथिनंविद्धिशरीरँरथमेवतु। बुद्धिंतुसारथिंविद्धिमनःप्रग्रहमेव च॥ कठोपनिषद् – 1.3.3 इन्द्रियाणिहयानाहुर्विषयाँस्तेषुगोचरान् । आत्मेन्द्रियमनोयुक्तंभोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥ कठोपनिषद् – 1.3.4

ISSN 2278 - 0327

सट्टक परम्परा में कर्पूरमंजरी का महत्व

वरुण मिश्र
संस्कृत शोधच्छात्र
विक्रमाजीतसिंह सनातन धर्म महाविद्यालय
कानपुर, उत्तर प्रदेश

सट्टक शब्द द्राविड़ी भाषा के आट्ट से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ नृत्य है। सट्टक की गणना उपरूपक के अन्तर्गत की जाती है।

प्राकृत-साहित्य में सट्टक का विशेष महत्व है यह संस्कृत साहित्य के साथ-साथ प्राकृत-साहित्य को भी प्रभावित करता है। यह नाट्य के अन्तर्गत ही गिना जाता है किन्तु नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरतमुनि ने कहीं भी इसका वर्णन नहीं किया है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के टीकाकार (अभिनवगुप्त) ने अपनी टीका में कोहल आदि द्वारा लक्षित तोटक, सट्टक और रासक की परिभाषा देते हुए सट्टक को नाटिका के समान ही बताया है। इसमें प्रवेशक और विष्कम्भक का अभाव होता है। काव्यानुशासन में सट्टक की रचना के विषय में इस प्रकार बताया गया है-

विष्कम्भक प्रवेशक रहितो वस्त्वेकभाषाया भवति।
अ-प्राकृत-संस्कृतया सटको नाटिका-प्रतिमः।।[1]

अन्य आचार्यों ने भी सट्टक का समावेश उपरूपकों में ही किया है, जिसका आरम्भ राजशेखर की कर्पूरमंजरी में प्राप्त होता है इससे पूर्व साहित्य या साटक शब्द का प्रयोग नाट्य प्रदर्शन के लिए मिलता है, किन्तु इसका स्वरूप स्पष्ट नहीं है, इसी को दृष्टिगत रखते हुए सट्टककार राजशेखर ने अपनी कर्पूरमंजरी की प्रस्तावना में ही सट्टक के स्वरूप का उल्लेख इस प्रकार से किया है-

सो सट्टओं त्ति भणइ दूरं जो णाडिआइं अणुहरइ
किं उण एत्थ पबेसअबिक्कंभाई ण केवलं होंति।।[2]

अर्थात् जिस प्रबन्ध में नाटिकाओं का पूरा-पूरा अनुकरण हो, केवल प्रवेशक और विष्कम्भक न हो उसे सट्टक कहते हैं। सट्टक पूर्णत: प्राकृत भाषा में निबद्ध होता है केवल पात्रों के नाम और अभिनय के संकेत संस्कृत में प्राप्त होते हैं यह लोकरंजन की अत्यन्त उत्कृष्ट परम्परा का संवाहक होता है, जो का एक महत्वपूर्ण साधन सा प्रतीत होता है। सट्टक में अइ के स्थान पर 'जवनिकान्तर' का प्रयोग होता है यह 'जवनिकान्तर' संख्या में चार ही होते हैं।

साहित्य-दर्पण के अनुसार सट्टक पूर्णतया प्राकृत में ही होता है और अद्भुत रस की इसमें प्रधानता रहती है।[3]

प्राय: किसी नायिका के नाम पर ही सट्टक का नाम रखा जाता है। राजशेखर ने इसे प्राकृतबन्ध कहा है, नृत्य द्वारा इसका अभिनय किया जाता है। सट्टक परम्परा में महाकवि राजशेखर द्वारा रचित कर्पूरमंजरी एक महत्वपूर्ण सट्टक है जिसमें राजशेखर के उच्च कोटि की प्रतिभा सम्पन्न होने के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। जो उन्हें एक अलग दिशा की ओर ले जाते हैं सट्टककार ने संस्कृत को छोड़कर प्राकृत में अपने ग्रन्थ की रचना की है जिसका कारण इस प्रकार स्पष्ट किया है-

परूसा संक्किअबंधो पाउदबंधों बि होई सुउमारो
पुरूससमहिलाणं जेत्ति अमिहंतरं तेत्तिअमिमाणं[4]

अर्थात् संस्कृत भाषा में की गई रचना नीरस होती है, प्राकृत की रचनाएं ही मधुर होती हैं। जिस तरह पुरुष कठोर होते हैं उसी तरह संस्कृत रचना कठोर होती है जिस तरह स्त्रियाँ सुकुमार होती है उसी प्रकार प्राकृत रचनाएँ मधुर और सुकुमार होती हैं। कर्पूरमंजरी, विलासवती, चन्दलेहा, आनन्दसुन्दरी, शृङ्गारमंजरी यही प्रमुख सट्टक हैं।

रंभामंजरी को कुछ विद्वान् सट्टक की श्रेणी में मानते हैं किन्तु रंभामंजरी में तीन जवनिकान्तर है इसमें संस्कृत का भी प्रयोग हुआ है इसी कारण इसे सट्टक की श्रेणी में स्थान नहीं प्राप्त हो सका प्रमुख पाँच सट्टकों में मार्कण्डेय कृत विलासवतीसट्टक उपलब्ध नहीं है प्राप्त सट्टकों में यायावरवंशी राजशेखर का सट्टक कर्पूरमंजरी एक प्रतिनिधि सट्टक है जिसने साहित्य में सट्टक परम्परा का सूत्रपात किया कर्पूरमंजरी सट्टक का नायक राजा चन्द्रपाल है नाट्यशास्त्र के नियमों के अनुसार इसको धीरललित नायक कहना चाहिए। दशरूपक में धीरललित नायक को निश्चिन्त, कलासक्त, सुखी और मृदु स्वभाव का बतलाया गया है-

निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः[5]

राजाचन्द्रपाल में यह सब गुण प्रचुरता से पाये जाते हैं। उसे राज्य की कोई चिन्ता नहीं है। संगीत कला में उसे विशेष रुचि है तथा कोमल वृत्ति का तो यह है ही कर्पूरमंजरी को देखकर एकदम यह उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाता और उससे प्रेम करने लगता है।

राजा–अहह! अच्चरिअं! अच्चरिअं!
जं धोआंजणसोणलोअणजुअं लग्गालअग्गं मुहं
हत्थालंबिदकेसपल्लवचए दोल्लंति जं बिंदुणो।
जं एक्कं चिअंचलं ण्णिबसिदं तं ण्हाणकेलिट्ठिदा
आणोदा इअमब्भुदेक्कजणणी जोईसरेणामुणा।

अर्थात् राजा उस अपूर्व सुन्दरी को जब देखता है तो आश्चर्य युक्त होकर कहता है। आश्चर्य है कि इसकी आँखों से काजल धुला हुआ है और इसीलिए इसकी आँखे लाल हैं, मुख पर लटो का बिखराव है, वह हाथ से अपने केशों को पकड़े हुए है और केशों से पानी की बूंदे टपक रहीं हैं। एक वस्त्र से शरीर ढका हुआ है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि इस योगीश्वर ने स्नान–क्रीडा के बाद ही इस सुन्दरी को यहाँ उपस्थित किया है।[6]

राजा के द्वारा आश्चर्य चकित होकर निहारने पर वह नायिका भी अपने मन में विचार करने लगती है कि यह राजा इस दृष्टि से क्यों देख रहा है जबकि भगवान शिव की पार्वती की तरह इसकी रानी है राजा को भी आभास होता है कि नायिका के हृदय में मेरे प्रति प्रेम जाग्रत हो रहा है इस आशय से वह विदूषक से कहता है–

जं मुक्का सबणंतरेण तरला तिक्खा कडक्खच्छड।
शुंगाधिटिअकेदअग्गिमदलद्दोणीसरिच्छच्छई।
तं कप्पूरसेण णं धवलिदो? ज्योण्हाअणंण्हाबिदो?
मुत्ताणं धणरेणुण त्व छुरिदो? जादो म्हि एत्थंतरे।।[7]

राजा विदूषक से कहता है कि इस नायिका ने कानों तक फैले हुए, चंचल तथा केतकी के दल रूपी द्रोणी के समान छवि वाले तीक्ष्ण कटाक्षों से जो मुझको देखा है, उससे ऐसा मालूम पड़ता है कि जैसे मैं कर्पूर के जल से धो दिया गया हूँ। या चाँदनी में मुझे स्नान करा दिया गया है अथवा मोतियों का अंगराग मुझ पर लगा दिया गया है

इस प्रकार नायिका और नायक के हृदय में परस्पर प्रेम उत्पन्न होने लगता है नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरतमुनि जी ने कहा है– शृङ्गार रस रति स्थायी भाव से उद्भूत होता है। उसका वेष उज्वल होता है संसार में जो कुछ पवित्र, उज्वल, तथा दर्शनीय है वह शृङ्गार से अनुमित होता है–

यथा यत्किंचित् लोके शुचि तथा दर्शनीयं वा तच्छृंगा रेणानुमीयते।[8]

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार काम के अंकुरण को शृङ्गार कहते हैं। उसकी उत्पत्ति का कारण अधिकांश उत्तम प्रकृति से युक्त शृङ्गार रस कहलाता है।

शृंगारोमन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः।
उत्तम प्रकृतिप्रायो रसः शृङ्गार इष्यते।।[9]

शृङ्गाररस के आलम्बन प्रायः उत्तम–प्रकृति के ही प्रेमीजन हुआ करते हैं अर्थात् परकीया या अनुराग शून्य वैश्या नायिका को छोड़कर अन्य प्रकार की नायिकाएँ तथा दक्षिण आदि प्रकार के नायक ही इसके उपयुक्त आलम्बन विभाव है। चन्द्र–चन्द्रिका, चन्दनानुलेपन, भ्रमर का मधुर गुंजन, कोकिल की पंचम तान इत्यादि इसके उद्दीपन विभाव हैं–

ऋतुमाल्यालंकारैः प्रियजनगान्धर्व सेवाभिः।
उपवनगमनविहारैः शृंगाररसः समुद्भवति।।[10]

इस प्रकार हृदय में उत्पन्न राग परस्पर राजा और रानी के मध्य प्रेम उत्पन्न कर देता है राजा उसके अपूर्व सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाता है तथा अपनी सुध–बुध खो बैठता है यह राजकुमारी भैरवानन्द की योगशक्ती से उत्पन्न हुयी है। यह राजकुमारी विभ्रमलेखा की मौसी शशिप्रभा की पुत्री थी अतः रानी भैरवानन्द से कुछ काल तक अपने समीप रखने का निश्चय करती है और वह भैरवानन्द से अपनी मंसा प्रकट करती है। राजा कर्पूरमंजरी की याद में ह्विल रहने लगता है। विच्छणा राजा को कर्पूरमंजरी द्वारा लिखित एक केतकी पत्र देती है तथा स्वयं मुख से राजा के वियोग में उसकी दशा का वर्णन करते हुए कहती है।

णीसासा हारजट्ठीसरिसपसरणा चन्दणं फोडकारी
चन्दो देहस्स दाहो सुरणसरिसी हासमोहा मुहम्मि।
अबाणं पण्डुभाओ दिवससंसिकलाकोमलो किं च तीए
णिच्चं बाहप्पवाहा तुह सुहअ! कए होंति कुल्लाहिं तुल्ला।।[11]

हे सौभाग्यशालिन्! तुम्हारे कारण कर्पूरमंजरी बड़ी गहरी सांसे लेती है, चंदन का रस उसके शरीर पर जलन उत्पन्न करता है, चन्द्रमा उसकी देह को जलाता है, उसके मुख पर मुस्कराहट भी 'मैं मर रही हूँ मेरी याद रखना' इस तरह का स्मरण सा कराती है, उसका शरीर पीला पड़ गया है जैसे कि दिन के समय चन्द्रमा फीका–सा लगता है, उसके निरन्तर बहते हुए आंसू किसी कृत्रिम नदी की तरह लगते हैं।

रानी घनसारमंजरी को कर्पूरमंजरी से भिन्न समझती थी। राजा का विवाह घनसारमंजरी से सम्पन्न होता है।

(शेष पृष्ठ–132 पर..)

ISSN 2278 - 0327

वास्तुकला में द्वार निर्णय का शास्त्रीय स्वरूप

सीताकान्त कर
शोधच्छात्र
केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, भोपाल परिसर

मानव जीवन की अनिवार्य एवं मौलिक आवश्यकता में गृह का महत्वपूर्ण स्थान है। वह भवन जिसमें मनुष्य निवास करता है उसे वास्तु कहते हैं। सभी आश्रमों में महत्वपूर्ण आश्रम गृहस्थाश्रम। गृहस्थी गृह के विना गृहस्थ की सिद्धि सम्भव नहीं है। *गृहस्थस्य क्रिया: सर्वा न सिद्ध्यन्ति गृहं विना।*[1] स्त्री-पुत्र आदि के भोग, सुख, धर्म, अर्थ, काम को देने वाला, प्राणियों के सुख का स्थान और सर्दी, वायु, गर्मी आदि कष्टों से रक्षा करने वाला गृह ही है।

भवन का द्वार उसमें प्रवेश करने का ही द्वार नहीं है अपितु वास्तुशास्त्र के आचार्यों के अनुसार यह मनुष्य के जीवन की सुख शान्ति और समृद्धि का भी द्वार है। किसी भी घर में प्रवेश द्वार का विशेष महत्व होता है। प्रवेश द्वार की स्थिति वास्तु सम्मत होती है तो उसमें रहनें वालों का स्वास्थ्य, समृद्धि सब कुछ ठीक रहता है और अगर यह गलत हो तो कई परेशानियों का सामना करना पड़ जाता है जैसे कि व्यक्तियों में तनाव, आलस एवं अनुत्साह को पैदा कर उसके आचार, विचार एवं क्रियाकलापों में अनेक प्रकार की बाधाओं को उत्पन्न करती है। जिस प्रकार मनुष्य के शरीर में रोग के प्रविष्ट करने का मुख्य मार्ग मुख होता है उसी प्रकार किसी भी प्रकार की समस्या के भवन में प्रवेश का सरल मार्ग भवन का प्रवेश द्वार ही होता है। इसलिए द्वार का वास्तु शास्त्र में विशेष महत्व है। गृह के मुख्य द्वार को शास्त्र में गृहमुख माना गया है। यह परिवार व गृहस्वामी की शालीनता, समृद्धि व विद्वत्ता दर्शाता है। इसलिए वास्तुशास्त्र के प्रणेता और हमारे ऋषियों ने भवन के द्वार का विचार धीरता और गम्भीरता से किया है।

द्वार का निर्णय करने के लिए वास्तुशास्त्र के ग्रन्थों में अनेक नियमों का वर्णन किया गया है जिनमें राशि के अनुसार, वर्ण के अनुसार, मास के अनुसार, गृहारम्भ की तिथी के अनुसार, द्वार का स्थापना भवन के किस भाग में, कब व कैसे हो इस बारे में तथा प्रधानद्वार एवं अन्य द्वारों का अन्तर, द्वार का मान, द्वार के दोष, द्वार स्थापना का मुहूर्त्त कइ नियम वास्तुग्रन्थों में तथा मुहूर्त्तचिन्तामणि में वर्णन किया गया है।

राशि के अनुसार द्वार की दिशा-

ब्राह्मण राशि (4,8,12) के लिये पूर्वद्वार, क्षत्रिय राशि (1,5,9) के लिये उत्तर द्वार, वैश्यराशि के लिये (2,6,10) दक्षिण द्वार शूद्रराशि (3,7,11) के लिये पश्चिम द्वार शुभ है। यथा-

पूर्वे ब्राह्मणराशीनां वैश्यानां दक्षिण शुभम्।
शूद्राणां पश्चिमे द्वार नृपाणामुत्तरे मतम् ॥[2]

राशि	प्रशस्तदिशा
कर्क, वृश्चिक, मीन	पूर्व
वृष, कन्या, मकर	दक्षिण
मिथुन, तला, कुम्भ	पश्चिम
मेष, सिंह,धनु	उत्तर

वर्ण के अनुसार द्वार की दिशा -

ध्वजे प्रतीच्यां मुखमग्रजानामुदङ्मुखं भूमिभृतां च सिंहे।
विशो वृषे प्राग्वदनं गजे तु शुद्रस्य यम्यां न समामनान्ति ॥[3]

ब्राह्मणों को पश्चिम दिशा में, क्षत्रियों को उत्तर दिशा में, शूद्र को दक्षिण दिशा में और वैश्यों को पूर्व दिशा में मुख्य द्वार बनना चाहिए।

वर्ण	प्रशस्तद्वार दिशा
ब्राह्मण	पश्चिम
क्षत्रिय	उत्तर
वैश्य	पूर्व
शूद्र	दक्षिण

आय के अनुसार द्वार की दिशा-

द्वजादिका: सर्वदिशि ध्वजे मुखं कार्य हरौ पूर्वयमोत्तरे तथा।
प्राच्यां वृषे प्राध्यमयोगर्गजेऽथवा पश्चदुदक्पूर्वयमे द्विजादित:॥[4]

अर्थात् यदि ध्वज आय हो तो चारों दिशाओं में से जिस दिशा में इच्छा हो उसमे गृह का द्वार निर्माण करें। सिंह आय हो तो

पूर्व पश्चिम दक्षिण इन 3 दिशा में से जिधर इच्छा हो द्वार निर्माण कर सकते हैं। वृष आय हो तो पूर्व में, गज आय हो तो पूर्व दक्षिण दिशा में मुख्य द्वार बनना चाहिए।

सूर्यस्थित राशि के अनुसार द्वारविचार–

कुम्भेऽर्के फाल्गुने प्रागपरमुखगृहं श्रावणे सिंहकर्कयोः
पौषे नक्रे च याम्योत्तरमुखसदनं गोऽजगेऽर्के च राधे।
मार्गे जूकालिगे सद्ध्रुवमृदुवरूणस्वातिवस्वर्कपुष्यैः
सूतीगेहं त्वादित्यां हरिभविधिभयोस्तत्र शस्तः प्रवेशः॥[6]

श्रीपति के अनुसार कुम्भराशि, सिंहराशि, मकरराशि, कर्कराशि में सूर्य स्थित हों तो गृह का द्वार पूर्व अथवा पश्चिम दिशा में शुभ होता है। मेषराशि, वृषराशि, तुलाराशि, वृश्चिकराशि में सूर्य स्थित हों तो उत्तर या दक्षिण में द्वार शुभ होता है।

क्र.	सूर्यस्थ राशि	द्वार दिशा
1	कर्क, मकर, सिंह, कुम्भ	पूर्व, पश्चिम।
2	तुला, मेष, वृष, वृश्चिक	उत्तर, दक्षिण।

गृहारम्भ तिथि के अनुसार द्वारविचार –

पूर्णिमातोऽष्टमीं यावत्पूर्वस्यां वर्जयेद्गृहम्।
उत्तरस्यां न कुर्वीत नवम्यादिचतुर्दशीम् ॥
अमातश्चाष्टमीं यावत्पश्चिमास्यां विवर्जयेत्।
नवम्यां दक्षिणस्यां यावच्छुक्लचतुर्दशीम् ॥[6]

अर्थात् गृहारम्भ का दिन यदि पूर्णिमा से लेकर कृष्णपक्ष की अष्टमी तक हो तो भवन का मुख्य द्वार पूर्व दिशा में बनाना चाहिए। यदि कृष्ण पक्ष की नवमी से चतुर्दशी के भीतर गृहारम्भ का दिन हो तो भवन का मुख्य द्वार उत्तर दिशा में बनाना चाहिए। अमावस्या से शुक्लपक्ष की अष्टमी तक गृहारम्भ का दिन हो तो भवन का मुख्य द्वार पश्चिम दिशा में बनाना चाहिए और यदि शुक्लपक्ष की नवमी से चतुर्दशी तक, गृहारम्भ का दिन हो तो भवन का मुख्य द्वार दक्षिण दिशा में बनाना चाहिए।

गृह के दीर्घ-विस्तार से द्वारविचार–

पूर्वादौ त्रिषडर्थपञ्चमलवेद्वाः सव्यतोऽङ्कौद्धृते।
दैर्घ्ये व्यंशसमुच्छ्रिताब्दिलवके सर्वासुदिक्षूदिता॥[7]

मार्तण्ड के मत से गृह के दीर्घ-विस्तार के योग में 9 का भाग देकर पूर्व द्वार करना हो तो वायीं और से दो हिस्सा भूमि को छोड़कर तीसरे चौथे अंश में, दक्षिणाभिमुख द्वार बनाना हो तो चौथे पाँचवे भाग में और उत्तराभिमुख द्वार करना हो तो चौथे पांचवे भाग में ही द्वार की रचना करनी चाहिये।

दिशावश द्वारविचार –

क्र.	दिशा	द्वारनाम	फल
1	पूर्ब	विजय	शुभ
2	दक्षिण	यम	अशुभ
3	पश्चिम	मकर	सामान्य शुभ
4	उत्तर	कुबेर	शुभ

इक्यासी और चौंसठ पद वास्तुचक्र के अनुसार द्वारनिर्णय और द्वार का फल–

नवगुणसूत्रविभक्तान्यष्टगुणेनाथवा चतुःषष्टेः।
द्वाराणि यानि तेषामनलादीनां फलोपनयः॥[9]

अर्थात् इक्यासी पद में नवगुणित सूत्र से और चौंसठ पद में अष्टगुणित सूत्र से विभक्त होकर जो अनिल आदि बत्तीस द्वार बने हैं क्रम से उनके फल का वर्णन निम्नप्रकार का है।

शिखि से लेकर अन्तरिक्ष तक पूर्व द्वार का फल –

अनिलभयं स्त्रीजननं प्रभूतधनता नरेन्द्रवाल्लभ्यम्।
क्रोधपरतानृतत्वं क्रौर्य चौर्यं च पूर्वेण॥[10]

शीखी से लेकर अन्तरिक्ष तक आठ देवता पूर्व में हैं। उनमें शिखी ऊपर द्वार हो तो अग्नि भय, पर्य्यन्य के ऊपर द्वार हो कन्या जन्म, जयन्त के ऊपर द्वार हो तो बहुत धन, इन्द्र के ऊपर द्वार हो तो राजा की प्रसन्नता, सूर्य के ऊपर द्वार हो तो क्रोधीपन, सत्य के ऊपर द्वार हो तो असत्य भाषण, भृश के ऊपर द्वार हो तो क्रूरता और अन्तरिक्ष के ऊपर द्वार हो तो तस्करता आती है।

अनिल से लेकर मृग तक दक्षिण द्वार का फल –

अल्पसुतत्वं प्रैष्यं नीचत्वं भक्ष्यपानसुतवृद्धिः।
रौद्रं कृतघ्नमघनं सुतवीर्यघ्नं च याम्येन ॥[11]

अनिल से लेकर मृग तक आछ देवता दक्षिण में हैं। उन में अनिल के ऊपर द्वार हो तो अल्प पुत्र, पौष्ण के ऊपर दासपन, वितथ के ऊपर नीचपन, बृहत्क्षत के ऊपर भोजन, पानवस्तु और पुत्रों की बृद्धि, याम्य के ऊपर अशुभ, गन्धर्व के ऊपर कृतघ्नता, भृङ्गराज के ऊपर निर्धनता और मृग के ऊपर द्वार हो तो पुत्र के बल हानि होती है।

पिता से लेकर पापयक्ष्मा तक पश्चिम द्वार का फल –

सुतपीडा रिपुवृद्धिर्न सुतधनप्राप्तिः सुतार्थफलसम्यत्।
धनसम्पन्नृपतिभयं धनक्षयो रोग इत्यपरे ॥[12]

पिता से लेकर पापक्ष्मा तक आठ देवता पश्चिम में है। उनमें पिता के ऊपर द्वार हो तो पुत्रों की पीड़ा, दौवारिक के ऊपर शत्रु की वृद्धि, सुग्रीव के ऊपर पुत्र और धन का लाभ, कुसुमदन्त के

ऊपर पुत्र और धन सम्पत्ति की प्राप्ति, वारुण के ऊपर धन सम्पत्ति, असुर के ऊपर राजभय, शोष के ऊपर धननाश तथा पापयक्ष्मा के ऊपर द्वार हो तो रोग होता है।

रोग से लेकर दिति तक उत्तर द्वार का फल –

बधबन्धो रिपुवृद्धि: सुतधनलाभ: समस्तगुणसम्पत्।
पुत्रधनाप्तिर्वैरं सुतेन दोषा: स्त्रीया नै:स्वम् ॥[13]

अर्थात् रोग से लेकर दिति तक आठ देवता उत्तर में हैं। उन में रोग के ऊपर द्वार हो तो मृत्यु और बन्धन, सर्प के ऊपर द्वार हो तो शत्रु की वृद्धि, मपख्य के ऊपर द्वार हो तो पुत्र और धन का लाभ, मल्लाट के उपर द्वार हो तो सम्पूर्ण सौर्यादि गुणों की सम्पत्ति, सोम के ऊपर द्वार हो तो पुत्र से द्वेष, अदिति के ऊपर द्वार हो तो स्त्री के द्वारा दोष तथा दिति के ऊपर द्वार हो तो निर्धनता होती है।

द्वार स्थापन का शुभनक्षत्र –

द्वारस्थापननक्षत्राप्युच्यन्तेऽश्विनि चोत्तरा:।
स्वातौ पूष्णि च रोहिण्यां द्वारशाखावरोपणम्॥[14]

अश्विनी, तीनों उत्तरा, स्वाती, रोहिणी ये नक्षत्र द्वार स्थापन के लिये शुभ होता है। मुहूर्त्तमुक्ताबलि के अनुसार रेवती, अनुराधा, पुष्य, ज्येष्ठा, हस्ता, अश्विनी, चित्रा, स्वाती,और पुनर्वसु नक्षत्र शुभ होतो है। आचार्य गुरू के मतसे ध्रुव नक्षत्रों में द्वार का स्थापन शुभ है।

द्वार स्थापन का शुभ तिथि–

पञ्चमी धनदा चैव मुनिनन्दवसौ शुभम्।
प्रतिपत्सु न कर्तव्यं कृते दु:खमवाप्नुयात्॥
द्वितीयायां द्रव्यहानि: पशुपुत्रविनाशनम्।
तृतीया रोगदा ज्ञेया चतुर्थी भङ्गकारिणी॥
कुलक्षयं तथा षष्ठी दशमी धननाशिनी।
विरोधकृदमा पूर्ण नस्याच्छास्वावरोपणम्॥[15]

पञ्चमी तिथि में द्वार स्थापन करने से धन लाभ, इसके अतिरिक्त सप्तमी, अष्टमी, नवमी तिथियां भी शुभ है। प्रतिपदा तिथि को द्वार स्थापन करने से दु:ख की प्राप्ति होती है, अत: यह वर्जित है। तृतीया में रोग चतुर्थ में भंग, षष्ठी में कुलनाश, दशमी में धननाश और पूर्णिमा, अमावास्या वैरकारक होती है। मुहूर्त्तमुक्ताबलि के अनुसार नन्दा, जया, पूर्णा तिथियां द्वार स्थापना में शुभ होती है।

द्वार स्थापन का शुभ वार –

रवि, सोम, बुध, गुरु, शुक्र वार द्वार स्थापन के लिए शुभ वार इस वार में द्वार का स्थापन करें।

द्वार स्थापने शुभ लग्न –

स्थिर लग्न, द्विस्वभाव लग्न में द्वार का स्थापन करें।

द्वारचक्र से द्वार का स्थापन –

सूर्यर्क्षाद्युगभै: शिरस्यथ फलं लक्ष्मीस्तत: क्रोणभै-
र्नगैरूद्वसनं ततो गजमितै: शाखासु सौख्यं भवते।
देहल्यां गुणभैर्मृतिर्गृहपतेर्मध्यस्थितैर्वेदभै:
सौख्यं चक्रमिदं विलोक्य सुधिया द्वारं विधेयं शुभम्॥[17]

जिस दिन द्वार का स्थापन करना चाहते हैं उस दिन की नक्षत्र शुद्धि के लिए द्वारचक्र का ज्ञान आवश्यक है। जिस नक्षत्र सें सूर्य बैठे हों उससे लेकर 4 नक्षत्र शिर में अर्थात् उत्तराङ्ग में स्थापित करें। इनमें यदि घर का दरवाजा लगाया जावे तो वह लक्ष्मी-प्राप्ती हेती है। फिर 8 नक्षत्र चारों कोनें में रखे, इनमें द्वार का स्थापन हो तो घर का स्वामी या परिवार सदा बाहर ही रहते हैं। फिर 8 नक्षत्र बाजुओं में रखें, इसमें रहने वालों का सुख होता है। फिर तीन नक्षत्र देहली में रखे, इसमें स्वामी का मरण होता है। फिर 4 नक्षत्र मध्य में रखें इससे घर से रहने वालों को सुख होता है।

स्थान	शिर	कोण	शाखा	देहली	मध्य
नक्षत्र	1–4	5–12	13–20	21–23	24–27
फल	लक्ष्मीप्राप्ति	उद्वास	सौख्य	मरण	सुख

द्वार वेध विचार –

गृह के द्वार के सामने यदि मार्ग, वृक्ष, कोण, कूप, स्तम्भ, चक्र से वेध हो तो अशुभ होता है। किन्तु द्वार की ऊँचाई से दूरी पर ये सब हों तो उक्त दोष नहीं होता।

वेधित द्वार का फल –

मार्ग से वेध युक्त गृह का द्वार हो तो गृहपति का नाश करता है। वृक्ष से वेध युक्त गृह द्वार बालकों के लिये अहित होता हैं, पंक विद्ध द्वार शोक करता है। जल निकलने वाले मार्ग से विद्ध द्वार धन व्यय करता है, कुएँ से विद्धद्वार अपस्मार रोग करता है, देव मूर्ति से विद्धद्वार विनाश कारक होता है। स्तम्भ विद्धद्वार स्त्री को दुश्चरित्र बनता है, ब्राह्मा के सम्मुख हो तो कुल का नाश हो ता है।

द्वार के विशेष विचार: –

उन्माद: स्वयमुद्घाटितेऽथ पिहिते स्वयं कुलविनाशा:।
मानाधिके नृपभयं दस्युभयं व्यसनमेव नीचे च॥
द्वार द्वारस्योपरि यत्तत्र शिवाय शङ्कटं यच्च।
आव्यात्तं क्षुद्भयदं कुब्जं कुलनाशनं भवति॥
पीडाकरमतिपीडितमन्तविनतं भवेदभावाय।
वाह्यविनते प्रवासो दिग्भ्रान्ते दस्युभि: पीडा॥[18]

दरवाजा यदि अपने आप खुलता हो तो उन्माद रोग होता है,

स्वयं बन्द होता हो तो कुल नाश, प्रमाण से अधिक हो तो राजभय, प्रमाण से अधिक हो तो राजभय, प्रमाण से कम हो तो चोर भय और शारीरिक कष्ट होता है। द्वार के उपर द्वार शुभ नहीं होता है। मोटाई में कम द्वार भी अच्छा नहीं होता, जो अधिक मोटा दरवाजा होता है वह भूख का भय करता है। यदि टेढा हो तो कुल का नाश करता है द्वार पर यदि गूलर का पेड़ लगा हो तो गृहपति को कष्ट देता है। गृह के भीतर झुकाव हो तो गृहपति का मरण होता है। यदि बाहर की और झुका हो तो परदेश में निवास करता है और यदि दूसरी दिशा में झुका हो तो चोर पीड़ादायक होता है।

कभी भी अपने घर के द्वार या मुख्य दरवाजे को सादा या निरुत्साह न रखें, कोशिश करें की हरियाली, तेजस्वी लाइटिंग डिजाइन, या उज्वल रंगों के माध्यम से इसे सुंदर बनाएं। आकर्षक द्वार बनाने के लिए सुखद और सुन्दर फूल के पौधों का इस्तेमाल कर सकते हैं।

भूखण्ड के कटना या विस्तार के भाग में मुख्य द्वार नहीं बनाना चाहिए। [19]

कमजोर, टेढा-मेड़ा, खराब, बहुत ऊँचा, भयंकर, ढीला, अत्यधिक फैलै हुआ, विशाल, अग्रभाग स्थूल, मध्यभाग छोटा या पतला, अपने आप चलने वाला, छोटा, बगल से निकला हुआ एवं सूत्रमार्ग भ्रष्ट- ऐसे द्वार अशुभ होते हैं।[20]

द्वार पर छाया या अंधकार न हो प्रतिच्छाया या अन्धकार कभी भी अच्छे या सकारात्मक विषयवस्तु से नहीं जुड़ा होता है इसलिए, सामने के दरवाजे को इस तरह रखें कि इस पर कोई छाया या प्रतिच्छाया न हो।

इस प्रकार द्वार वास्तुकला में द्वार निर्णय का शास्त्रीय स्वरूप का अनुपालन करते हुए वास्तु सम्मत द्वार का निर्माण करें। जिससे निर्मित वास्तु क्षेत्र में रहने वाले अथवा कार्य करने वाले कर्मचारियों का तन, मन, और जीवन स्वत: स्फूर्त हो सके।

सन्दर्भसूची -

1. भविष्यपुराण उद्धृत वास्तुरत्नाकर, 1/7-8
2. बृहद्वास्तुमाला द्वारनिर्णय: श्लोक-149
3. वृ.वा.मा द्वारवेधविचार, श्लोक-151
4. मु.चि वास्तुप्रकरणम् पीयूषधारा टीका श्लोक-5
5. मु.चि वास्तुप्रकरणम् पीयूषधारा टीका श्लोक-15
6. वास्तुरत्नावली वास्तुनिरणय श्लोक-80/81
7. वृ.वा.मा.द्वारवेधविचार, श्लोक-152
8. भवनभास्कर पृ.53-57
9. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय: श्लो.सं- 71
10. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय: श्लो.सं 72
11. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय: श्लोक.सं 73
12. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय: श्लोक.सं 74
13. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय: श्लोक.सं 75
14. बृ.वा.द्वारस्थापनविचार:, श्लो.सं ङ्क 168
15. बृ.वा.माला.द्वारस्थापनविचार:, श्लो.सं - 171
16. वास्तुसार गृ.नि.प्र.श्लोक 143
17. मु.चि. वास्तुप्रकरणम् पियूषधारा टीका श्लोक 29
18. बृ.सं. वास्तुविद्याध्याय श्लोक 81
19. भारतीय बास्तुशास्त्र पृ.103,169
20. समरांगण सूत्रधार 48/19-96

(पृष्ठ -128 का शेष.....)

इस कार्य में रानी ने गौरी की प्रतिमा बनवाकर भैरवानन्द से जब गुरूदक्षिणा लेने के लिए बड़ा आग्रह किया तो उन्होंने कहा कि यह दक्षिणा महाराज को दे दो।

लाट देश के चन्द्रसेन की पुत्री घनसारमंजरी का राजा से विवाह करा दो इस प्रकार राजा भी चक्रवर्ती हो जायेगें और मुझे भी दक्षिणा मिल जायेगी।

इस सट्टक में सभी शास्त्रीय लक्षण मिलते हैं। इसकी सभी गाथाएँ अत्यन्त सुन्दर हैं। इसमे कुल 144 गाथाएँ हैं जिनमें शार्दूलविक्रीडित, वसन्ततिलका, स्त्रगधरा आदि 17 प्रकार के छन्द प्रयुक्त हुए हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची-

1 हेमचन्द्र, काव्यानुषासन पृष्ठ 444
2 कर्पूरमंजरी, 1/6
3 साहित्यदर्पण पृष्ठ 6/ 276-277
4 कर्पूरमंजरी, 1/8
5 दषरूपकम्, द्वितीय, पृष्ठ 114
6 कर्पूरमंजरी, 1/26
7 कर्पूरमंजरी, 1/29
8 नाट्यशास्त्र पृष्ठ 73
9 साहित्यदर्पण, 3/183
10 नाट्यशास्त्र, 6/47
11 कर्पूरमंजरी, 2/10

ISSN 2278 - 0327

महर्षि दयानन्द का शिक्षा दर्शन

अदिति
(शोधच्छात्रा)
संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

ज्ञान या शिक्षा ऐसा मार्ग है, जो हमें सत्यासत्य के साथ हिताहित का निर्णय करने की कसौटी प्रदान करता है। यह ज्ञान ही हमें असत् से सत् की ओर, तमस् से ज्योति की ओर तथा मृत्यु से अमरत्व की ओर ले जाता है। जैसा कि कहा है- *असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्मामृतं गमय।*[1] मनुष्य की समस्त समस्याओं का समाधान शिक्षा के माध्यम से किया जा सकता है। प्राची ही वह दिशा है, जहां विद्या का सूर्य उदित होता है। वस्तुत: यह एक सामान्य शिक्षा विषय नहीं अपितु एक दूरदर्शी परिव्राजक का शिक्षा दर्शन है। स्वामी जी का शिक्षा दर्शन अखण्डता, समता और एकता इस भावत्रय से अनुप्राणित होता है।

शिक्षा का प्रारम्भ-

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थ प्रकाश के द्वितीय समुल्लास में शिक्षा विषयक वर्णन व तृतीय समुल्लास में पठनपाठन विषयक वर्णन किया है तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में भी यह विषय वर्णित है। शिक्षा, विद्या, ज्ञान वह होता है जिससे मनुष्य अपनी आत्मा, परमात्मा व सृष्टि का सत्य-सत्य ज्ञान प्राप्त कर वह कृषि, राज्यरक्षा, न्यायव्यवस्था, चिकित्सा, शिल्प व प्रबन्धन आदि कार्यों के संचालन व उन्नति में सक्षम हो सके। इन लक्ष्यों को प्राप्त कराने वाली शिक्षा पद्धति गुरुकुल शिक्षा प्रणाली ही रही है। यही एक ऐसी प्रणाली है, जिसके द्वारा अध्ययन कर मनुष्य परा व अपरा विद्या सहित अध्यात्म व सांसारिक सभी विषयों का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। महर्षि दयानन्द सरस्वती का शिक्षा-दर्शन शिक्षा को जीवन का अनिवार्य अङ्ग मानने के पक्ष में है। उनकी दृष्टि में माता, पिता व आचार्य तीनों ही शिक्षक होते हैं, तीनों शिक्षित होने पर ही बालक विद्वान् बनता है। शतपथ ब्राह्मण में भी उद्धृत है- *मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद।*[2] केवल आचार्य के पढ़ाने से मनुष्य विद्वान् नहीं बनता, क्योंकि आचार्य के पास विद्यार्थी पर्याप्त बड़ा होने के पश्चात् ही पहुंचता है। शिक्षा के भव्य भवन की आधारशिला रखने वाली माता है। माता की अध्ययन कराने की शैली, पिता व आचार्य की अपेक्षा बहुत मधुर होती है, उसमें दण्ड का भय न होकर ममता का रस अनुस्यूत होता है, अत: उसके द्वारा पढ़ाया गया नीरस विषय भी सरस हो जाता है। जब वह सन्तान पांच वर्ष की हो जाए तब पिता को आचार्य के दायित्व का निर्वाह करना चाहिए। पांच वर्ष की अवस्था से पिता को यह दायित्व इसलिए सौंपा गया है कि इस अवस्था में बच्चे को शिक्षा के साथ अनुशासन की भी आवश्यकता होती है, परन्तु वह अनुशासन भी अतिकठोर नहीं होना चाहिए और इस अपेक्षा को मात्र पिता पूरा कर सकता है, क्योंकि माता में स्नेह की अधिकता होती है और आचार्य में अनुशासन की जबकि सन्तान के उचित विकास के लिए स्नेह और अनुशासन दोनों की आवश्यकता होती है। माता-पिता विद्वान्, सुशिक्षित और धार्मिक तभी हो सकते हैं जब सबके लिए शिक्षा अनिवार्य हो। वे माता-पिता अपनी सन्तानों के लिए शत्रु हैं, जो सन्तान को विद्या की प्राप्ति नहीं कराते। कहा भी है-

माता शत्रु: पिता वैरी येन बालो न पाठित:।
न शोभते सभा मध्ये हंस मध्ये बको यथा॥[3]

शिक्षा की अनिवार्यता का प्रतिपादन करते हुए महर्षि कहते हैं-जब बालक व बालिका आठ वर्ष के हों तो उन्हें पाठशाला भेज देना चाहिए। बालक व बालिका की पाठशाला एक-दूसरे से दो कोश दूर होने चाहिए। वहां अध्यापिका व अध्यापक पुरुष वा भृत्य अनुचर कन्याओं की पाठशाला में सब स्त्री और पुरुषों की पाठशाला में सब पुरुष रहें। स्त्रियों की पाठशाला में पांच वर्ष का बालक और पुरुषों की पाठशाला में पांच वर्ष की बालिका भी न जाने पावें। पाठशालाओं से ग्राम या नगर चार कोश दूर होने चाहिए।

शिक्षा की पद्धति-

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखते हैं- पठनपाठन का प्रारम्भ स्थान प्रयत्न स्वर ज्ञान के लिए अक्षरोच्चारण के उपदेश से करना चाहिए। जैसे पकार का उच्चारण स्थान ओष्ठ है तथा प्रयत्न स्पृष्ट (स्पर्श) है। यदि किसी अक्षर के स्थान में कोई स्वर वा व्यञ्जन मिला हो, तो उसको भी उस के स्थान व प्रयत्न से उच्चारण करना चाहिए।

तैत्तिरीय उपनिषद् के शिक्षावल्ली में वर्णित है- *वर्ण: स्वर:*

मात्रा बलं साम सन्तान इत्युक्तः शिक्षाध्यायः।[4]

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी कहा है- *'दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह'*[5] अर्थात् स्वर और वर्ण की दृष्टि से अशुद्ध उच्चारण किया हुआ दोषयुक्त शब्द अपने विवक्षित अर्थ को नहीं कहता। जैसे 'सकल' तथा 'शकल' शब्दों में सकल शब्द सम्पूर्ण का बोधक है तथा शकल शब्द खण्ड का वाचक है। तालव्य शकार के उच्चारण मात्र से अर्थ में भेद हो जाता है। ऐसे ही सकृत् व शकृत् में भी उच्चारण से अर्थ भेद होता है। अक्षरोच्चारण के अनन्तर महर्षि दयानन्द सरस्वती ने व्याकरण का पठनपाठन बताया है। व्याकरण में पाणिनिकृत अष्टाध्यायी अर्थात् सर्वप्रथम अष्टाध्यायी के सूत्रों का पाठ जैसे- *वृद्धिरादैच्*[6] फिर पदच्छेद जैसे- *वृद्धिः, आत्, ऐच् वा आदैच्* फिर समास आच्च ऐच्च आदैच् तदनन्तर अर्थ जैसे- *आदैचां वृद्धिसंज्ञा क्रियते* अर्थात् आ, ऐ, औ की वृद्धि संज्ञा होती है। उदाहरण- भागः यहां भज् धातु से घञ् प्रत्यय होकर घ्, ञ् की इत्संज्ञा व लोप करके भज् +अ, यहां जकार के पूर्व भकारोत्तर अकार को वृद्धिसंज्ञक आकार होने पर भाज् +अ, ज् को ग् तदनन्तर रुत्व, विसर्जनीय करके भागः ऐसा रूप सिद्ध होता है। जिस-जिस सूत्र से जो-जो कार्य होता है उस-उस को पढ़कर और लिखवा कर कार्य करता जाए। इस प्रकार पठनपाठन से बहुत शीघ्र दृढ़ बोध हो जाता है। अष्टाध्यायी के अनन्तर धातुपाठ अर्थ सहित और दश लकारों के रूप तथा प्रक्रिया सहित सूत्रों के उत्सर्ग अर्थात् सामान्य सूत्र जैसे *'कर्मण्यण्'* कर्म उपपद लगा हो तो धातुमात्र से अण् प्रत्यय हो, जैसे- कुम्भकारः। इसके पश्चात् अपवाद सूत्र जैसे-*'आतोऽनुपसर्गे कः'*[7] उपसर्गाभिन्न कर्म उपपद हो तो आकारान्त धातु से क प्रत्यय हो। जैसे उत्सर्ग के विषय में अपवाद सूत्र की प्रवृत्ति होती है वैसे अपवाद सूत्र के विषय में उत्सर्ग सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। इसी प्रकार पाणिनि महर्षि ने सहस्र श्लोकों के बीच में अखिल शब्द, अर्थ और सम्बन्ध की विद्या प्रतिपादित की है। धातुपाठ के पश्चात् उणादिगण का पठनपाठन करके पुनः दूसरी बार शंका, समाधान, वार्तिक, कारिका, परिभाषा सहित अष्टाध्यायी की *द्वितीयानुवृत्ति (काशिका)* पढाएं।

तदनन्तर *पतञ्जलिकृत महाभाष्य* का पठनपाठन करना चाहिए अर्थात् जो बुद्धिमान्, पुरुषार्थी, निष्कपटी, विद्यावृद्धि के चाहने वाले नित्य पठनपाठन करें तो डेढ़ वर्ष में अष्टाध्यायी और डेढ़ वर्ष में महाभाष्य पढ़कर तीन वर्ष में पूर्ण वैयाकरण होकर वैदिक और लौकिक शब्दों के व्याकरण से पुनः अन्य शास्त्रों को शीघ्र सहजरूप में पढ़ व पढ़ा सकते हैं। जैसा परिश्रम व्याकरण में होता है वैसा श्रम अन्य शास्त्रों में नहीं करना पड़ता है। व्याकरण के अनन्तर *यास्कमुनिकृत निघण्टु व निरुक्त* छः या आठ महीने में अर्थसहित पठनपाठन करें। तदनन्तर *पिङ्गलाचार्यकृत छन्दोग्रन्थ* पढें, जिससे वैदिक व लौकिक छन्दों का परिज्ञान, नवीन रचना और श्लोक बनाने की रीति भी यथावत् सीखें। इसे चार महीने में सीखकर पठनपाठन कर सकते हैं।

तत्पश्चात् *मनुस्मृति, वाल्मिकी रामायण और महाभारत* के उद्योगपर्वान्तर्गत विदुरनीति आदि अच्छे-अच्छे प्रकरण जिनसे दुष्ट व्यसन दूर हों तथा उत्तमता सभ्यता की प्राप्ति हो उनको काव्यरीति से अर्थात् *पदच्छेद, पदार्थोक्ति, अन्वय, विशेष्य, विशेषण* और भावार्थ को एक वर्ष में पढ़े-पढावें। तदनन्तर *पूर्वमीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदान्तऋषिकृत व्याख्यासहित* अथवा उत्तम विद्वानों की सरल व्याख्यायुक्त छः शास्त्रों का पठनपाठन करना चाहिए। वेदान्त से पूर्व *ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक* इन दश उपनिषदों को पढ़कर छः शास्त्रों के भाष्य-वृत्तिसहित सूत्रों को दो वर्ष में अध्ययन करें। तत्पश्चात् छः वर्ष में चारों ब्राह्मण ऐतरेय, शतपथ, साम व गोपथ सहित चारों वेद स्वर, शब्द, अर्थ, सम्बन्ध, क्रियासहित पढ़ने योग्य हैं। जैसा कि निरुक्त में उद्धृत इस मन्त्र में कहा गया है-

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥[8]

अर्थात् जो मनुष्य वेदों को पढ़कर उनके अर्थ को नहीं जानता वह जैसे वृक्ष, डाली, पत्ते, फल, फूल, तथा अन्य पशु भी धान्यादि का भार उठाते हैं वैसे ही अर्थ नहीं जानने वाले पठनमात्र परिश्रमरूप भार को उठाते हैं, किन्तु उसके आनन्दरूप फल को नहीं प्राप्त कर पाते हैं। जो अर्थ को जानने वाला है वह अधर्म से बचकर ज्ञान से पवित्रात्मा होकर सर्वदुःखरहित मोक्ष सुख को प्राप्त करता है। अतः अर्थज्ञान के बिना अध्ययन नहीं करना चाहिए।

सम्पूर्ण वेदाध्ययन के अनन्तर आयुर्वेद अर्थात् चरक, सुश्रुत आदि ऋषि-मुनि प्रणीत वैद्यक शास्त्र को अर्थ, क्रिया, शस्त्र, छेदन, भेदन, लेप, चिकित्सा, निदान, औषध, पथ्य, शरीर, देश, काल और वस्तु के गुण ज्ञानपूर्वक चार वर्ष में पठनपाठन करना चाहिए। तदनन्तर धनुर्वेद अर्थात् राजसम्बन्धी कार्य। इसके दो भेद हैं- प्रथम राजपुरुषसम्बन्धी और द्वितीय प्रजासम्बन्धी। इससे न्यायपूर्वक सभी प्रजा को प्रसन्न रखकर दुष्टों को यथायोग्य दण्ड तथा श्रेष्ठों का पालन यथावत् करना सीखें। इस राजविद्या को दो-दो वर्ष में सीखकर गान्धर्ववेद जिसे गानविद्या कहते हैं, उसमें

स्वर, राग, रागिणी, समय, ताल, ग्राम, तान, वादित्र,, नृत्य, गीत आदि को यथावत् सीखें परन्तु मुख्यरूप से सामवेद का गान वादित्रवादनपूर्वक सीखें। नारदसंहिता आदि जो-जो आर्ष ग्रन्थ हैं उनका पठनपाठन करना चाहिए। अर्थवेद जिसको शिल्पविद्या कहते हैं, उसको पदार्थ, गुणविज्ञान, क्रियाकौशल, नानाविध पदार्थों का निर्माण, पृथिवी से लेकर आकाश पर्यन्त की विद्या को यथावत् सीखकर ऐश्वर्य को बढ़ाने वाली विद्या को सीखना चाहिए। तदनन्तर दो वर्ष में ज्योतिषशास्त्र सूर्यसिद्धान्तादि जिसमें बीजगणित, अंक, भूगोल, खगोल और भूगर्भविद्या है इनको यथावत् सीखें तथा सब प्रकार की हस्तक्रिया, यन्त्रकला आदि को सीखना चाहिए। इनग्रन्थों के पठनपाठन के साथ ही कुछ अपठनीय ग्रन्थों का भी उल्लेख किया है क्योंकि उन ग्रन्थों का पठनपाठन जैसे पहाड़ का खोदना कौडी का लाभ होना, वहीं आर्ष ग्रन्थों का पढ़ना जैसे एक गोता लगाना बहुमूल्य मोतियों का पाना। उपरोक्त पद्धति से पठनपाठन करने वाले तीस या चौंतीस वर्ष में समग्र विद्या उत्तम शिक्षा प्राप्त करके कृतकृत्य होकर सदा आनन्द में रहते हैं। जितनी विद्या इस रीति से 30-34 वर्षों में प्राप्त होती है उतनी अन्य किसी भी प्रकार से शत वर्ष में भी नहीं हो सकती।[9] इसी को निम्नलिखित तालिका में दर्शाया गया है-

क्र.	विषय	समय
1.	मातृशिक्षा	जन्म से 5 वर्ष तक
2.	पितृशिक्षा	5 से 8 वर्ष तक
3.	व्याकरण (महाभाष्यसहित)	3 वर्ष
4.	निघण्टु व निरुक्त	6 या 8 महीने
5.	छन्दोग्रन्थ	4 महीने
6.	मनुस्मृति, वाल्मिकी रामायण, महाभारत (विदुरनीति)	1 वर्ष
7.	छः शास्त्र (दर्शन) दश उपनिषद्	2 वर्ष
8.	चारों वेद ब्राह्मणसहित	6 वर्ष
9.	आयुर्वेद	4 वर्ष
10.	धनुर्वेद	2 वर्ष
11.	गान्धर्ववेद	2 वर्ष
12.	अर्थवेद	2 वर्ष
13.	ज्योतिषशास्त्र	2 वर्ष
14.	सम्पूर्ण वर्ष	5+3+3+1(8+4)+1+ 2+6+4+2+2+2+2=33

शिक्षा का उद्देश्य-

वैदिक कालीन शिक्षा का उद्देश्य मात्र मनुष्य को आजीविका के योग्य या अन्य शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में सक्षम बनाना नहीं था, अपितु आत्मा में निहित शक्तियों का विकास करते हुए प्रथम अभ्युदय की प्राप्ति और तदनन्तर निःश्रेयस् तक पहुंचना शिक्षा का उद्देश्य था। महर्षि दयानन्द कहते हैं- शिक्षा वही है, जिससे विद्या, सभ्यता, धर्मात्मा, जितेन्द्रियतादि की वृद्धि हो अविद्यादि दोष छूटें। महर्षि दयानन्द द्वारा प्रवर्तित गुरुकुलीय शिक्षा प्रणाली वैदिक धर्म, संस्कृति व वैदिक विद्याओं की उद्धारक, पोषक, रक्षक व प्रचारक है। इस पद्धति से दीक्षित मनुष्य व ब्रह्मचारी ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के अनुरूप बनता है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम, योगेश्वर श्रीकृष्ण, सभी ऋषि-मुनि इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। अतः सन्तानों को उत्तम विद्या, शिक्षा, गुण, कर्म तथा स्वभावरूप आभूषणों का धारण कराना माता पिता आचार्य व सम्बन्धियों का मुख्य कर्म है। सोने, चांदी, मणिक, मोती, मूंगा आदि रत्नों से युक्त आभूषणों के धारण करने से केवल देहाभिमान होता है आत्मा कभी सुभूषित नहीं होता है, क्योंकि आभूषणों को धारण करने से केवल देहाभिमान, विषयासक्ति और चोरादि का भय तथा मृत्यु भी सम्भव है। कहा भी है-

विद्याविलासमनसो धृतशीलशिक्षाः सत्यव्रता रहितमानमलापहाराः।
संसारदुःखदलनेन सुभूषिता ये धन्या नरा विहितकर्मपरोपकाराः॥[10]

अर्थात् जिन पुरुषों का मन विद्या के विलास में तत्पर रहता है, सुन्दर शील स्वभाव युक्त, सत्यभाषणादि नियम पालन युक्त और अभिमान अपवित्रता से रहित, दूसरों के मलीनता के नाशक, सत्योपदेश, विद्यादान से संसारी जनों के दुःख दूर करने से सुभूषित, वेदविहित कर्मों से परोपकार करने में लगे रहते हैं, वे नर-नारी धन्य हैं।

स्वामी जी के शिक्षा दर्शन में शिक्षाविषयक विषयों का ही विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त विभिन्न विषयों का वर्णन भी महर्षि ने अपने ग्रन्थों में किया है। यथा- बालशिक्षा विषय, शिक्षा विषय, पठनपाठन क्रम, ग्रन्थ प्रामाण्याप्रामाण्य विषय, अध्ययनाध्यापनपरीक्षा, स्त्रीशूद्राध्ययन विषय इत्यादि।

सन्दर्भसूची-

1. बृहदारण्यकोपनिषद् 1.3.28
2. शतपथब्राह्मण 14.5.8.2
3. सुभाषित
4. तैत्तिरीयोपनिषद्(शिक्षावल्ली)
5. महाभाष्य (पस्पशाह्निक)
6. अष्टाध्यायी 1.1.1
7. अष्टाध्यायी 3.2.3
8. निरुक्त 1.18
9. सत्यार्थप्रकाश (तृतीयसमुल्लास)
10. सत्यार्थप्रकाश (तृतीयसमुल्लास)

ISSN 2278 - 0327

'उत्तररामचरिते भवभूतिविशिष्यते' उक्ति की समीक्षा

नीतू
शोध छात्रा (एम.फिल)
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक

सारांश –

यह भवभूति का सर्वश्रेष्ठ नाटक है, जिसमें उनकी नाट्यकला तथा कवित्व शक्ति चरम परिणति को प्राप्त हुई है। आलोचकों की मान्यता है कि उत्तररामचरित में भवभूति की कला कालिदास से भी अधिक विकसित है– *'उत्तरेरामचरिते भवभूतिविशिष्यते'*। भवभूति ने इस नाटक में भगवान श्रीराम के जीवन की उत्तरार्द्ध की घटनाओं को निबद्ध किया है। नाटक में करूण रस की व्यंजना प्रधान रूप से हुई है। इसका कथानक 7 अंकों में व्यापत है।

मूलशब्द –

उत्तररामचरित, भवभूति, करूणरस राम, नाटक, काव्यसौन्दर्य।

प्रस्तावना:–

भवभूति संस्कृत के महान् नाटककार हैं। इनके तीन नाटकों में उत्तररामचरित नाटक उनका सर्वश्रेष्ठ नाटक है। इसी को लक्ष्य करके सहृदय समीक्षकों ने लिखा है– *'उत्तरेरामचरिते भवभूति–र्विशिष्यते'* अर्थात् उत्तररामचरित के आधार पर भवभूति संस्कृत में विशिष्ट हो गए हैं।

उत्तररामचरित भवभूति की सर्वोत्तम रूपक की रचना है। इसमें सात अंकों में रामायण के उत्तरार्द्ध की कथा वर्णित है। गृहस्थ जीवन तथा प्रेम का चरम परिपाक जितना इस नाटक में हुआ है, उतना संस्कृत के अन्य किसी नाटक में नहीं। नाना परिस्थितियों, भावदशाओं तथा प्राकृतिक दृश्यों का जिस कौशल और तन्मयता से यहां चित्रण किया गया है वह बहुत ही कम कवियों की कृति में मिलता है। प्रकृति के नाना मनोरम दृश्यों तथा बीहड़ भयानक वनों, नाना जीव–जन्तुओं, सुख, दुख, स्नेह, दया, कारूण्य आदि की व्यंजना में भवभूति ने इस नाटक में अनूठी सफलता प्राप्त की है। प्रणय के चित्रण में भवभूति की समता संस्कृत का अन्य नाटककार नहीं कर सकता। राम की कर्तव्यनिष्ठा तथा सीता की अनुपम सहनशीलता एवं पवित्रता इन दो कुलों के बीच प्रवाहित हो रहा प्रणय अत्यन्त उदात्त, पवित्र तथा शालीन है। कालिदास आदि कवियों के स्वच्छन्द प्रणय को कर्तव्यनिष्ठा के कठोर नियम में नियन्त्रित करने के बाद भवभूति ने उसमें जो उत्कर्ष तथा शालीनता ला दी है वह इस नाटक की महती विशेषता है। परिस्थितियों की कठोर यातनाओं से संयमित प्रेम यहां चरम परिपाक को प्राप्त हुआ है। सीता के वनवास से इसकी कथावस्तु का प्रारम्भ होता है और राम सीता के पुनर्मिलन के साथ समाप्ति। इसमें कवि ने 12 वर्ष लम्बे समय की कथा प्रस्तुत की है। प्रभावात्मक दृश्यों का संयोजन करके इसे काव्यात्मक बनाने का प्रयत्न किया गया है। अत: इसे नाटकीय काव्य की संज्ञा दी जा सकती है।

प्रकृति वर्णन –

महाकवि भवभूति ने प्रकृति के साथ तादाम्य की स्थापना की है। वे प्रकृति को सजीव तथा मानवीय भावनाओं से परिपूर्ण मानते हैं। उनके अनुसार मानव के ही समान वह भी सुख तथा दुख का अनुभव करती है। यद्यपि नाटक में कवि को प्रकृति चित्रण का उतना स्वातंत्र्य नहीं रहता जितना महाकाव्य में। फिर भी महाकवि भवभूति ने प्रकृति चित्रण के प्रति अपने सहज स्नेह को दिखलाते हुए अपने तीनों नाटकों में अनेक स्थानों पर प्रकृति का अवसरानुकूल चित्रण किया है।

उत्तररामचरित नाटक का प्रारम्भ तो अयोध्या के वैभव सम्पन्न राजप्रसाद से होता है, परन्तु कवि का कोमल हृदय वहां अधिक समय तक नहीं ठहर पाता और वह प्रकृति सुन्दरी के कमनीय क्रोड में सहसा ही पहुंच जाता है। तभी तो कवि चित्रवीथिका में अनेकानेक प्रकृति के सुन्दर दृश्य प्रस्तुत करता है। तपोवन, प्रसवण पर्वत, पम्पा सरोवर तथा माल्यवान् गिरि के रमणीय दृश्य अत्यन्त श्लाघ्य हैं। पम्पासरोवर का वर्णन करते हुए राम कहते हैं–

एतस्मिन्मदकलमल्लिकाक्षपक्ष,
व्याधूतस्फुरदुरुण्डरीका:।
वाष्पाम्भ: परिपतनोद्गमान्तराले,
संदृष्टा: कुवलयिनो मया विभाग:।। (1/31)

उत्तररामचरित में प्रकृति के सौम्य रूप का ही नहीं उसके रौद्र रूप का भी दर्शन होता है, संस्कृत के कवि विकसित कदम्ब अशोक और शरत्कालीन तथा वासन्ती विकास पर ही रीझते प्रतीत होते हैं, परन्तु महाकवि भवभूति ने उसके कर्कश और भयावह रूप का भी उसी तन्मयता, उसी अनुभूति और उसी गम्भीरता से वर्णन किया है। जनस्थान की भयंकर ऊष्णता का वर्णन इस पद्य में कवि ने बड़ी सावधानी के साथ किया है:

निष्कूजस्तिमिता: क्वचित्क्वचिदपि प्रोच्चण्डसत्वस्वना:,
स्वेच्छासुप्तगभीर भोग भुजग श्वास प्रदीप्ताग्नय:।
सीमान: प्रदरोदरेषु विरलस्वल्पाम्भसो यास्वयं,
तृष्यद्भि: प्रतिसूर्यकेरजगरस्वेदद्रव: पीयते।। (2/16)

इसी अंक में वन प्रदेश तथा पर्वत देश का यह वर्णन भी कवि के प्रकृति प्रेम का परिचायक है। भवभूति की प्रकृति निरीक्षण की सूक्ष्मदर्शिता का ज्ञान भी हो जाता है। अनेक वर्षों के बाद राम जब पंचवटी के पार्श्ववर्ती भागों का अवलोकन करते हैं तो वे प्रकृति के परिवर्तित रूप को देखकर इस प्रकार कहते हैं-

पुरा यत्र स्त्रोत: पुलिनमधुना तत्र सरितां,
विपर्यासं यातो घनविरलभाव: क्षितिरुहाम्।
बहोर्दृष्टं कालादपरमिव मन्ये वनमिदं,
निवेश: शैलानां तदिदमिति बुद्धिं द्रढयति।। (2/27)

उत्तररामचरित के दृश्यों में प्रकृति का सुन्दर रूप मिलता है। प्रथम अंक में चित्रदर्शन में प्राकृतिक साज-सज्जा के दर्शन होते हैं। द्वितीय, तृतीय अंक तो प्रकृति से साक्षात् सम्बद्ध कर दिए गए हैं। चतुर्थ और पंचम अंक की घटनाएं प्रकृति परिवृत महर्षि वाल्मीकि के आश्रमपद में घटित होती हैं। छठे अंक की भी यह स्थिति है। सातवें अंक में तो गंगा के बालुकामय तट पर गर्भांक के द्वारा राम और सीता के मिलन का दृश्य प्रस्तुत किया गया है।

चरित्र-चित्रण -

चरित्र-चित्रण में भी भवभूति एक सिद्धहस्त नाटककार हैं। इनके पात्रों में धीरता, गम्भीरता तथा तरलता भी है। सीता और राम का चरित्र-चित्रण दैवी धरातल पर करने का भी कवि ने उन्हें पूरा मानवीय बनाया है। राम जहां प्रजानुरंजन के लिए निरपराधिनी पतिप्राणा एवं शुद्धाचरण सीता का त्याग करते हैं, वहीं उनके लिए फूट-फूटकर रोते भी हैं। उनका रोना भी साधारण नहीं, पत्थर भी उनकी इस करुणा पर फूटकर रो देते हैं-

''अपि ग्रोवा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्'' (1/28)

एक ओर जहां उनमें कठोरता की चरम सीमा दिखाई पड़ती है वहीं सहृदया प्राणप्रिया पत्नी के लिए करुण विलाप भी। उनका हृदय ऊपर से मिट्टी से लिपे पात्र जैसा है जो अवां पर तप रहा है-

''पुटपाक प्रतीकाशो रामस्य करुणो रस:''।

धीरता-गम्भीरतावश भले ही वे लोक के सामने और मानसिक दुख को अभिव्यक्त न करें पर हृदय तो उससे झुलस ही गया है।

राम का चरित्र बड़ा उदात्त, आदर्श तथा प्रख्यात परम्परा के सर्वथा अनुरूप है। 'रामराज्य' का आदर्श रूप अपने वैभव के साथ यहां दिख पड़ता है। राम आदर्श राजा हैं। उनका वृत्त ही प्रकृति रंजन है। स्नेह, दया, सौख्य यहां तक कि पवित्र चरित्र जनकनन्दिनी को भी छोड़ते हुए राम को व्यथा नहीं है-

'स्नेहं दयां च सौख्यं च जानकीमपि वा' (1/12)।

वे जानकी के सच्चे पवित्र चरित्र से परिचित न हों, ऐसी बात नहीं है, परन्तु लोकाराधन की वेदी पर अपने निजी सौख्य को तिलान्जलि देना राम की कर्तव्यनिष्ठता का, आदर्श भूपतित्व का उज्ज्वल दृष्टान्त है। सीता पीड़ित नारी का प्रतीक है। वह राम के द्वारा पूर्ण गर्भावस्था में भी परित्यक्ता होने पर भी अपने पति के लिए कहीं कुछ नहीं कहती। राम के भाव संघर्ष को वह भलीभांति पहचानती है। सीता अपने दुख से दुखित नहीं हैं प्रत्युत राम की विषम दशा चिन्तिन से चिन्तित है। ऐसे पतिव्रत का मिलना नितान्त दुर्लभ है। राम की मूर्च्छा देखकर वह स्वयं बेहोश हो जाती है और अनेक उपायों के द्वारा व चेतनावस्था में आती है। राम और सीता का यह आदर्श चित्रण भवभूति की नाटयकला का चरम अवसान है।

दाम्पत्य प्रेम -

भवभूति आदर्श दाम्पत्य प्रेम के कवि हैं। पति-पत्नी का पारस्परिक सम्बन्ध भवभूति ने सर्वत्र चित्रित किया है- चाहे वह सीता-राम का प्रेम हो या मालती और माधव का। स्त्री-पुरुष दोनों के सुख-दुख एक हो गये हैं, उनमें किसी प्रकार का पार्थक्य नहीं रह गया है। ऐसे पति-पत्नी के आदर्श सम्बन्ध का निदर्शक ही तो यह पद्य है-

अद्वैतं सुख-दुखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यद्,
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रस:।
कालेनावरणात्यात्परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं,
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं तत्प्राप्यते।। (1/39)

दाम्पत्य-प्रणय हृदय का विश्राम है। यह दूध के समान धवल तथा गंगा जल की भांति पावन है-

स्नपयति हृदयेशं स्नेह निष्यन्दिनी ते।
धवल बहलमुग्धा दुग्धकुल्येव दृष्टि।। (3/23)

दाम्पत्य प्रेम का चरम विकास 'आनन्द-ग्रन्थिरूपी सन्तान'

की प्राप्ति में है जो पति-पत्नी के स्नेह सिक्त हृदयों को एकसूत्र में आबद्ध कर देती है-

अन्तः करणतत्वस्य दाम्पत्योः स्नेह संश्रयात्।
आनन्दग्रन्थिरेकोऽयम् पत्य इति बध्यते।। (3/17)

शुद्ध प्रेम की ज्योति सुख समीर एवं दुख की आंधियों में समान रूप से प्रदीप्त होती है। वार्धक्य के कारण उसकी सरसता में कमी नहीं आती। संकोच एवं दुराव होने पर शुद्ध प्रेम प्रगाढ़ हो जाता है। ऐसे कल्याणकारी दाम्पत्य-प्रेम की प्राप्ति बड़े भाग्य से ही होती है। यह हृदय का विश्राम है। प्रिय के सान्निध्यमात्र से प्रेमी का सारा दुख दूर हो जाता है।

रसव्यंजना -

उत्तररामचरित नाटक के अंगीरस के विषय में आचार्यों में मतभेद हैं। कुछ शृंगार रस का भेद करुण-विप्रलम्भ मानते हैं और कुछ करूण रस। इस मतभेद का मुख्य कारण यह है कि अंगीरस के विषय में नाटक लक्षणकारों ने व्यवस्था की है तदनुसार नाटक में वीर अथवा शृंगार को ही अंगीरस के रूप में प्रस्तुत करना चाहिए। इस प्रकार शास्त्रीय व्यवस्था के अनुसार उत्तररामचरित में शृंगार या वीर रस को अंगीरस के रूप में होना चाहिए और अन्य रस अंग रूप में। परन्तु संस्कृत साहित्य की गम्भीर अधीतियों ने उत्तररामचरित में करूणरस को अंगीरस के रूप में स्वीकार किया है। भवभूति सब रसों में करुण रस को ही विशेष महत्व प्रदान करते हुए कहते है-

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्,
भिन्नः पृथक् पृथगिव श्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद् बुदतरंगमयान् विकारा-
नम्भो यथा सलिलमेव हिं तत् समस्तम्।। (3/47)

भवभूति (कवि अथवा शिवजी) के सम्बन्ध में सरस्वती भी शैलाधिराज तथा पार्वती के समान सुशोभित हो रही है क्योंकि जब यह (भवभूति की वाणी अथवा पार्वती) करुण भाव की व्यंजना (अथवा विलाप) करने लगती है, तब औरों की तो बात ही क्या, पत्थर भी रो पड़ते हैं। भवभूति ने उत्तररामचरित में करुण रस ही माना है-

पुटपाक प्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः। (3/1)
करुणाद्भुतरसं च किंचिदुपनिबद्धम्।।

इसी सम्बन्ध में करुण रस की पराकाष्ठा को लक्ष्य करके एक विद्वान् समीक्षक कहता है कि इससे जड़ भी चेतन और चेतन भी जड़ हो जाता है-

जडानामपि चैतन्यं भवभूतेरभूद गिरा।
ग्रावाप्यरोदीत् पार्वत्याः हसतः स्मस्तनावपि।।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि उत्तररामचरित में 'काव्यात्मकता का प्राधान्य होते हुए भी नाटकीयता का अभाव नहीं है। इसी नाटक का अध्ययन करने पर हमें भवभूति के एक सच्चे नाटककार की सम्पूर्ण विशेषताएं मिलती है। जिसे उर्वरा कल्पना शक्ति, उदात्त और सुन्दर वस्तु एवं भावनाओं का मूल्यांकन, सफल चरित्र-चित्रण की अद्भुत क्षमता, पात्रों के मन में विभिन्न परिस्थितियों एवं रूपों में होने वाली प्रतिक्रिया का ज्ञान और अदभुत अनुकूल वर्णन शक्ति, काव्य की गति, लय एवं संगीतात्मक अभिव्यक्ति अपने आकर्षण में अपूर्व है। सहृदयजन उत्तररामचरित की सर्वांगीण विशेषताओं को देखकर एवं उसकी भावमयता से प्रभावित होकर भवभूति को कालिदास से भी बढ़ा हुआ मानते है।

समीक्षा -

रामायण से ली गई सीधी-सादी कथा को भवभूति ने अपनी अद्भुत कल्पना शक्ति से अनुपम नाटकीय रूप दे दिया है। 'उत्तररामचरितम्' भवभूति की नाट्यकला का चूडान्त निदर्शन है, भवभूति की इस अनुपम कृति में उनकी नाट्य प्रतिभा, कल्पना प्रचुरता, भाषा लालित्य रस, परिपाक तथा मानव मनोविकारों के मार्मिक विश्लेषण की अद्भुत क्षमता अत्यन्त विशद रूप से प्रकट हुई है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची -

1. उत्तररामचरितम्
2. महावीरचरितम्
3. मालतीमाधवम्

ISSN 2278 - 0327

माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के मानसिक स्वास्थ्य एवं स्व-नियंत्रण के मध्य सम्बन्ध का अध्ययन

प्रदीप सिंह थापली
शोधार्थी, (शिक्षाशास्त्र)
शिक्षा विभाग स्वामी विवेकानंद सुभारती विश्वविद्यालय, मेरठ

डॉ. विभा लक्ष्मी
(एसोसिएट प्रोफेसर) शिक्षा संकाय
स्वामी विवेकानंद सुभारती विश्वविद्यालय, मेरठ

शोध सार

समुचित शिक्षा ही बालक के व्यक्तित्व में अनेक प्रकार की विशेषताओं को प्रस्फुटित करती है। इनमें मानसिक स्वास्थ्य एवं स्व-नियंत्रण की योग्यता, इस प्रकार की योग्यताएं हैं जिनके कारण छात्रों का व्यक्तित्व संगठित होकर उन्हें उन्नति की ओर अग्रसित कर सकता है। इस शोध का उद्देश्य माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के मानसिक स्वास्थ्य एवं स्व-नियंत्रण के मध्य सम्बन्ध का अध्ययन करना है। इसके निमित्त विश्लेष्णात्मक सर्वेक्षण शोध विधि का प्रयोग किया गया। अध्ययन हेतु देहरादून जिले के माध्यमिक विद्यालयों के कक्षा 10 के विद्यार्थियों को जनसंख्या के रूप में लिया गया। ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्र के 5-5 माध्यमिक स्तर के विद्यालयों का यादृच्छिक विधि से चयनित किया गया एवं प्रत्येक विद्यालयों से 10 छात्र एवं 10 छात्राओं को यादृच्छिक विधि से चयनित किया गया। इस प्रकार यह अध्ययन 200 न्यादर्श पर पूर्ण किया गया। मानसिक स्वास्थ्य तथा स्व-नियंत्रण के आंकडे एकत्रित करने के लिए संजय वोहरा द्वारा निर्मित Multi Dimensional Assessment of Personality Series में सम्मिलित आयाम मानसिक स्वास्थ्य तथा स्व-नियंत्रण का प्रशासन किया गया है। मानसिक स्वास्थ्य तथा स्व-नियंत्रण में सम्बन्ध देखने के लिए कार्ल पियर्सन के सहसम्बन्ध गुणांक की गणना की गयी। आंकड़ों के विश्लेषण के उपरांत निष्कर्ष प्राप्त हुआ कि ग्रामीण एवं शहरी परिवेश के छात्र-छात्राओं के व्यक्तित्व के गुण मानसिक स्वास्थ्य तथा स्व-नियंत्रण में धनात्मक सहसम्बन्ध है। तात्पर्य है कि मानसिक स्वास्थ्य उत्तम होने पर स्व-नियंत्रण क्षमता में स्वत: ही वृद्धि होती जाती है।

प्रस्तावना

शिक्षा वह प्रबल साधन है जो मानवीय जीवन को उन्नति के पथ पर सदैव ही अग्रसित करती है। शिक्षा के अभाव में सफल मानवीय जीवन की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। यह छात्र-छात्राओं में स्वस्थ मानसिक स्वास्थ्य विकसित करने एवं उन्हें सांवेगिक रूप से संतुलित बनाने में सहायक होती हैं। मानसिक स्वास्थ्य, व्यक्तित्व की वह विशेषता है जो, व्यक्ति के उस व्यवहार से सम्बन्धित है जिससे वह किसी अन्य व्यक्ति की उपस्थिति या बाहरी वातावरण के बिना स्वयं को सकारात्मक रूप से निर्देशित कर सके। आवश्यक है कि विद्यार्थियों को स्वनियंत्रण के लिए महत्वपूर्ण प्रशिक्षण देकर एक स्वस्थ मस्तिष्क के निर्माण हेतु मार्गदर्शन प्रदान किया जा सकता है।

समुचित शिक्षा ही बालक के व्यक्तित्व में अनेक प्रकार की विशेषताओं को प्रस्फुटित करती है। इनमें मानसिक स्वास्थ्य एवं स्वनियंत्रण की योग्यता, इस प्रकार की योग्याताएं हैं, जिनके कारण छात्रों का व्यक्तित्व संगठित होकर उन्हें उन्नति की ओर अग्रसित कर सकता है। मानसिक स्वास्थ्य एवं स्वनियंत्रण की योग्यता यदि किसी विद्यार्थी में सन्निहित है तो ऐसा व्यक्तित्व जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आसानी से सफलता प्राप्त कर लेता है। वहीं इसके विपरीत, स्वनियंत्रण में कठिनता एवं प्रतिकूल मानसिक स्वास्थ्य बालक के व्यक्तित्व को विघटित कर सकता है। चूंकि, उन्नत मानसिक स्वास्थ्य के कारण ही एक व्यक्ति स्वयं की योग्यताओं को पहचानने में सफल होता है।

आवश्यक है कि विद्यालयी जीवन में विद्यार्थियों के लिए इस प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था की जाए जो उसके मानसिक स्वास्थ्य की रक्षा एवं स्वनियंत्रण की योग्यता विकसित कर उनका शारीरिक, मानसिक एवं सांवेगिक विकास कर सके।

विद्यार्थियों की शिक्षा की समुचित व्यवस्था, स्वस्थ पारिवारिक वातावरण में एवं स्वस्थ विद्यालयी परिवेश में की जा सकती है एवं साथ ही उनमें सभी प्रकार की परिस्थितियों में अनुकूलन करने की योग्यता भी विकसित की जा सकती है। एक

ही परिस्थिति, दो विभिन्न व्यक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न हो सकती है। एक विद्यार्थी के लिए वह साधारण, तो दूसरे के लिए बड़ी ही कठिन हो सकती है। इसका एक महत्वपूर्ण कारण है, उनका अलग-अलग व्यक्तित्व स्तर तथा अनुकूलन क्षमता।

माध्यमिक स्तर पर विद्यार्थियों को उचित शैक्षिक मार्गदर्शन प्रदान कर स्वस्थ मानसिक स्वास्थ्य एवं स्वनियंत्रण की योग्यता को विकसित किया जाना चाहिए। माध्यमिक शिक्षा स्तर पर विद्यार्थियों का व्यक्तित्व किसी निश्चित दिशा में विकसित होता है। यह प्रभाव उनकी शैक्षिक उपलब्धि पर सकारात्मक दिशा में भी हो सकता हैं और नकारात्मक भी। प्रतिकूल मानसिक स्वास्थ्य, विद्यार्थियों के व्यक्तित्व, उपलब्धियों, तथा स्व-नियंत्रण की क्षमता पर प्रतिकूल प्रभाव डाल सकता है। प्रतिकूल मानसिक स्वास्थ्य के कारण इस प्रकार हो सकते हैं- विद्यार्थियों के अभिभावकों द्वारा उनके प्रति उदासीन भाव होना, उचित पोषण-आहार प्राप्त न होना, छात्र को उचित शैक्षिक मार्गदर्शन न प्राप्त होने के कारण उनका मानसिक अवसाद से ग्रसित हो जाना, शिक्षक द्वारा विद्यार्थी पर ध्यान नहीं दिया जाना, विद्यार्थी का शैक्षिक उपलब्धि में पिछड़ जाना और सांवेगिक नियंत्रण का अभाव आदि। परिणामस्वरूप ऐसे विद्यार्थी शैक्षिक उपलब्धि एवं जीवन के अधिकांश क्षेत्रों में पिछड़ जाते हैं। अत: आवश्यक है कि अभिभावकों के साथ-साथ शिक्षक, सर्वप्रथम विद्यार्थियों के संवेगों का ज्ञान प्राप्त करें, तत्पश्चात् शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक विकास के लिए उचित मार्गदर्शन प्रदान करें। उन्हें उचित प्रशिक्षण प्रदान कर उनके मानसिक स्वास्थ्य को संतुलित बनाये रखने के लिए महत्वपूर्ण भूमिका निभायें। देखा गया है कि आज के विद्यार्थियों की अधिकतर समस्याएं हमारे ही आधुनिक एवं औद्योगिक वातावरण की देन है। उनकी चिंताओं, समस्याओं, मानसिक स्वास्थ्य, व्यक्तित्व में स्वनियंत्रण का अभाव आदि कारक हमारे समाज द्वारा उन पर थोपी गई मान्यताओं के कारण ही देखने को मिलते हैं। समाज विद्यार्थियों से इन मान्यताओं की पूर्ति अपने अनुसार पूर्ण कराने की कोशिश करने लगता है। समाज में पिछड़ जाने के भय से विद्यार्थी गलत दिशा में जाने लगता है और जब वह अपने समाज द्वारा निर्धारित लक्ष्य तक नहीं पहुंच पाता तब वह अनेकानेक समस्याओं से घिर जाता है और मानसिक अवसाद का शिकार हो जाता है। परिणामस्वरूप वह जीवन के प्रति नकारात्मकता से घिर जाता है। वह शिक्षक, अभिभावक एवं समाज को कातर दृष्टि से देखने लगता है। अत: शिक्षक की यह जिम्मेदारी बनती है कि उनकी भावनाओं का सम्मान करते हुए उनके कक्षागत प्रयासों एवं उनके व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास की नींव को शक्तिशाली बनाने में सहायता करें। यदि छात्राओं में स्वनियंत्रण की योग्यता होगी तो वे सांवेगिक एवं मानसिक रूप से स्वस्थ हो सकती है और जीवन की सभी गतिविधियों में सफलता प्राप्त करते हुए स्वयं का चहुंमुखी विकास कर सकती हैं। यही गुण यदि छात्रों के व्यक्तित्व में विद्यमान होगें तो वे छात्रों की कार्य करने की क्षमता को विकसित करेंगे। साथ ही साथ स्वस्थ मानसिकता द्वारा छात्र नकारात्मक विचारों और संकीर्ण सोच को दूर करके सभी प्रकार की गतिविधियों में शत-प्रतिशत सफलता प्राप्त कर सकते हैं। यह व्यक्तित्व गुण उन सभी छात्रों का भावनात्मक, मनौवैज्ञानिक और सामाजिक विकास करने में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। मानसिक स्वास्थ्य एवं स्वनियंत्रण की योग्यता छात्र-छात्राओं को मानसिक विकारों से दूर रखती है एवं उनके शैक्षिक उद्देश्यों को प्राप्त करने में सहायता प्रदान करती है। विद्यार्थियों का मानसिक स्वास्थ्य उत्तम होने पर उनमें स्व-नियंत्रण की योग्यता भी स्वत: ही विकसित होने लगती है।

श्रीवास्तव (2004) ने *''मेंटल हैल्थ एण्ड पर्सनालिटी एडजेस्टममैन्ट अमंग आप्टीमिस्टिक एण्ड पैसीमिस्टिक स्टूडैन्ट्स''* शोध प्रकरण पर अध्ययन किया। प्रस्तुत शोध में आशावादी एवं निराशावादी छात्रों के मानसिक स्वास्थ्य एवं व्यक्तित्व समायोजन के मध्य सार्थक अंतर का अध्ययन किया गया। आंकड़ों के विश्लेषण से ज्ञात हुआ कि आशावादी छात्रों का मानसिक स्वास्थ्य, निराशावादी छात्रों की तुलना में सार्थक रूप से अच्छा था।

कांग एवं चेंग (2006) ने *''मेंटल हैल्थ-ए स्टडी ऑफ रूरल एडोलसेन्ट''* प्रकरण पर अध्ययन किया। कांग एवं चेंग ने बीजिंग के ग्रामीण बालक एवं बालिकाओं के मानसिक स्वास्थ्य का अध्ययन किया। निष्कर्ष में ग्रामीण स्तर के किशोरों के मानसिक स्वास्थ्य स्तर में लिंग के परिपेक्ष्य में कोई सार्थक अंतर नहीं पाया गया।

कुमार, ए.बी. किरन तथा एस. विश्वनाथ रेड्डी (2010): ने *''हाईस्कूल तथा इण्टरमीडिएट के विद्यार्थियों के मानसिक स्वास्थ्य पर उनके लिंग, परिवेशतथा शैक्षिक स्तर का प्रभाव ''* प्रकरण पर शोध कार्य किया। इस अध्ययन का उद्देश्य विद्यार्थियों के लिंग, परिवेश तथा शैक्षिक उपलब्धि के आधार पर उनके मानसिक स्वास्थ्य में अन्तर को ज्ञात करना था। निष्कर्ष रूप से पाया गया कि लिंग, परिवेश तथा शैक्षिक स्तर के आधार पर विद्यार्थियों के मानसिक स्वास्थ्य में अन्तर था।

बमागोल्ड, अनिल वी. तथा कम्बर जी. एस. (2011): ने

माध्यमिक विद्यालय विद्यार्थियों के मानसिक स्वास्थ्य तथा शैक्षिक उपलब्धि में सम्बन्ध'' प्रकरण पर शोध अध्ययन किया। इस अध्ययन का उद्देश्य लिंग व परिवेश के आधार पर विद्यार्थियों के मानसिक स्वास्थ्य में अन्तर ज्ञात करना था तथा विद्यार्थियों के मानसिक स्वास्थ्य व शैक्षिक उपलब्धि में सम्बन्ध ज्ञात करना था। निष्कर्षत: पाया गया कि लिंग के आधार पर विद्यार्थियों के मानसिक स्वास्थ्य में कोई विशेष अन्तर नहीं था जबकि परिवेश के आधार पर विद्यार्थियों के मानसिक स्वास्थ्य में अन्तर पाया गया तथा मानसिक स्वास्थ्य व शैक्षिक उपलब्धि में धनात्मक सहसम्बन्ध पाया गया।

कुमारी, सुधा एवं सदफजफरी (2014):ने *''उत्तर प्रदेश बोर्ड के उच्च माध्यमिक विद्यार्थियों का मानसिक स्वास्थ्य व शैक्षिक उपलब्धि''* शोध समस्या पर अध्ययन किया। इस अध्ययन का मुख्य उद्देश्य उच्च माध्यमिक विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि पर मानसिक स्वास्थ्य के प्रभाव को ज्ञात करना था। अध्ययन का परिणाम निकला कि मानसिक स्वास्थ्य के 6 पक्षों में से केवल दो पक्ष (बुद्धि व संवेगात्मक स्थिरता) विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धि को प्रभावित करते हैं।

सैनी, अमृता (2015): ने प्रकरण *''विद्यालयी परिवेश के सन्दर्भ में माध्यमिक विद्यालय विद्यार्थियों का मानसिक स्वास्थ्य''* पर शोध कार्य किया। इस अध्ययन का उद्देश्य विद्यालयी परिवेश का विद्यार्थियों के मानसिक स्वास्थ्य पर प्रभाव का अध्ययन करना था। निष्कर्षत: पाया गया कि विद्यालयी परिवेश व विद्यार्थियों का मानसिक स्वास्थ्य एक-दूसरे से धनात्मक रूप से सहसम्बन्धित थे।

अध्ययन का औचित्य

जिस प्रकार मानवीय शरीर के संचालन के लिए आवश्यक है कि उसके शरीर के समस्त अवयव संगठित हों, ठीक उसी प्रकार विद्यालयी परिवेश में समुचित संतुलन बनाये रखने के लिए आवश्यक है कि विद्यालयी स्तर पर अध्ययनरत समस्त छात्र एवं छात्राएं मानसिक रूप से स्वस्थ हों। कारण यह कि यदि छात्र स्वस्थ मस्तिष्क के स्वामी होंगे तो अधिगम की प्रक्रिया में उन्हें मानसिक थकान का अनुभव नहीं होगा। साथ ही अपनी गतिविधियों पर नियंत्रण करने के लिए वे अपनी इन्द्रियों को कार्य योजना पर केन्द्रित कर अधिगम उद्देश्यों को पूर्ण करने में सफल होगें। उनमें स्व-नियंत्रण की योग्यता भी विकसित होगी। ये छात्रों को जीवन में सफलता प्राप्त करने की प्रेरणा एवं योग्यता प्रदान करती हैं। मानसिक स्वास्थ्य एवं स्वनियंत्रण वे विमाएं हैं जो विद्यार्थियों को उनकी विशिष्ट योग्यताओं से अवगत कराती हैं कि उसके अन्दर किसी भी कार्य को सम्पादित करने की कितनी क्षमता है। इसी योग्यता एवं क्षमता के कारण वह अपने जीवन को तनावमुक्त रखने में भी सफल होता है। साथ ही स्वयं के निर्धारित लक्ष्यों तक सरलता से पहुँच जाता है।

इस दृष्टि से इन दोनों का विद्यालयी जीवन की शैक्षिक उपलब्धि से भी का गहरा सम्बंध स्थापित होता है। अत: माध्यमिक स्तर पर अध्ययनरत विद्यार्थियों को मार्गनिर्देशित करके उनके मानसिक स्वास्थ्य एवं स्वनियंत्रण के स्तर में वृद्धि कर उन्हें स्वस्थ जीवन यापन के लिए पथ प्रदर्शित किया जा सकता है। इन सभी विचारों को मद्देनजर रखते हुए शोधार्थी के मस्तिष्क में प्रश्न उजागर हुआ कि क्या मानसिक स्वास्थ्य तथा स्व-नियंत्रण योग्यता में कोई सम्बन्ध होता है ? इसी प्रश्न के उत्तर के लिए निम्नांकित समस्या का चुनाव किया गया-

समस्या कथन

''माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के मानसिक स्वास्थ्य एवं स्व-नियंत्रण के मध्य सम्बन्ध का अध्ययन।''

शोध के उद्देश्य

1. ग्रामीण परिवेश के छात्रों के मानसिक स्वास्थ्य एवं स्वनियंत्रण में सहसम्बन्ध का अध्ययन करना।
2. ग्रामीण परिवेश की छात्राओं के मानसिक स्वास्थ्य एवं स्वनियंत्रण में सहसम्बंध का अध्ययन करना।
3. शहरी परिवेश के छात्रों के मानसिक स्वास्थ्य एवं स्वनियंत्रण में सहसम्बंध का अध्ययन करना।
4. शहरी परिवेश की छात्राओं के मानसिक स्वास्थ्य एवं स्वनियंत्रण में सहसम्बंध का अध्ययन करना।

परिकल्पना

1. ग्रामीण परिवेश के छात्रों के मानसिक स्वास्थ्य एवं स्वनियंत्रण में कोई सार्थक सहसम्बन्ध नहीं है।
2. ग्रामीण परिवेश की छात्राओं के मानसिक स्वास्थ्य एवं स्वनियंत्रण में कोई सार्थक सहसम्बन्ध नहीं है।
3. शहरी परिवेश के छात्रों के मानसिक स्वास्थ्य एवं स्वनियंत्रण में कोई सार्थक सहसम्बन्ध नहीं है।
4. शहरी परिवेश की छात्राओं के मानसिक स्वास्थ्य एवं स्वनियंत्रण में कोई सार्थक सहसम्बन्ध नहीं है।

शोध परिसीमन

प्रस्तुत शोध के लिए उत्तराखण्ड राज्य के अन्तर्गत देहरादूनस्थ ग्रामीण तथा शहरी सरकारी माध्यमिक विद्यालयों के विद्यार्थियों को शोधकार्य के लिए सीमांकित किया गया। शोध के

अंतर्गत कक्षा 10 के विद्यार्थियों को ही सम्मिलित किया गया।

शोध जनसंख्या

शोध अध्ययन हेतु अनुसंधानकर्ता द्वारा देहरादून जनपद के माध्यमिक स्तर के विद्यालयों में अध्ययनरत छात्र-छात्राओं को जनसंख्या के रूप में लिया गया है।

न्यादर्श चयन

प्रस्तुत शोध अध्ययन में न्यादर्श के रूप में देहरादून जनपद के ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्र के 5-5 माध्यमिक स्तर के विद्यालयों का यादृच्छिक विधि से चयनित किया गया एवं प्रत्येक विद्यालयों से 10 छात्र एवं 10 छात्राओं को यादृच्छिक विधि से चयनित किया गया। इस प्रकार यह अध्ययन 200 न्यादर्श के माध्यम से पूर्ण किया गया।

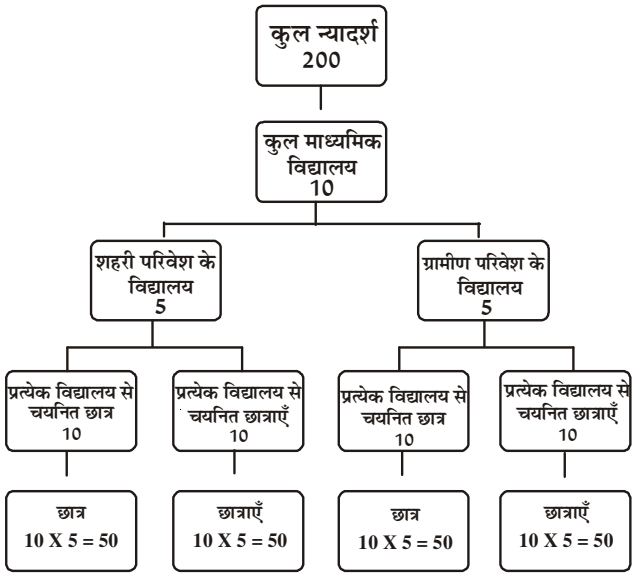

शोध विधि

प्रस्तुत शोध अध्ययन में सर्वेक्षण की विश्लेषणात्मक विधि का प्रयोग किया गया।

शोध उपकरण

प्रस्तुत शोधकार्य में मानसिक स्वास्थ्य तथा स्व-नियंत्रण के आंकडें एकत्रित करने के लिए संजय वोहरा द्वारा निर्मित Multi Dimensional Assessment of Personality Series में सम्मिलित आयाम- मानसिक स्वास्थ्य तथा स्व-नियंत्रण का प्रशासन किया गया है।

शोध सांख्यिकी

प्रस्तुत शोध अध्ययन में प्राप्त आंकडों के विश्लेषण के लिए कार्ल पियर्सन सहसम्बन्ध सांख्यिकी विधि का प्रयोग किया गया।

आंकड़ों का विश्लेषण एवं व्याख्या

उद्देश्य - 1 ग्रामीण परिवेश के छात्रों के मानसिक स्वास्थ्य एवं स्व-नियंत्रण में सहसम्बन्ध का अध्ययन करना।

तालिका नं. 1 ग्रामीण परिवेश के छात्रों के मानसिक स्वास्थ्य एवं स्व-नियंत्रण में सहसम्बंध सम्बंधी तालिका

क्र.	चर	संख्या	मध्यमान	मानक विचलन	स्तर	सहसम्बन्ध	परिणाम
1.	मानसिक स्वास्थ्य	50	5.32	2.02	सामान्य	+0.98	धनात्मक सार्थक सहसम्बन्ध
	स्वनियन्त्रण	50	5.38	1.94	सामान्य		

df 99 *.01 सार्थकता स्तर पर सारणी मूल्य-0.267*

सारणी सं0 01 के अवलोकन से विदित होता है कि माध्यमिक स्तर के ग्रामीण छात्रों के मानसिक स्वास्थ्य तथा स्व-नियंत्रण के आंकड़ों के मध्यमान क्रमश: 5.32 तथा 5.38 एवं प्रमाणिक विचलन क्रमश: 2.02 तथा 1.94 प्राप्त हुए। मध्यमान का अवलोकन करने से विदित होता है कि लक्षित समूह के मानसिक स्वास्थ्य तथा स्व-नियंत्रण सामान्य स्तर के हैं।

उपर्युक्त सारणी का पुन: अवलोकन करने पर स्पष्ट है कि ग्रामीण परिवेश के छात्रों के मानसिक स्वास्थ्य एवं स्वनियंत्रण में सहसम्बन्ध मूल्य .98 प्राप्त हुआ जो दर्शाता है कि माध्यमिक स्तर के ग्रामीण परिवेश के छात्रों के मानसिक स्वास्थ्य तथा स्व-नियंत्रण में धनात्मक उच्च सहसम्बंध है। प्राप्त सहसम्बन्ध गुणांक 0.01 विश्वास स्तर पर प्राप्त मूल्य .267 से अधिक है। तात्पर्य है कि ग्रामीण परिवेश के छात्रों के मानसिक स्वास्थ्य एवं स्व-नियंत्रण में सार्थक सहसम्बंध पाया जाता है। अत: शून्य परिकल्पना *'माध्यमिक स्तर के ग्रामीण परिवेश के छात्रों के मानसिक स्वास्थ्य एवं स्वनियंत्रण में कोई सार्थक सहसम्बन्ध नहीं है।'* अस्वीकृत की जाती है।

उद्देश्य - 2 ग्रामीण परिवेश की छात्राओं के मानसिक स्वास्थ्य एवं स्वनियंत्रण में सहसम्बंध का अध्ययन करना।

तालिका नं-2 ग्रामीण परिवेश की छात्राओं के मानसिक स्वास्थ्य एवं स्वनियंत्रण में सहसम्बंध सम्बंधी तालिका

क्र.	चर	संज्या	मध्यमान	मानक विचलन	स्तर	सहसज्ञन्ध	परिणाम
1.	मानसिक स्वास्थ्य	50	5.30	2.00	सामान्य	+0.96	धनात्मक सार्थक सहसज्ञन्ध
	स्वनियन्त्रण	50	5.16	1.94	सामान्य		

df 99 0.01 सार्थकता स्तर पर सारणी मूल्य-0.267

सारणी सं0 02 से स्पष्ट होता है कि माध्यमिक स्तर की ग्रामीण छात्राओं के मानसिक स्वास्थ्य तथा स्व-नियंत्रण के आंकड़ों के मध्यमान क्रमश: 5.30 तथा 5.16 एवं प्रमाणिक विचलन क्रमश: 2.0 तथा 1.94 प्राप्त हुए। दोनों मध्यमानों से विदित होता है कि लक्षित समूह के मानसिक स्वास्थ्य तथा स्व-नियंत्रण सामान्य स्तर के हैं।

उपर्युक्त सारणी के पुन: अवलोकन करने से स्पष्ट है कि ग्रामीण परिवेश की छात्राओं के मानसिक स्वास्थ्य एवं स्वनियंत्रण में सहसम्बन्ध मूल्य .96 प्राप्त हुआ जो दर्शाता है कि माध्यमिक स्तर के ग्रामीण परिवेश की छात्राओं के मानसिक स्वास्थ्य तथा स्व-नियंत्रण में धनात्मक उच्च सहसम्बंध है। प्राप्त सहसम्बन्ध गुणांक 0.01 विश्वास स्तर पर प्राप्त मूल्य .267 से अधिक है। तात्पर्य है कि ग्रामीण परिवेश की छात्राओं के मानसिक स्वास्थ्य एवं स्व-नियंत्रण में सार्थक सहसम्बंध पाया जाता है। अत: शून्य परिकल्पना *'माध्यमिक स्तर के ग्रामीण परिवेश की छात्राओं के मानसिक स्वास्थ्य एवं स्वनियंत्रण में कोई सार्थक सहसम्बन्ध नहीं है।'* अस्वीकृत की जाती है।

उद्देश्य- 3 शहरी परिवेश के छात्रों के मानसिक स्वास्थ्य एवं स्वनियंत्रण में सहसम्बंध का अध्ययन करना।

तालिका नं-3 शहरी परिवेश के छात्रों के मानसिक स्वास्थ्य एवं स्व-नियंत्रण में सहसम्बंध सम्बंधी तालिका

क्र.	चर	संज्या	मध्यमान	मानक विचलन	स्तर	सहसज्ञन्ध	परिणाम
1.	मानसिक स्वास्थ्य	50	5.28	2.06	सामान्य	+0.98	धनात्मक सार्थक सहसज्ञन्ध
	स्वनियन्त्रण	50	5.24	1.83	सामान्य		

df 99 .01 सार्थकता स्तर पर सारणी मूल्य-0.267

सारणी सं0 03 से स्पष्ट होता है कि माध्यमिक स्तरीय शहरी परिवेश के छात्रों के मानसिक स्वास्थ्य तथा स्व-नियंत्रण के आंकड़ों के मध्यमान क्रमश: 5.28 तथा 5.24 एवं प्रमाणिक विचलन क्रमश: 2.06 तथा 1.83 प्राप्त हुए। मध्यमान के अवलोकन से विदित होता है कि लक्षित समूह के मानसिक स्वास्थ्य तथा स्व-नियंत्रण सामान्य स्तर के हैं।

उपर्युक्त सारणी की पुन: समीक्षा से स्पष्ट है कि शहरी परिवेश के छात्रों के मानसिक स्वास्थ्य एवं स्वनियंत्रण में सहसम्बन्ध मूल्य .98 प्राप्त हुआ जो दर्शाता है कि माध्यमिक स्तर के शहरी परिवेश के छात्रों के मानसिक स्वास्थ्य तथा स्व-नियंत्रण में धनात्मक उच्च सहसम्बंध है। प्राप्त सहसम्बन्ध गुणांक 0.01 विश्वास स्तर पर प्राप्त मूल्य .267 से अधिक है। तात्पर्य है कि शहरी परिवेश के छात्रों के मानसिक स्वास्थ्य एवं स्व-नियंत्रण में सार्थक सहसम्बंध पाया जाता है। अत: शून्य परिकल्पना *'माध्यमिक स्तर के शहरी परिवेश के छात्रों के मानसिक स्वास्थ्य एवं स्वनियंत्रण में कोई सार्थक सहसम्बन्ध नहीं है।'* अस्वीकृत की जाती है।

उद्देश्य - 4 शहरी परिवेश की छात्राओं के मानसिक स्वास्थ्य एवं स्व-नियंत्रण में सहसम्बंध का अध्ययन करना।

तालिका नं-4 शहरी परिवेश की छात्राओं के मानसिक स्वास्थ्य एवं स्व-नियंत्रण में सहसम्बंध सम्बंधी तालिका

क्र.	चर	संज्या	मध्यमान	मानक विचलन	स्तर	सहसज्ञन्ध	परिणाम
1.	मानसिक स्वास्थ्य	50	5.28	2.12	सामान्य	+0.98	धनात्मक सार्थक सहसज्ञन्ध
	स्वनियन्त्रण	50	5.40	2.14	सामान्य		

df 99 .01 सार्थकता स्तर पर सारणी मूल्य-0.267

सारणी सं0 04 के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि, माध्यमिक स्तरीय शहरी परिवेश की छात्राओं के मानसिक स्वास्थ्य तथा स्व-नियंत्रण के आंकड़ों के मध्यमान क्रमश: 5.28 तथा 5.40 एवं प्रमाणिक विचलन क्रमश: 2.12 तथा 2.14 प्राप्त हुए। मध्यमान का पुनरावलोकन करने से विदित होता है कि लक्षित समूह के मानसिक स्वास्थ्य तथा स्व-नियंत्रण सामान्य स्तर के हैं।

उपर्युक्त सारणी से स्पष्ट है कि शहरी परिवेश की छात्राओं के मानसिक स्वास्थ्य एवं स्वनियंत्रण में सहसम्बन्ध मूल्य .98 प्राप्त हुआ जो दर्शाता है कि माध्यमिक स्तर के शहरी परिवेश की छात्राओं के मानसिक स्वास्थ्य तथा स्व-नियंत्रण में धनात्मक उच्च सहसम्बंध है। प्राप्त सहसम्बन्ध गुणांक 0.01 विश्वास स्तर पर प्राप्त मूल्य .267 से अधिक है। तात्पर्य है कि शहरी परिवेश के छात्राओं के मानसिक स्वास्थ्य एवं स्व-नियंत्रण में सार्थक सहसम्बंध पाया जाता है। अत: शून्य परिकल्पना *'माध्यमिक स्तर के शहरी परिवेश के छात्राओं के मानसिक स्वास्थ्य एवं स्वनियंत्रण में कोई सार्थक सहसम्बन्ध नहीं है।'* अस्वीकृत की जाती है।

निष्कर्ष (Conclusion)

आंकड़ों के विश्लेषण के उपरान्त निष्कर्ष निकलता है कि ग्रामीण एवं शहरी परिवेश के छात्र-छात्राओं के व्यक्तित्व के

गुण मानसिक स्वास्थ्य तथा स्व-नियंत्रण में उच्च धनात्मक सहसम्बन्ध है। तात्पर्य है कि मानसिक स्वास्थ्य उत्तम होने पर स्व-नियंत्रण क्षमता में स्वत: ही वृद्धि होती जाती है।

शैक्षिक निहितार्थ (Educational Implications)

- **प्रधानाचार्यों के लिए सुझाव** - स्कूल प्रधानाचार्य द्वारा मानसिक स्वास्थ्य से सम्बन्धित जागरूकता कार्यक्रम प्रारम्भ किया जा सकता है। इन कार्यक्रमों में विद्यार्थियों को मानसिक स्वास्थ्य में वृद्धि करने, मानसिक अस्वस्थता के कारणों एवं उनके निवारणों पर चर्चा करके उनसे सम्बन्धित समुचित समाधान भी प्रदान किया जा सकता है। ऐसी गतिविधियों के माध्यम से अध्ययनरत छात्र-छात्राओं के मानसिक विकारों के शुरूआती लक्षणों को पहचानना एवं उनसे बचाव और सांवेगिक स्थितरता का प्रशिक्षण प्रदान किया जा सकता है। जिसके परिणामस्वरूप मानसिक रूप से स्वस्थ रहकर छात्र-छात्राएं अपना भविष्य सुनहरा बना सकें।
- **शिक्षकों के लिए सुझाव** - विद्यार्थियों के मानसिक स्वास्थ्य को विकसित करने के लिए शिक्षक, पाठयक्रम में शारीरिक स्वास्थ्य शिक्षा पर भी बल दे सकते हैं, विद्यार्थियों के संवेगों पर नियंत्रण का प्रशिक्षण प्रदान कर सकते हैं। छात्र-छात्राओं के मानसिक स्वास्थ्य को बेहतर बनाने के लिए खुला वातावरण प्रदान किया जाए, जिससे वे स्वयं के व्यक्तित्व को निखार सकें तथा संवेगों पर नियंत्रण रख सकें। शिक्षकों द्वारा विद्यार्थियों पर अधिगम लक्ष्य की पूर्ति करने के लिए गतिविधियां थोपी नहीं जानी चाहिए।
- **अभिभावकों हेतु सुझाव** - बेहतर मानसिक स्वास्थ्य एवं स्वनियंत्रण को विकसित करने के लिए अभिभावक स्वयं के परिवारिक वातावरण को क्लेश, तनाव, भग्नाशा आदि से सदैव ही दूर रखें। वें बच्चों को शारीरिक रूप से सुदृढ़ रखने के लिए संतुलित आहार की व्यवस्था करें जिससे बच्चों का शरीर बलिष्ठ हो और वे विकारों से दूर रह सकें। वहीं, अभिभावक अपनी रूचि के बजाय अपने बच्चों की रूचि के आधार पर, किसी भी व्यवसाय के चयन का अवसर प्रदान करें। स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क का निर्माण तभी संभव है जब बच्चों को संतुलित आहार एवं पोषण की व्यवस्था की जाए। अत: छात्रों को शारीरिक रूप से सशक्त बनाने में उनके शारीरिक स्वास्थ्य की देखभाल भी आवश्यक है।

सन्दर्भ सूची

- कुमार, ए. बी. किरन तथा रेड्डी, एस. विश्वनाथ (2010). हाईस्कूल तथा इण्टरमीडियट के विद्यार्थियों के मानसिक स्वास्थ्य पर उनके लिंग, परिवेश तथा शैक्षिक स्तर का प्रभाव. जनरल ऑफ कम्युनिटी गाइडेंस एण्ड रिसर्च, 5 (5).
- कुमारी, सुधा एवं जफरी, सदफ (2014). उत्तर प्रदेश बोर्ड के उच्च माध्यमिक विद्यार्थियों का मानसिक स्वास्थ्य व शैक्षिक उपलब्धि. जनरल ऑफकम्युनिटी गाइडेंस एण्ड रिसर्च, 31 (2), 187-199.
- बमागोण्ड, अनिल वी. एवं एस., कम्बर जी. (2011). माध्यमिक विद्यालय विद्यार्थियों के मानसिक स्वास्थ्य तथा शैक्षिक उपलब्धि में सम्बन्ध. जी. सी. टीई. जनरल ऑफ रिसर्च एण्ड एक्सटेंशन इन एजुकेशन, 6 (1).
- सैनी, अमृता (2015). विद्यालयी परिवेश के सन्दर्भ में माध्यमिक विद्यालय विद्यार्थियों का मानसिक स्वास्थ्य. ऑनलाइन इन्टरनेशनल इन्टरडिसिप्लिनरी रिसर्च जनरल,· V 279&283- Retrieved on January 05, 2016 from htpp://www.oiirj.org/oiirj/nov2015-special-issue/39.pdf
- श्रीवास्तव (2004) ''मेंटल हैल्थ एण्ड पर्सनालिटी एडजेस्टममैन्ट अमंग आप्टीमिस्टिक एण्ड पैसीमिस्टिक स्टूडैन्ट्स'' जनरल ऑफ कम्युनिटी गाइडेंस एण्ड रिसर्च, 31 (2), 239-247.

ISSN 2278 - 0327

शांखायण-ब्राह्मण में दर्शपौर्णमास-यज्ञ

कृष्णकान्त सरकार
शोधछात्र, संस्कृत विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007
sarkarkrishnakanta33@gmail.com

सारांश-

वेदों के व्याख्यान ग्रन्थ ब्राह्मणग्रन्थ को माना जाता है। वेद मन्त्रों का व्याख्या-विनियोग बाह्मण ग्रन्थों और सौत्रग्रन्थों में ही मिलता है। इन ब्राह्मणग्रन्थों में वैदिक यज्ञों के भौतिक-वर्णन के साथ-साथ आध्यात्मिक एवं वैज्ञानिक रूपों का भी वर्णन पाया जाता है। प्रत्येक वेद के अलग-अलग ब्राह्मणग्रन्थ होते हैं। शांखायण ब्राह्मण ऋग्वेद का एक ब्राह्मणग्रन्थ है। इस ब्राह्मणग्रन्थ में 30 अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय खण्डों में विभाजित हैं। सम्पूर्ण खण्डों की संख्या 266 है। इस ब्राह्मणग्रन्थ के तृतीय अध्याय में दर्श और पौर्णमास यज्ञ के विषय में वर्णन उपलब्ध होता है।

कूटशब्द- यज्ञकाल, हिंकार-उच्चारण, वषट्-उच्चारण, देवताह्वान, इलाह्वान, अनुयाज्, सूक्तवाक्, शंयोर्वाक्, पत्नीसंयाज।

प्रस्तावना-

शांखायण-ब्राह्मण का दूसरा नाम कौषीतकी-ब्राह्मण है। इस ब्राह्मण के रचनाकार शांखायणाचार्य को माने जाते है। शांखायणारण्यक में इनकी वंश परम्परा का उल्लेख मिलता है।[1] ब्राह्मण ग्रन्थों में वेद की व्याख्या की गई है। इन व्याख्याओं में यज्ञ को अधिक महत्त्व दिया गया है। यज्ञ का प्रतिपादन सर्वप्रथम ऋग्वेद में मिलता है। ऋग्वेद और यजुर्वेद में वर्षचक्र को यज्ञ कहा गया है।[2] यजुर्वेद में वर्षचक्ररूपी यज्ञ को सृष्टि की नाभि बताया गया है।[3] यज्ञ शब्द यज् देवपूजा-संगतिकरण-दानेषु इस धातु से नङ्प्रत्यय होकर सिद्ध होता है।[4] यज्ञ की विभिन्न विधियों का वर्णन ब्राह्मणग्रन्थों में पाया जाता है। अत: भट्टभास्कर ने कर्मकाण्ड और मन्त्रों के व्याख्यान ग्रन्थों को ब्राह्मणग्रन्थ कहा है।[5] चारों वेदों के अलग-अलग ब्राह्मणग्रन्थ होते हैं। इस प्रकार ऋग्वेद के दो ब्राह्मण उपलब्ध होते हैं। उनमें से शांखायण ब्राह्मण एक है। यह ऋग्वेद के अनुपलब्ध वाष्कल शाखा से सम्बन्धित है। इस ब्राह्मणग्रन्थ में अध्याय हैं। सम्पूर्ण अध्याय 226 खण्डों में विभक्त है। इस के प्रथम छ: अध्यायों में पाक यज्ञों का वर्णन पाया जाता है। शेष अध्यायों में सोमयाग के विभिन्न रूपों का वर्णन है। सात हविर्यागों के अन्तर्गत दर्शपौर्णमास एक पार्विक यज्ञ है। पार्विक यज्ञ दो प्रकार के होते हैं। यथा-पहला, चातुर्मास्य याग जिसको ऋतुयाग कहते है और दूसरा, पाक्षिक याग जिसको दर्शपौर्णमास याग कहते है। दर्शपौर्णमास याग के दो भाग हैं। एक नैमित्तिक याग। जिसके तीन भाग हैं और दूसरा शुद्ध पाक्षिक, जिसको दर्शपौर्णमास याग के नाम जाना जाता है। इस याग के दो भाग है; एक दर्श याग जो अमावस्या में सम्पन्न किया जाता है और दूसरा पौर्णमास याग जो पूर्णिमा में किया जाता है।

शांख्यायण ब्राह्मण के तृतीय अध्याय में दर्शपौर्णमास याग का वर्णन प्राप्त होता है। इस अध्याय में नौ खण्डों में दर्शपौर्णमास यज्ञ के यज्ञकाल, सामिधेन्य, देवतावहन, प्रयाज, मुख्य आहुतियाँ, इल (अन्न) आह्वान, अनुयाज, सूक्तवाक्, शंयोर्वाक् और पत्नीसंयाजा का वर्णन प्राप्त होता है।

यज्ञकाल-

शांखायण ब्राह्मण के अनुसार अमावस्या या पौर्णमासी के दिन व्रत पालन करके इस यज्ञ का प्रारम्भ करने का निर्देश दिया है। शांखायण ब्राह्मण में उल्लेखित पैङ्ग्य ऋषि का मत है कि पूर्णिमा के प्रथम दिन में व्रत पालन करके इस यज्ञ का प्रारम्भ करना चाहिये किन्तु शांखायण के अनुसार पूर्णिमा के द्वितीय दिन व्रत पालन करके इस यज्ञ का प्ररम्भ करना चाहिये। अर्थात् सूर्यास्त के पश्चात् जिस दिन पूर्ण चन्द्रमा दिखाई पड़े उस दिन व्रत करके यज्ञ प्रारम्भ करना चाहिये या द्वितीय दिन यज्ञ प्रारम्भ करना चाहिये। ठीक इसी प्रकार जिस दिन चन्द्रमा दिखाई न पड़े उस दिन या उससे अगले दिन में व्रत का पालन करके यज्ञ का प्रारम्भ करना चाहिये। द्वितीय दिन व्रतपालन कर यज्ञ का प्रारम्भ करना चाहिये क्योंकि अमावस्या या पूर्णिमा के द्वितीय दिन ही समुद्र अपने देवता चन्द्रमा के अनुसार ज्वारयुक्त होता है।[6] प्रश्न होता है कि दर्श और पौर्णमास याग में किस याग सर्वप्रथम अनुष्ठान किया

जाए ? इस विषय में खादिर एवं द्राह्यायण गृह्यसूत्र में पौर्णमास याग को पहले और दर्शयाग् को पश्चात् करने का निर्देश किया है।[7] 15 से 30 वर्ष पर्यन्त गृहस्थी को इस यज्ञ को करने का विधान किया गया है। अपत्नीक या मृतपत्नीक इस यज्ञ को करने का अधिकारी नहीं है।

हिङ्कार-उच्चारण-

शांखायण ब्राह्मण के अनुसार दर्शपौर्णमास यज्ञ में हिङ्कार पूर्वक अग्न्याधान मन्त्रों का उच्चारण करना चाहिये।[8] हिंकार उच्चारण को वज्र के समान माना गया है। जिस प्रकार इन्द्र वज्र के माध्यम से शत्रुओं का नाश किया था। अत: यह हिंकार उच्चारण ही ऋत्विक के पापों को नष्ट करता है। इस यज्ञ में यजमान को ग्यार समिधानी मन्त्रों का पाठ करना होता है। त्रिष्टुप् छन्द इन ग्यार समिधानी मन्त्रों से इन्द्र देवता को प्राप्त करता है। क्योंकि इन्द्र देवता त्रिष्टुभ से सम्बन्धित है। इस प्रकार यजमान अग्नि और इन्द्र देवता को प्राप्त करता है। इन ग्यार मन्त्रों में से प्रथम और अन्तिम मन्त्र को तीन-तीन बार पाठ करना चाहिये। इस प्रकार कुल पन्द्रह समिधानी मन्त्रों का पाठ कराना होता है। इस प्रकार इन समिधानी मन्त्रों से प्रथम एवं द्वितीय पक्षों को प्राप्त करता है। हिंकार उच्चारण के समान इन समिधानी मन्त्रों को वज्र के समान माना जाता है। क्योंकि वज्र भी पन्द्रह पर्व वाला होता है और समिधानी मन्त्र भी पन्द्रह है। दर्शपौर्णमास यज्ञ को स्थिरता प्रदान करने के लिये समिधानी के प्रथम मन्त्र को तीन बार और अन्तिम मन्त्र को तीन बार [1*3+9+1*3=15] उच्चारण किया जाता है।[9] जिससे कि दर्शपौर्णमास यज्ञ में किसी प्रकार व्यावधान न हो। इस प्रकार ये समिधानी मन्त्र सम्पूर्ण वर्ष के दिनों को प्राप्त करता है। दर्श या पौर्णमास याग के मन्त्रों के कुल 360 अक्षर होते है। ये समिधानी मन्त्र गायत्री मन्त्र होते हैं। 24 अक्षरों वाला यह मन्त्र गायत्री छन्दों से युक्त होने के कारण इन मन्त्रों को गायत्री मन्त्र के नाम से जाना जाता है। गायत्री छन्द अग्नि देवता से सम्बद्ध होने के कारण इन मन्त्रों के माध्यम से अग्नि देवता की भी स्तुति की जाती है। इस प्रकार इन समिधानी मन्त्रों से दर्शपौर्णमास यज्ञ सम्पन्न किया जाता है।

वषट्-उच्चारण-

दर्शपौर्णमास याग में हवि प्रदान करते समय स्वाहा के स्थान पर वषट् का उच्चारण करने का निर्देश दिया गया है। सायण ने यज्ञ विशेष के आधार पर स्वाहा और वषट् कार को विकल्प माना है।[10] स्वाहा कार और वषट् कार के माध्यम से देवताओं को अन्न अर्थात् हवि प्रदान किया जाता है।[11] दर्शपौर्णमास याग में पाँच प्रयाज छ: ऋतुओं मे किया जाता है। अत: षट् को वषट् उच्चारण करने से छ: ऋतुएँ भी प्रसन्न होती हैं। ऋतुओं को प्रसन्न करना आवश्यक है क्योंकि इन छ: ऋतुओं के माध्यम से ही सृष्टि प्रक्रिया चलती है एवं उद्भित और प्राणी इन ऋतुओं के माध्यम से ही जीवन धारण करते हैं। ऐतरेयब्राह्मण में वषट् कार को तीन भाग माना है- वज्र, धामच्छद् और रिक्त।[12] जिस मन्त्र को उच्चस्वर से उच्चारण किया जाता है और उच्चस्वर से वषट् का उच्चारण किया जाता है। उस वषट् कार को वज्र कहा जाता है।[13] इस प्रकार वषट् उच्चारण करने से यजमान के हन्तव्य शत्रुओं को नाश कर सकते हैं। तुल्य (मध्यम) ध्वनि वाला और सम्पूर्ण याज्ञा पाठ युक्त होने वाला वषट् उच्चारण को धामच्छद् कहा जाता है।[14] इस प्रकार वषट् उच्चारण करने वाला यजमान को प्रजा और पशुओं की प्राप्ति होती है।[15] निम्नस्वर से उच्चारण किया गया वषट् को 'रिक्त' कहा जाता है।[16] इस प्रकार वषट् उच्चारण करने से यजमान धन हीनता को प्राप्त करता है। अत: इस प्रकार के वषट् उच्चारण करने का निषेध किया गया है।[17]

देवताह्वान-

अलग-अलग हवियों के माध्यम से देवताओं का आवाहन किया जाता है। अग्नि देवता को अग्नि के माध्यम से आवाहन किया जाता है। अग्नि मूलत: सूर्य ही है, जिसकी ज्योति से ही स्थावर-जङ्गम सभी प्रकाशित होते है।[18] यजमान अग्नि के माध्यम से जिस-जिस देवता के जिस रूप का आवाहन करता है अग्नि उसी देवता को उसी रूप में लाता है। इसीलिये ऋग्वेद में अग्नि को देवताओं का हव्यवाहन कहा गया है।[19] प्रयाजानुयाज के माध्यम से आज्यपायी देवताओं का आवाहन किया जाता है। स्विष्टकृत के माध्यम से भी अग्नि देवता को होत्र के लिये आवाहन किया जाता है। अगर यजमान अग्नि की स्वमहिमा का आवाहन करता है तो वह वायु देवता हो आहुत करता है। वायु को अग्नि की स्व-महिमा माना जाता है। इस प्रकार से दर्शपौर्णमास यज्ञ के माध्यम से इष्ट देवताओं का आवाहन किया जाता है।

प्रयाज-

दर्शपौर्णमास यज्ञ में पाँच प्रयाज होते हैं। शांखायणब्राह्मण में मूलत: ऋतुओं को ही प्रयाज कहा है।[20] इसीलिये यजमान ऋतुओं का ही प्रसादन करता है। वसन्त ऋतु में सभी समिद्ध प्रज्वलित होने के कारण यजमान समिधाओं से वसन्त ऋतु का यजन करता है। ग्रीष्म ऋतु शरीर को तपाने के कारण यजमान इस तनुनपात का यजन करता है। वर्षा से यज्ञीय अन्न उत्पन्न हेने के कारण यजमान वर्षा ऋतु का यजन करता है। शरद ऋतु का इसलिये यजन करता

है क्योंकि शरद में वर्हि अर्थात् कुश के अन्यान्य ओषधियाँ उत्पन्न होते हैं। हेमन्त स्वाहाकृति से समृद्ध होने के कारण यजमान हेमन्त का यजन करता है। ऋग्वेद में भी ऋतुओं से यज्ञ करने का वर्णन प्राप्त होता है।[21] प्रश्न होता है कि और प्रयाज पाँच हैं और ऋतुएँ छः हैं? इसका समाधान यह कि- चतुर्थ प्रयाज के आहुतियाँ दो ऋतुओं को प्राप्त होता है। जैसे अग्नि सभी प्रयाजों का भागी बनता है। इस प्रकार पाँच प्रयाजों के माध्यम से छः ऋतुओं का यज्ञ सम्पन्न होते हैं।

दर्शपौर्णमास याग की मुख्याहुतियाँ-

दर्शपौर्णमास याग दो यागों का समूह हैं। एक दर्शयाग जो अमावस्या में अर्थात् कृष्ण पक्ष में किया जाता है और दूसरा पौर्णमास याग जो पूर्णिमा अर्थात् शुक्ल पक्ष में किया जाता है। पौर्णमास याग के माध्यम से अग्नि और इन्द्र का यजन किया जाता है। पौर्णमास याग में तीन आहुतियाँ प्रदान किया जाता है। दो पुरोडाश में मध्य एक उपांशु से आहुतियाँ प्रदान किया जाता है। अर्थात् अष्टकपालपुरोडाश याग, उपांशुयाग (घृत का याग) और एकादशकपालपुरोडाश याग। दर्शयाग में इन्द्र और अग्नि का यजन किया जाता है।[22] दर्शयाग में भी तीन आहुतियाँ प्रदान किया जाता है। अर्थात् अग्नि को एक पुरोडाश की एक आहुति और इन्द्र को एक पुरोडाश एवं दूध की आहुति दी जाती है। यथा- अग्निप्रीत्यार्थकपुरोडाश याग, इन्द्रप्रीत्यार्थकपुरोडाश याग और इन्द्र-प्रीत्यार्थकपयोद्रव्य याग किया जाता है।

इलाह्वानम्-

इला यज्ञीयान्न को कहते है। दर्शपौर्णमास याग में यज्ञीयान्न का आह्वान किया जाता है। इस आह्वान के माध्यम से सभी लोकों को प्रसन्न किया जाता है, सभी प्राणियों की यश-कामना की जाती है, पशुओं की कामना की जाती है और पितरों को भी तृप्त किया जाता है।[23]

अनुयाज, सूक्तवाक् और शंयोर्वाक्-

दर्शपौर्णमास यज्ञ में कुछ अवान्तर क्रियाएँ भी की जाती है। उनमें से अनुयाज, सूक्तवाक् और शंयोर्वाक् अन्यतम हैं। इन क्रियाओं के माध्यम से यजमान को इष्ट फल प्राप्त होते हैं। यदि यजमान अनुयाज करता है अर्थात् अन्तिम तीन मन्त्रों की आहुतियाँ प्रदान करता है, तो वह तीनों लोकों को प्राप्त करता है। प्रयाजवत् अनुयाज करना चाहिये।[24] प्रधान यज्ञ के पश्चात् जिन मन्त्रों से आहुति प्रदान किया जाता है उन मन्त्रों को अनुयाज के कहते हैं।[25] सूक्तवाक् को प्रतिष्ठा कहा जाता है।[26] सूक्तवाक् प्रतिष्ठा को प्राप्त कराता है। सूक्तवाक् में यजमान का नाम लिया जाता है। सूक्तवाक् में यजमान का नाम लेने से यजमान सभी कामनाओं को प्राप्त करता है एवं यजमान का पतन नहीं होता है। शंयोर्वाक् भी प्रतिष्ठा को प्राप्त कराता है। शंयोर्वाक् बृहस्पति देवता को कहते है।[27] अर्थात् शंयोर्वाक् में बृहस्पति देवता की स्तुति की जाती है। बृहस्पति ही सभी यज्ञों को शमन करता है। शंयो जल को भी कहते है। जल को शान्ति और भैषज माना जाता है। इसीलिये यज्ञान्त जल का स्पर्श किया जाता है।[28]

पत्नीसंयाज-

दर्शपौर्णमास याग के पर्व पर पत्नी के द्वारा किया गया चार यज्ञों को पत्नीसंयाज कहते है।[29] शांख्यायणब्राह्मण में द्वंद्वम्, मिथुनम्, प्रजननम् और प्रजा इन यज्ञों को पत्नीसंयाज कहा गया है।[30] इन चार यज्ञों के माध्यम से सोम, त्वष्टा, देवपत्नी, अग्नि और गृहपति का यजन किया जाता है।[31]

निष्कर्ष-

इस प्रकार दर्शपौर्णमास यज्ञ के माध्यम से इष्ट फलों की कामना की जाती है। साधाराणतः इस यज्ञ के माध्यम से स्वर्ग की कामना की जाती है एवं इस यज्ञ में आहुति प्रदान करते समय 'स्वाहा' के स्थान पर वषट् कार का उच्चारण करने के लिये कहा है। इस वषट् कार के माध्यम से शत्रुओं नाश और प्रजा-पशुओं की प्राप्ति की प्रार्थना की जाती है। यह यज्ञ एक दीर्घ कालिक यज्ञ है 15 से 30 वर्ष पर्यन्त किया जाता है और दीर्घकालिक यज्ञ होने से पर्यावरण की शुद्धता के लिये विशेष उपयोगी भी है। क्योंकि पर्यावरण की शुद्धता एवं अन्नादि उत्पन्न के लिये दीर्घकालिक यज्ञ आवश्यक है।[32] यह यज्ञ सपत्नीक है। इस प्रकार पति-पत्नी के सहभागिता यह सम्पन्न होता है।

सन्दर्भ सूची -

1. शांखायण आरण्यक 1.15
2. यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
   वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद् हविः॥ ऋग्वे. 10.90.6
   यजु. 31.14
3. अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः। यजु. 23/62
4. यज् देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु। धा. 1/728
   यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षोनङ्। अष्टा. 3.3.90
5. ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणां व्याख्यानग्रन्थः।
   भट्टभास्कर, तै.स.भा 1/5/1
6. शा.ब्रा. 3/1
7. दार्शयेत् पूर्वमुपपद्यते पौर्णमासेनष्ट्वाऽथतत्कुर्यात्।
   द्रा.गृ.सू,

खा.गृ.सू. 2/1/2

8. शा.ब्रा.3.2
9. वही
10. विधित्वेऽपि नियत्यै स्यान्न व्यत्यासवषट्कृती।
होमान्तरे वषट्कारस्वाहाकारविकल्पनम्॥ कृ.य. प्र.1, अनु.3
11. वषट्कारेण स्वाहाकारेण वा देवेभ्योऽन्नं प्रदीयते। तै.सं प्र.1, अनु.3
12. त्रयो वै वषट्कारा वज्रो धामच्छद् रिक्तः। ऐ.ब्रा. 3/7
13. स यमेवोच्चैर्बलि वषट् करोति सः वज्रः। ऐ.ब्रा. 3/7
14. अथः यः समः संततोऽनिर्हाणर्चः स धामच्छत्। वही
15. तं तं प्राजाश्च पशवश्चानूपतिष्ठन्ते, तस्मात् स प्रजाकामेन पशुकामेन वषट् कृत्यः॥ वही
16. अथ येनैव षळ्वराध्वनोति स रिक्तः। वही
17. किं स यजमानस्य पापभद्रमाद्रियेतेति ह स्माऽऽह योऽस्य होता स्यादित्यत्रैवैनं कामयेत तथा कुर्यात्। वही
18. शा.ब्रा.3.3
19. ऋग्वे. 5.8.6
20. शा.ब्रा.3.4
21. यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्मः इध्मः शरद्धविः। ऋग्वे.10.90.6
22. यत्पौर्णमास्यामग्नीषोमौ यजति। शा.ब्रा.3.6
23. शा.ब्रा. 3/7
24. प्रयाजवदनुयाजं कर्तव्यम्। ऐ.ब्रा. 2.5
25. ऐ.ब्रा. 2/5
26. प्रतिष्ठा वै सूक्तवक्। वही 3/8
27. शंयुर्ह वै बार्हस्पत्यः। शा.ब्रा 3/8
28. वही 3.8
29. पत्न्यनुष्ठेयाश्चत्वारो यागाः पत्नीसंयागा उच्यन्ते। का.शौ.सू 10/8/10
30. शा.ब्रा. 3/9
31. वही
32. अन्नाद्भवति भूतानि पर्यन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः। गीता. 3/14

संकेताक्षर सूची-

शा.ब्रा-शांख्यायणब्राह्मण, का.शौ.सू- कात्यायण श्रौत्रसूत्र, ऐ.ब्रा- ऐतरेयब्राह्मण, यजु- यजुर्वेद, अष्टा- अष्टाध्यायी, तै.सं-तैत्तिरीयसंहिता, द्राह्यायणगृह्यसूत्र, खा.गृ.सू-खादिर गृह्यसूत्र।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

- अर्थसंग्रह, सत्यप्रकाश शर्मा (व्या.) साहित्य भण्डार प्रकाशन, 2010
- ऐतरेयब्राह्मणम्, सुधाकर मालवीय(सम्पा.), तारा प्रकाशन, वाराणसी, 1980.
- कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयसंहिता, विनायक गणेश आप्टे (सम्पा.), आनन्दाश्रममुद्रणालय, 1940.
- शांखायणब्राह्मणम्, गंगासागर राय (सम्पा.), रत्न प्रकाशन, वाराणसी, 1987.
- श्रीमद्भागवद्गीता, गीताप्रेस गोरखपुर, सं 2063.
- निरुक्तम्, छज्जुराम शास्त्री (व्या.), मेहरचन्द लछमनदास पब्लिकेशन्स्, नईदिल्ली, 2016.
- अग्निहोत्र, धर्मेन्द्र शास्त्री, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, 2017
- ऐतरेय ब्राह्मण का अध्ययन, नाथुलाल पाठक, रोशन लाल जैन एण्ड सन्स, जयपुर, 1966.
- ऋग्वेदीय ब्राह्मणों का सांस्कृतिक अध्ययन, बलवीर आचार्य, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, 1991.
- भारतीय संस्कृति, किरण टण्डन, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 2017.
- भारतीय संस्कृति, प्रीतिप्रभा गोयल, राजस्थानी, जोधपुर, 2016.
- यज्ञ मीमांसा, रामनाथ वेदालंकार, दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली, 1980.
- वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, कपिलदेव द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2018.
- वैदिक यज्ञ संस्था और वेद विज्ञान, नाग पब्लिकेशर्स, जवाहर नगर, दिल्ली, 2004.
- सस्कृत साहित्य का इतिहास, उमाशंकर शर्मा, चौखम्भा भारती अकादमी, वाराणसी, 2010.

- अग्निहोत्र, धर्मेन्द्र शास्त्री, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, 2017
- ऐतरेय ब्राह्मण का अध्ययन, नाथुलाल पाठक, रोशन लाल जैन एण्ड सन्स, जयपुर, 1966.
- ऋग्वेदीय ब्राह्मणों का सांस्कृतिक अध्ययन, बलवीर आचार्य, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, 1991.
- भारतीय संस्कृति, किरण टण्डन, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 2017.
- भारतीय संस्कृति, प्रीतिप्रभा गोयल, राजस्थानी, जोधपुर, 2016.
- यज्ञ मीमांसा, रामनाथ वेदालंकार, दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली, 1980.
- वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, कपिलदेव द्विवेदी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2018.
- वैदिक यज्ञ संस्था और वेद विज्ञान, नाग पब्लिकेशर्स, जवाहर नगर, दिल्ली, 2004.
- सस्कृत साहित्य का इतिहास, उमाशंकर शर्मा, चौखम्भा भारती अकादमी, वाराणसी, 2010.

ISSN 2278 - 0327

वर्तमान सन्दर्भ में ज्योतिष की उपयोगिता

नंदिनी चौबे
शोधच्छात्रा, ज्योतिष विभाग
केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, भोपाल परिसर

ज्योतिषशास्त्र एक बहुत ही बृहद् ज्ञान हैं, सामान्य भाषा में कहें तो ज्योतिष अर्थात् वह विद्या जिसके द्वारा आकाश में स्थित ग्रहों-नक्षत्रों आदि की गति, परिमाप दूरी इत्यादि का निश्चय किया जाता है। ज्योतिष भाग्य या किस्मत बताने का कोई खेल या तमासा नहीं है, यह विशद्ध रूप से एक विज्ञान है।

ज्योतिष शब्द की उत्पत्ति 'द्युत' दीप्तों धातु से हुई है। इसका अर्थ अग्नि, प्रकाश व नक्षत्र होता है। शब्द कल्पद्रुम के अनुसार ज्योतिर्मय सूर्यादि ग्रहों की गति ग्रहण इत्यादि को लेकर लिखे गये वेदाङ्ग शास्त्र का नाम ज्योतिष है।

ज्योतिष शास्त्र का मुख्य प्रयोजन अनुष्ठेय यज्ञ के उचित काल का संशोधन करना है, यदि यह शास्त्र न हो तो मुहूर्त, तिथि, नक्षत्र, ऋतु, अयन आदि सब उलट-पलट हो जाये इसलिये इस शास्त्र को कालविधान शास्त्र भी कहा गया है। यथा -

वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ता: कालानुपूर्वा विहिताश्चयज्ञा:।
तस्मादिदं कालविधानशास्त्रं यो ज्योतिषं वेत्ति स वेद यज्ञान्।

ज्योतिषशास्त्र के मुख्य तीन स्कन्ध हैं-

- सिद्धान्त
- संहिता
- होरा

सिद्धान्त -

इसके माध्यम से खगोलीय ज्योतिष पिण्डों की गतिस्थिति-कक्षा युगादि व्यवस्थापन विविध कालमान, यह सब विषय तथा ग्रहणादि कब होगा इसका वर्णन यह स्कन्ध करता है।

संहिता -

ज्योतिषशास्त्र का संहिता स्कन्ध सर्वाधिक लोकोपकारक है।

रमनमहोदय ने संहिता के विषय में कहा है 'संहिता विश्व का विज्ञान है'। इसके माध्यम से भूमण्डल की स्थिति का ज्ञान होता है। यथा-वृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्पादि वायुगति, परीक्षण, ग्रहचार, शकुन, दिग्दाह, इत्यादि आकाशीय स्थितियों का ज्ञान तथा किस तरह की भूमि वास योग्य है। वस्तु संबन्धित विवेचन तथा जलाशयारंभ, घर के निकट वृक्षादिव्यवस्था, वनस्पति व्यवस्था, रत्नादि परीक्षा इत्यादि का ज्ञान हमें संहिता स्कन्ध कराता है।

होरा -

जन्म से मृत्यु पर्यन्त मनुष्य का शुभाशुभ फलादेश होराशास्त्र के माध्यम से होता है। यह स्कन्ध सबसे ज्यादा उपयोगी है। इसमें रुग्ण जनों की गृहचिकित्सा के माध्यम से उपचार अरिष्ट शमनोपाय विविध, अशुभ योगों का निवारण, शारीरिक सुख, संतानोत्पति, विवाह आदि विषयों का ज्ञान तथा उपाय होरास्कन्ध के माध्यम से होता है।

यह प्रत्येक मनुष्य के लिए उपयोगी है। प्राचीन काल से ही ज्योतिष की उपयोगिता सिद्ध होती आई है। वेदों, पुराणों, रामायण, महाभारत, संहिताओं आदि में इसका वर्णन प्राप्त होता है। नारद संहिता में कहा गया है इसके बिना किसी भी कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती है। यथा-

वेदस्य निर्मलं चक्षुज्योति: शास्त्रमकल्मषम्।
विनैतदखिलं श्रौतं स्मार्तं कर्म न सिद्धयति।।

मनुष्य के समस्त कार्य ज्योतिष के द्वारा ही चलते हैं। कृषि कार्य में एक समान्य किसान भी इस शास्त्र का प्रयोग करता हैं। वह भलिभाँति जानता है, कि किस नक्षत्र में वर्षा अच्छी होती है, और कब बीज वपन करें, जिससे फसल अच्छी हो। अत: कृषि कार्य के लिए भीयह परम उपयोगी

शास्त्र है।

आयुर्वेद का ज्योतिष से घनिष्ठ संबंध है। यथा ओषधियों का निर्माण यथा समय गुणयुक्त नहीं किया जा सकता कारण एकदम स्पष्ट है कि ग्रहों के तत्व और स्वभाव वाली औषधि का निर्माण करने सें वह विशेष गुणकारी हो जाती है, जिससे ज्यादा लाभ होता है।

इस शास्त्र की सबसे बड़ी उपयोगिता यही है कि यह समस्त जीवन के प्रत्यक्ष और परोक्ष रहस्यों का विवेचन करता है और प्रतीकों द्वारा समस्त जीवन को प्रत्यक्षरूप में उस प्रकार प्रकट करता है। ज्योतिष शास्त्र मानव का परम हितेशी पथप्रदर्शक है। यह मानव के तीनों तथ्यों के कारणों को जानकार उससे उबरने का उपाय करता है।

उदाहरण के लिए यात्रा को लेते हैं। मानव को निज जीवन काल में विभिन्न कारणों से यात्राएँ करनी पड़ती हैं। तीर्थयात्रा, विदेशयात्रा, आजीविका हेतु यात्रा, साक्षात्कार हेतु यात्रा एवं व्यापारिक यात्रा।

यात्रा करने वाला चाहता है कि उसकी यात्रा सफल हो परन्तु कई बार ऐसा नहीं होता है। कभी धनहानि, कभी प्राणहानि, कभी रोगप्रकोप इत्यादि घटनाओं का सामना करना पड़ जाता है। इस स्थिति में यह शास्त्र यह बताता है कि यदि यात्री दिक्शूल, राहुकाल योगिनी, तथा चंद्रमाकि स्थिति को ध्यान में रखकर यात्रा करें तो न केवल इन आपदाओं से बचा जा सकता है, अपितु यात्रा द्वारा उदेश्य की पूर्ति भी होती है। यदि ज्योतिष का ज्यादा ज्ञान न हो तो एकमेव चंद्र को ही सामने रखकर यात्रा करें।

कहा गया है '*हरति सकल दोषं चंद्रमा सम्मुखस्थः*' ऐसा करने से यात्रा सफल होगी और लाभ भी होगा। 'जीवनरो भद्रशतानि पश्येत्' यह शास्त्र आयु घटाने वाले कारणों से बचने का परामर्श देता है। यथा–

षष्ठीषु तैलं पलमष्टमीषु
क्षौरक्रिया नैवचतुर्दशीषु।
स्त्रीसेवनम् नष्टकलासु पुंसाम्
आयुः क्षयार्थं मुनयो वदन्ति।।

सन्दर्भ –

1– वेदांगज्योतिष
2– निबंधार्श
3– नारद सहिंता
4– ज्योतिषतत्त्वविवेक पृष्ठ –172
5– वाल्मिकी रामायण–सुंदरकाण्ड
6– ज्योतिषतत्वाङ्क पष्ठ –173
7– पञ्चस्वरा
8– ज्योतिनिष्पादर्श, पृष्ठ–14
9– सारावली 2 /4
10– बृहत्संहिता 1/ 8
11– सूर्यसिद्धांत म. 92
12– पीयूषधारा महर्षि गर्ग
13– वेदांग ज्योतिष

ISSN 2278 - 0327

प्राकृतिक आपदा एवं ज्योतिषशास्त्र

तपति तपन्विता महापात्र
शोधच्छात्रा, ज्योतिषविभाग
केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय,
भोपाल परिसर, भोपाल
tapti100.mohapatra@gmail.com

ज्योतिषशास्त्र का उपयोग मानव तथा सभ्यता के आरम्भ होने के बाद से जीवन के सभी सामान्य पहलूओं से सम्बन्धित घटनाओं को समझने और अनुमानित करने के लिए किया जाता है। ज्योतिषशास्त्र सबसे पुराना अध्ययन है, जो ब्रह्माण्ड पर प्रकाश डालता है और तारों तथा ग्रहों की अदम्य दुनिया को जानने का एकमात्र माध्यम है। ग्रह, नक्षत्र और खगोलीय पिण्डों का अध्ययन करने के विषय को ज्योतिष कहा जाता है। ज्योतिषशास्त्र को वेद के षडङ्गों में नेत्ररूप में माना जाता है। इस शास्त्र में सिद्धान्त, संहिता एवं होरा नामक तीन स्कन्ध हैं।

ज्योतिषशास्त्र में विभिन्न विषय में विचार तथा तर्क दिया गया है। समग्र मनुष्य एवं प्राणी जगत् के ऊपर ज्योतिषशास्त्र का तथा ग्रह-नक्षत्रों का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। जो कि ज्योतिषशास्त्र के संहितास्कन्ध में प्रतिपादित है। संसार में होने वाली प्राकृतिक आपदाएँ एवं उत्पातों का वर्णन संहितास्कन्ध में सम्यक्तया विवेचित है।

दिव्य, अन्तरिक्ष एवं भौम नामक तीन प्रकार के उत्पात होते हैं। ग्रह-नक्षत्रों के चलनवशात् उत्पातों का फल प्राणीजगत् के ऊपर रहता है। महर्षि गर्ग के अनुसार यदि ग्रह और नक्षत्रों के विकार होने से दिव्य, उल्का, निर्घात, विकारयुत वायु, सूर्य-चन्द्र के परिवेष आदि से हुए उत्पातों का नाम अन्तरिक्ष, चलायमान वस्तु के लिए स्थिर तथा स्थिर के लिए चलायमान होने का नाम भौम उत्पात हैं। उत्पात अर्थात् प्रकृति में होने वाली विनाशकारी घटनाएँ, जैसे - भूकम्प, दुर्भिक्ष, उल्कापात, देशनाश इत्यादि। ग्रह नक्षत्रों के आधार पर प्राचीन आचार्यों ने विभिन्न उत्पातों का वर्णन अनेक ग्रन्थों में किया है।

उपातों का वर्णन एवं फल -

मनुष्यों के अविनय से उत्पात उत्पन्न होते हैं । यथा -

दुर्भिक्ष का ज्ञान - सूर्य के अवस्थिति के विचार से यदि सूर्य मेष, वृष और कर्क राशि के आधे भाग अर्थात् इन राशियों में जब 15 अंश के आसपास हो उस स्थिति में उत्पात होने पर दक्षिण में युद्ध होता है तथा प्रजा भूख और दु:ख से पीड़ित होती है । यथा -

मेषे वृषे कुलीरार्द्धेयदोत्पाता भवन्ति हि।
दक्षिणस्यां तदा युद्धं प्रजाक्षुद्दु:खपीडिता॥[1]

मिथुन राशि पर सूर्य के रहने से अन्ननाश, विन्ध्य, सिंहल देश में भय एवं कन्याराशि पर रहने से कान्यकुब्ज देश में कष्ट उत्पन्न होता है।

तुलाराशि पर सूर्य हो तो अकाल एवं वृश्चिक और मकर के सूर्य नर्मदा के तट पर अकाल का संकेत होता है ।

उल्कापात का वर्ण तथा फल -

स्वर्ग में शुभफल भोगकर गिरते हुए प्राणियों का स्वरूप उल्का होता है । इसका प्रमाण बृहत्संहिता नामक ग्रन्थ में प्रतिपादित है। यथा -

दिविभुक्तशुभफलानां पततां रूपाणि यानि तान्युता:॥[2]

गर्गादि आचार्यों के मत में लोकपाल लोगों की परीक्षा करके शुभाशुभ फल के ज्ञान के लिए अस्त्रों को छोड़ते हैं, उसी का नाम उल्का है।

स्वास्त्रणि संसृजन्येते शुभाशुभनिवेदिन:।
लोकपाला महात्मानो लोकानां ज्वलितानि तु॥[3]

उल्का का लक्षण और भेद -

मुख्यत: उल्का विशाल शिर वाली, पुरुष के प्रमाण

लम्बी और गिरती हुई बढ़ती है। यथा –

उल्काग्रतो विशाला बहुप्रकारा पुरुषमात्रा॥[4]

उल्का के अनेक भेद होते हैं, मुख्यरूप से उल्का पापफल प्रदान करता है। कुछ आचार्यों के मत में ध्वज, मत्स्य, हाथी, पर्वत, कमल, घोड़ा, श्रीवृक्ष, वज्र, शंख, या स्वस्तिक रूप वाली उल्का कुशलता और सुभिक्ष को प्रदान करते हैं।

सूर्य–चन्द्र को स्पर्श करती हुई उल्का अथवा सूर्य चन्द्र से निकल कर उल्का भूकम्प करती हुई गिरती है। यथा कहा है –

संस्पृशती चन्द्रार्कौ तिसृता वा भूकम्पा च।[5]

सूर्य से पाँचवे या सातवे में चन्द्र हो तथा सूर्य से छठवें में मंगल हो तो उल्कापात ओर दिग्दाह होता है ।

भूकम्प के लक्षण एवं फल –

भूकम्प के लक्षणों को लेकर आचार्यों में मतभेद मिलता है। काश्यप आदि आचार्यों का मत है कि जल में रहने वाले बड़े प्राणियों के धक्के से भूकम्प होता है। वशिष्ठ आदि आचार्यों का मत है कि वायु एक–दूसरे से टकराकर पृथिवी पर गिरते हुए शब्द के साथ भूकम्प करता है। दूसरे कुछ आचार्यों के मत में प्राजाओं के धर्माधर्म के द्वारा भूकम्प आता है।

भूकम्प के फल का काल –

भूकम्प का फल छ: महीने में एवं निर्घात का फल दो महिने में होता है। गर्गादि मुनियों का मत है, कि उल्कापात आदि अन्य उत्पातों का फल मण्डल के साथ ही होता है। आचार्य वराहमिहिर के मत में राहु से मंगल सातवें घर में, मंगल से बुध पाँचवें घर में चन्द्रमा बुध से चौथे घर में अथवा केन्द्र में हो तो भूकम्प होता है।

उपप्लवात् सप्तमगोमहीजो
महीसूतात् पद्यमगोयदाबुध:।
बुधाद्रिधु: स्याच्च चतुष्टये स्थित:
सचेहभूकम्पनयोग ईप्सित:।।[6]

उपरोक्त सभी घटनाएँ शास्त्र में उत्पात् के कारण को दर्शाते हैं जो कि समस्त प्राणीजगत् के ऊपर अपना दु:ष्परिणाम देता है। केवल राशि नक्षत्र क्रूर वार तथा तिथि के साथ योगकरण के संयोग से भूकम्प एवं अन्य प्राकृतिक आपदा के संयोग बनते हैं। जैसा कि कहा है–

प्रत्यक्षं ज्योतिषशास्त्रं चन्द्रार्कौ यत्र सक्षीणौ।[7]

अर्थात् ज्योतिषशास्त्र प्रत्यक्षशास्त्र होने के कारण समस्त प्राणी जगत शास्त्र की प्रत्यक्षता का प्रमाण अनुभव कर सकता है। आज के इस आधुनिक युग में जब विज्ञान ने चन्द्रमा सूर्य तथा ग्रहों के विषय में इतनी गहराई से जान लिया है, तब भी ज्योतिष की अपनी अलग पहचान कायम है। भारतीय ज्योतिषशास्त्र को विश्व के चुनिन्दा प्राचीन और विस्तृत ज्योतिषशास्त्रों के रूप में माना जाता है।

सन्दर्भ सूची –

1. नारदीय संहिता, तृतीय अध्याय
2. बृहत्संहिता, उल्कालक्षणाध्याय
3. बृहत्संहिता, उल्कालक्षणाध्याय
4. बृहत्संहिता, उल्कालक्षणाध्याय
5. बृहत्संहिता, उल्कालक्षणाध्याय
6. मयुरचित्रक, तृतीय अध्याय
7. वेदांग ज्योतिष

सन्दर्भग्रन्थ–

1. नारदसंहिता
2. बृहत्संहिता
3. मयूरचित्रम्
4. वेदांगज्योतिष
5. http://hindi.astrosage.com
6. https://ni.m.wikipedi.org
7. hindi.mpanchang.com

ISSN 2278 - 0327

आचार्य अभिराजराजेंद्र मिश्र प्रणीत प्रशान्तराघव नाटक में पशु-पक्षियों की गतिविधियों का सुंदर चित्रण

घनश्याम मीणा
(साहित्याचार्य)
शोधछात्र – साहित्यशास्त्र विभाग
केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, भोपाल परिसर

नाटककार आचार्य राजेन्द्र मिश्र जी ने अपने प्रशान्तराघव नाटक में जगह जगह पशु–पक्षियों की स्वाभाविक वर्णन किया हैं। नाटक के प्रारम्भ में भूमिका निर्माण के लिए विष्कम्भक द्वारा नृत्य गीत प्रस्तुत किया गया है। इस गीत के प्रथम पद में पक्षी जगत का वर्णन इस प्रकार हैं –

महिता समुज्ज्वला ज्योत्स्ना चिल्लिका चित्कारोति च
पिकी कुहुकुहुरावैः रौतिकस्मिन्नुवासरे
भ्रातृजाये स्फुरेन्नेत्रद्वयं कस्मिन्नुवासरे? [1]

यहाँ कोयल के कुहु–कुहु कुंजन का चित्रण किया गया है। यहाँ वातावरण बहुत सुखद है क्योंकि प्रशान्त वातावरण में ही कोयल कूँजती है। यहाँ ध्वन्यार्थ प्रतीत होता हैं कि वातावरण कब प्रशान्त होता हैं।

अन्यच्च–

निपितवन्ती शुकं सारी स्थिता यस्मिन्नुवासरे
गायति नैव गीतानि गणयत्यपि न सौह्रदय।। [2]

इसी प्रकार महर्षि वाल्मीकि के तपस्या काल में उनका शरीर कृमि पक्षियों के लिए आश्रय स्थल कैसे हुआ इसका वर्णन इस प्रकार है–

तत्सान्द्रासु जटासु पक्षिनिचयैनीडान्य ही चक्रिरे।
वाल्मीकैश्च कृतं गृहन्तु परितो नैकस्फुरद् भूमिकम्।। [3]

इस नाटक में वाल्मीकि के आश्रम की प्राकृतिक शांति का वर्णन पक्षियों की गतिविधियों के माध्यम से इस प्रकार किया हैं यथा –

तौर्यत्रिकं पथि कपोतयुवा विद्यते
प्रोड्डीय चुङ्कृतमुपार्च्छति नीलकण्ठः।
कारञ्जकुञ्जविनिगूढकलेवरोऽऽयं
पुंस्कोकिलोगमनमङ्गलमातनोति।। [4]

पक्षियों का हमारे जीवन में बहुत उपकार है कभी सीता के जीवन में भी सारिका का उपकार सामने आता है एक पंक्ति में वर्णन हैं–

ललिता या वराकी पञ्जरबद्धापि प्रोड्डीय राघवमात्र समानीतवती तद् वृतान्तमुखेन।

इस प्रकार प्रशान्तराघव नाटक में पक्षियों का प्रसङ्गानुकूल सुंदर चित्रण किया हैं।

पशुओं की गतिविधियों का वर्णन–

प्रशान्तराघव नाटक में उद्दण्ड युवक की उपमा के रूप में बैल का स्वाभाविक वर्णन कवि ने इस प्रकार किया हैं –

'सींगन माँ माटी लगाये साँड़ जस दिन भर लड़ै खातिर फिरण्ट धूमल।' [5]

यहां साँड का स्वभाव स्वाभाविकरूप से ग्राम्य भाषा में वर्णित हैं और इस ग्राम्य भाषा के कारण से मन में अधिक प्रभावशाली लगता है।

अन्य पशुपक्षियों का स्नेह भाव भी मनुष्यों की ही भांति कृतघ्न रूप में प्रकट हो सकता हैं किन्तु पशु स्वामिभक्त होते है। वह स्वामी के वियोग में भोजन भी ग्रहण नहीं करते हैं। इस प्रकार का वर्णन किया गया है। यथा –

सोत्कण्डाशुकसारिका पशवो नो भोजिताः साग्रहम्।। [6]

यहाँ वर्णन किया गया हैं कि श्रीराम प्रतिदिन अपने हाथों से पक्षियों के लिए, अपने पाले हुए पशुओं के लिए आदरपूर्वक भोजन देते थे किन्तु लोकापवाद के कारण से किंकर्तव्यविमूढ़ होकर महल से बाहर जाना पड़ा तब पशु–पक्षियों ने भी श्रीराम के बिना भोजन, अन्न जल आदि ग्रहण नहीं किया।

इसी प्रकार सायंकाल समय पशु-पक्षियों की स्वाभाविक क्रियाकलापों, ध्वनियों का सुंदर वर्णन द्वितीय अङ्क में इस प्रकार से है उसका अवलोकन करना चाहिए यथा-

पीयन्ते धूमलेखाः मधुरसुरभयः पादपस्कन्धनद्धै-
र्भल्लूकैवानरैश्च प्रकृतिकुतुकिभिः कल्कनानि क्रियन्ते।
गोभिर्हम्भारवाभिर्गहनतरुतले वत्सकाः क्षुत्तृषार्ताः
धावं धावं म्रियन्ते शिथिलपरिचयाः प्रस्नुतोर्ध्वस्तनीभिः।।[7]

पशु प्रसन्न भाव में अपने-अपने शब्दों में कुञ्जन करते हुए तथा पक्षी कलरव करते हुए अपने-अपने घोंसलों की तरफ लौटते हैं जैसे भूख प्यास से पीड़ित अपनी क्षुधा शांत कर वापस अपने घरों को लौटने को उत्सुक रहते हैं।

एक अन्य जगह वर्णन किया गया है कि संस्कारों की कमी के कारण पशु स्वार्थी होकर एकेले ही भक्षण करता रहता है दूसरों के विषय में बिल्कुल भी चिन्ता नहीं करता है। पास में आये अन्य पशुओं को ताडकर भगा देता हैं। यथा -

दृष्ट्वापि वत्समति रुढतृषं बुभुक्षुम्,
प्रोथप्लवज्जटिलफेन चयोपपन्नम्
संस्कारसंक्षयवशात् स्वपुरस्थभक्ष्य-
मश्नाति निःस्पृहतया स्वयमेव धेनुः।।[8]

यहाँ पशुओं के स्वार्थ भाव को चित्रित किया है। इसी प्रकार मानव भी संस्कार के अभाव में पशुतुल्य ही स्वार्थी हो जाता है। मानव के पशुतुल्य स्वभाव का अनेक विषयों के प्रति भाव के बारे में भर्तृहरि कहते हैं -

आहारनिद्राभयमैथुनञ्च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणां।
धर्मोहितेषामधिकोविशेषो धर्मेणहीनाः पशुभिः समानाः।।[9]

धर्म ही मनुष्य और पशुओं को अलग करता है, अन्य भाव तो पशुओं के समान ही मानवों में भी होते है किन्तु पशुओं को धर्माचरण का ज्ञान नहीं होता है। मानवों को धर्म का ज्ञान होता हैं।

इसी प्रकार वाल्मीकि के आश्रम का वर्णन है कि आश्रम के पशु कैसे होते हैं। आश्रम में तो गायें अनिवार्यतः होती ही हैं। गायों के बिना तो आश्रम भी आश्रम नहीं होता है। अतः वाल्मीकि के आश्रम का वर्णन इस प्रकार किया हैं। यथा -

कापोती कायशोभामिह दधतुदिशो यज्ञधूमप्रसारै-
र्ग्रष्टीनां रमय्यूथस्स्त्रुतधवलपयाराजतां सम्मुखीनः।
मांङ्गल्यान् वेदमन्त्रान् प्रवचनपटवस्सामगाव्याहरन्ता-
माशसन्तां कुमार्यो रघुपतिकुशलं पुष्पलाजाक्षतौघौः।।[10]

और भी -

उर्ध्वाऽधः क्षिप्रवेगप्रमथितपवनैः कम्पयन् वन्यवृक्ष-
नारावैर्धर्धराढ्यैः श्रुतिकुहुरचयान्स्फ फोटयन्नैव सद्यः।
संस्थानं श्वापदानामपरिचयवशाद् द्रावयन् भीमरूपो,
व्योम्यासन्नौ विभर्ति प्रथितगुरुगतिः पुष्पकोऽयं विमानं।।[11]

यहाँ विमान शब्द का प्रयोग पशु-पक्षियों की क्या स्थिति होती है, उसके वेग से वृक्ष और वनस्पतियों का कम्पायमान हो जाने की स्थिति का वर्णन किया हैं।

इस प्रकार से इस प्रशान्तराघव नाटक में पशु-पक्षियों के स्वभाव का सहज स्वाभाविक वर्णन किया हैं। कहीं-कहीं प्रसङ्ग के अनुकूल उपमा आदि के रूप में पशुओं की प्रवृत्ति का भी वर्णन किया हैं।

सन्दर्भसूची -

1. प्रशान्तराघवं प्रथम अङ्क नृत्यगीत 6 पृष्ठ 28
2. प्रशान्तराघवं प्रथम अङ्क नृत्यगीत 6 पृष्ठ 29
3. प्रशान्तराघवं पंचम अङ्क श्लोक 7 पृष्ठ 73
4. प्रशान्तराघवं षष्ठम अङ्क श्लोक 11 पृष्ठ 86
5. प्रशान्तराघवं प्रथम अङ्क पृष्ठ 30
6. प्रशान्तराघवं द्वितीय, अङ्क श्लोक 5, पृष्ठ 45
7. प्रशान्तराघवं द्वितीय अङ्क श्लोक 14 पृष्ठ 49
8. प्रशान्तराघवं पंचम अङ्क श्लोक 6 पृष्ठ 76
9. नीतिशतक भर्तहरि
10. प्रशान्तराघवं सप्तम अङ्क श्लोक 14
11. प्रशान्तराघवंसप्तमअङ्क पृष्ठ 91 श्लोक15

ISSN 2278 - 0327

श्रीहनुमच्चरित्रवाटिका महाकाव्य में प्रकृति चित्रण और पर्यावरण शिक्षा

दयाशंकर शर्मा
शोधछात्र, साहित्यविभाग
केन्द्रीय संस्कृत विश्वाविद्यालय, भोपाल

प्रस्तावना–

'माता भूमि: पुत्रोऽहं पृथिव्या:' [1] इस विचार से सभी प्राणी पृथ्वी के ही पुत्र हैं। पृथ्वी ही सभी की माता है। पृथ्वी मातृवत् सभी का पालन–पोषण करती है। प्रकृति की मनोरम छाया में ही मानव अपने सभी कार्यों को सम्पादित करता है। भूमि के द्वारा दिये गये अन्न से ही हमें कार्य करने की शक्ति प्राप्त होती है। भूमि का मधुर जल ही जीवन का आधार है। भूमि में उत्पन्न वृक्ष हमको शुद्ध वायु प्रदान करते हैं। वायु के बिना क्षणमात्र भी जीवन नही है। अत: निश्चित रूप से प्रकृति का अत्यधिक महत्त्व है। विना कुछ लिए प्रकृति अहर्निश परोपकार ही करती है। कहा भी गया है –

परोपकाराय फलन्ति वृक्षा: परोपकाराय वहन्ति नद्य:। [2]

मानवजीवन का प्रत्येक कार्य प्रकृति में ही सम्पादित होता है। अत: हम कह सकते हैं कि प्रकृति और मानव के मध्य अन्योन्याश्रय सम्बन्ध दिखाई देता है। प्रकृति को ही अन्य शब्दों में पर्यावरण भी कहते है। स्पष्ट शब्दों में हमारे चारों ओर स्थित वातावरण ही पर्यावरण है। स्वच्छ प्रकृति के सुमधुरवातावरण में मानवों का जीवन कलिका की तरह विकसित होता है। शरीर का उत्तम विकास भी स्वच्छ वातावरण में ही होता है। अत: पर्यावरण संरक्षण ही हम सभी का उत्तरदायित्व है क्योंकि जीवन के लिए स्वच्छ पर्यावरण नितान्त आवश्यक है। पर्यावरण शिक्षा एक साधन है जिसके द्वारा पर्यावरण संरक्षण के विषय में रुचि जागृत होती है। पर्यावरण शिक्षा पर्यावरण के विषय में पर्यावरण के लिए ही होती है। पर्यावरण शिक्षा प्रकृति के साथ अनुकूलता स्थापित करने में मदद करती है। वर्तमान में पर्यावरण शिक्षा की महती आवश्यकता है क्योंकि पर्यावरण की उपेक्षा से प्राकृतिक समस्याएँ प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। पर्यावरणशिक्षा के कुछ बिन्दुर ध्यातव्य है–

1. पर्यावरण के विषय में शिक्षा प्रदान करना।
2. पर्यावरणीय समस्याओं को रोकने हेतु जागरूकता और प्रयत्न।
3. पर्यावरणीय समस्याओं के विषय में चिन्तन प्रवृत्ति।
4. पर्यावरणीय समस्याओं के निवारण के लिए विविध कार्यक्रमों का आयोजन।

संस्कृत साहित्य में पर्यावरणशिक्षा –

विशाल संस्कृत साहित्य में यत्र–तत्र पर्यावरण शिक्षा कवियों के द्वारा प्रदान की गई है। वैदिक मन्त्र– *'द्यौ: शान्ति: अन्तरिक्ष शान्ति:'* में भी प्रकृति में सर्वत्र शान्ति के लिए मङ्गलकामना दिखाई देती है। पद्मपुराण के इस श्लोक में भी जलप्रदूषण का निषेध किया गया है।

मूत्रं वाऽथ पुरीषो वा, गङ्गातीरे करोति य:।
न दृष्टा निष्कृतिस्तस्य कल्पकौटि: शतैरपि।। [3]

दशम कक्षा के पाठ न्यग्रोधवृक्ष के माध्यम से भी पर्यावरण शिक्षा प्रदान की गई है । प्रकृति सर्वदा स्वकर्तव्य नि:स्वार्थ भाव से निर्वहन करती है। संस्कृत साहित्य में सर्वत्र पर्यावरण शिक्षा की चर्चा की गई है। संस्कृत साहित्य के महाकाव्य श्रीहनुमच्चरित्रवाटिका में भी प्रकृति की मनोरम छटा दिखाई देती है यहाँ कवि श्रीहरिहरानन्द ने नदी, वन, पर्वतों का मधुर वर्णन करते हुए प्रकृति का स्वच्छ स्वरूप बतलाया है, जिसके माध्यम से सहृदय आनन्दर के साध पर्यावरण शिक्षा भी ग्रहण करता है। श्रीहनुमच्चरित्रवाटिका में कुछ पद्यों को देखते है–

हिमालय का वर्णन –

सुवर्णकरणी विशल्यकरणी च सञ्जीवनी

गिरेः शिरसि सन्ति हे पवनपुत्र सन्धान्यपि।
चतुष्कमद आनयातिजवतो हनूमँस्त्वरः
समस्तदलजीविनो भव रणे त्वमेव क्षमः।[4]

प्रस्तुत पद्य में कवि ने हिमालय पर प्राप्त होने वाली चार दुर्लभ औषधियों का वर्णन किया है। जिनका नाम सुवर्णकरणी विशल्यकरणी सन्धानि मृतसञ्जीवनी है। हिमालय पर्वत की तरह ही अरण्योणं से भी कई प्रकार की औषधियाँ प्राप्त होती है। जिनसे रोगों को शीघ्रता से दूर किया जा सकता है। अतः यहा पर पर्यावरण सरंक्षण की शिक्षा भी हमें प्राप्त होती है।

नदी के शुद्ध जल का वर्णन

वन्याानि पक्वानि फलानि खादन्
पिबन्विशुद्धं सरितो जलञ्च।
आस्वावदयनमारूतिसङ्गमञ्च
कथं न धन्योधऽस्ति स भाग्यशाली।।[5]

प्रस्तुत पद्य में कवि कहते हैं कि हनुमान् जी के साथ भ्रमण करते हुए नदी का शुद्ध जल पीने वाले वनों के मधुर फलों को खाने वाले जो वानर है वे धन्य हैं भाग्यशाली हैं। इस पद्य में कवि ने नदी के शुद्ध जल का वर्णन तथा वनों के मधुर मीठे फलों का वर्णन करते हुए इनका महत्व प्रतिपादित किया है ।

प्रकृति का वर्णन -

वर्षाभूद्विगता घनैर्विरहितं भात्याम्बरं स्नाफतवन्
मर्यादासु जलाशयाश्च सरितश्चांयान्ति सर्वे श्रृणु।
ज्योत्स्नाजयां धवलीकृतं प्रभवति क्षमामण्डलं रात्रिषु
मार्गाणामवरूद्धता कपिपते प्रायः समाप्ताऽभवत्।।[6]

प्रस्तुत पद्य में कवि ने प्रकृति का स्वच्छ वर्णन किया है वर्षाऋतु के बाद जिस तरह भूमि स्वच्छ शीतल दिखाई देती है उसी तरह सर्वदा प्रकृति स्वच्छ रहे यही शिक्षा यहाँ पर प्रदान की गई है।

उद्यान का वर्णन-

विविधतरूभिरासीद्वाटिका सा समृद्धा
रघुपतिदयिताऽऽसीत्संस्थिता यत्र सीता।
सुललितरचनायां भव्यतायां वरिष्ठा
न्यलवसदिह वसन्ततः सर्वदैव प्रलुब्धः।।[7]

इस पद्य में रावण की नगरी लंका में स्थित सुन्दर उद्यान अशोक-वाटिका का वर्णन किया गया है। वह सुन्दर वाटिका विविध वृक्षों से शोभायमान थी। उस वाटिका में मन्द-मन्द सुगन्ध युक्त वायु चलती थी। इस पद्य के अध्ययन से पता चलता है कि उस समय भी पर्यावरण संरक्षण का विशिष्ट महत्त्व था। वृक्ष उद्यान नदी पर्वत भूमि वन प्रान्त प्रकृति का ही स्वरूप है। पर्यावरणीय शिक्षा से ही हमें इनके सही संरक्षण के विषय में ज्ञात हो सकता है। श्रीहनुमच्चरित्रवाटिकामहाकाव्य में यत्र-तत्र पद्यों में पर्यावरणीय शिक्षा प्रदान की गई है सभी का वर्णन यहा समुचित नहीं है।

निष्कर्ष -

निष्कर्ष रूप से पर्यावरण शिक्षा का अत्यधिक महत्व है। स्वच्छ वातावरण का निर्माण ही पर्यावरण शिक्षा का प्रमुख उदेश्य है। अतः पर्यावरण के प्रति जो हमारे कर्तव्य हैं हमें उनका अवश्य पालन करना चाहिए।

सन्दर्भसूची-

1. अथर्ववेद12/1/12
2. सुभाषितरत्नकोष
3. पदमपुराणम्
4. श्रीहनुमच्चरित्रवाटिकामहाकाव्य 6/5/13
5. श्रीहनुमच्चरित्रवाटिकामहाकाव्य 2/6/2
6. श्रीहनुमच्चरित्रवाटिकामहाकाव्य 2/9/10
7. श्रीहनुमच्चरित्रवाटिकामहाकाव्य 4/4/9

सन्दर्भग्रन्थ -

1. श्रीमद्भगवदगीता
2. पद्मपुराण
3. यजुर्वेद
4. अथर्ववेद
5. पतंजलियोगदर्शन
6. श्रीहनुमच्चरित्रवाटिकामहाकाव्य